श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

नियमसार

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव रचित संस्कृत व्याख्या

और

श्री ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी कृत
हिन्दी भाषा टीका सहित

卐

प्रकाशक

श्री ला० फूल चन्द जी जैन कागजी
धर्मपुरा दिल्ली–६

द्वितीयावृत्ति } वीर निर्वाण सं० २४६८ { सदुपयोग

दो शब्द

श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्य जी के पंचास्तिकाय प्रवचन सार और समयसार ये तीन हो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के समान यह नियमसार ग्रंथ भी बहुत उपयोगी और प्रामाणिक ग्रथ है। परन्तु इस ग्रथ रत्न को प्रसिद्धि इतनी कम है कि बहुत से लोग तो इसका नाम भी नहीं जानते हैं। हमारे लाला फूलचन्द जी कागजी धर्मपुरा दिल्ली वालों के मन में कुछ दिनों से किसी अप्राप्य और अमूल्य ग्रंथ को प्रकाशित करने की हार्दिक अभिलाषा थी, सौभाग्य से उन्हीं दिनों परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ति १०८ आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज का संघ सहित दिल्ली में शुभागमन हुआ और महाराज श्री के सदुपदेश से लाला जी की यह इच्छा और भी प्रबल हो गई आपने महाराज श्री के चरणो में ग्रथ प्रकाशन के लिये आज्ञा चाही, आचार्य श्री ने प्रस्तुत श्री नियमसार ग्रंथ का पुन: प्रकाशन करवाने की सलाह दी। यह ग्रथ आध्यात्मिक रस का समूह और अभेद रत्नत्रय स्वरूप साक्षात् स्वात्मानुभवमय मोक्ष मार्ग का प्रकाशक है। इसमें पहले व्यवहार रत्नत्रय का और फिर निश्चय रत्नत्रय का मुख्यनया मुनि के प्रतिक्रमण, प्रायश्चितादि षट कर्म्मो का स्वरूप बड़ी ही निपुणता से कहा गया है। अत: यह ग्रथ त्यागी मुनि श्रावक सबके कल्याण का मार्ग दर्शक है।

हमारी बहुत कोशिश करने के बावजूद भी कहीं से हमें ग्रंथ की सम्पूर्ण प्रतिलिपि नहीं प्राप्त हो सकी जो प्रतियाँ मिलीं वे अत्यन्त जीर्ण शीर्ण अवस्था में थीं। अतः अशुद्धि रह जाना संभव है।

मैं विद्वज्जनों से प्रार्थना करता हूं कि वे उसे शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें। मैं ला० फूल चन्द जी कागजी का अत्यन्त आभारी हूं जिन्होंने इस ग्रंथ का प्रकाशन कराकर श्री जिनवाणी का प्रचार किया है।

प्रेमचन्द जैन

दिल्ली अनत चतुर्दशी
२४६८

— विषय सूची —

जीवाधिकार ।।१।।

अजीवाधिकार ।।२।।

शुद्ध भावाधिकार ॥३॥

व्यवहार चारित्राधिकार ॥४॥

निश्चय प्रतिक्रमणाधिकार ॥५॥

निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार ॥६॥

निश्चय लोचनाधिकार ॥७॥

निश्चय प्रायश्चित्ताधिकार ॥८॥

परम समाधि अधिकार ॥९॥

परम भक्त्याधिकार ॥१०॥

निश्चयावश्यकाधिकार ॥११॥

शुद्धोपयोगाधिकार ॥१२॥

सपरिवार ला० फूलचन्द जी कागजी

श्रीमति शकुन्तला देवी धर्मपत्नी श्री मक्खन लाल जी जैन
35 रामनगर, नई दिल्ली

ओ३म् नमः शुद्धस्वरूपाय

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

नियमसारः

श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचित तात्पर्यवृत्तिसहितः ।

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान् ।
कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम् ?

सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा ।
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा ॥

वाचं वांचयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनाम् ।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं ।
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम् ।

शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे ।
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दि व्रतीन्द्रम् ॥

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः ।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञकाम् ॥

किं च—

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम् ।
परमागमार्थसार्थं वक्तुममुं के वयं मन्दाः ॥

अपि च—

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरिततानि पुनः पुनः ।
परमागमसारस्य रुच्या मांसलयाऽधुना ।

पंचास्तिकायषड् द्रव्य सप्त तत्त्वनवार्थकाः ।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्व्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः ॥

अलमलमतिविस्तरेण स्वस्ति साक्षादस्मै विवरणाय ।

अत्र सूत्रावतारः—

अथात्र जिनं नत्वेत्यनेन शास्त्रस्यादावसाधारणं मंगलमभिहितं ।

संस्कृत टीका के मंगलाचरण का भावार्थ—

हे परमात्मन्, आपके होते मैं किस प्रकार से मेरे ही ऐसे अर्थात् संसारी जीवों के सदृश जो मोह में मुग्ध और काम देव के आधीन है ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध देवों को भज सकता हूं, इसलिये मैं जिनेन्द्र सूर्य को नमस्कार करता हूं। कैसे हैं प्रभु ?—जिन्होंने संसार को जीत लिया है जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, वाणी के स्वामी हैं तथा आनन्द रूप हैं मैं ऐसी जिनवाणी को नमस्कार करता हूं। जो वाणी श्रीमुनीश्वरों के इन्द्र ऐसे श्रीजिनेन्द्र के मुख कमल से प्रगट हुई है तथा निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा जिसमें वाच्य जो पदार्थ तिनके पूर्ण स्वरूप का कथन किया गया है। मैं सिद्धान्त समुद्र के पारगामी पवित्र सिद्धान्त रूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी के पति श्री

सिद्धसेन को, तर्करूपी कमल के प्रफुल्लित करने को सूर्य के समान श्रीमद्भट्टाकलंक देव को, शब्द समुद्र के वृद्धि के लिए चन्द्रमा के समान श्री पूज्यपाद स्वामी को तथा विद्या के पार-गामी महाव्रतियों में इन्द्र के समान ऐसे श्रीवीरनन्दि आचार्य को नमस्कार करता हूं। मैं भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में लगाने के लिए तथा अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए इस नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्य वृत्ति नामकी वृत्ति करूंगा। यह परमागम गुण के धारी श्रीगणधर देवों से रचा गया है सो ही श्रुत के धारियों की परिपाटी द्वारा प्रगट किया गया है, ऐसे परमागम के अर्थ के कहने को मैं मन्दबुद्धि कैसे समर्थ हो सकता हूं? तथापि इस परमागम सार की पुष्ट रुचि जो मेरे मन में उत्पन्न हुई है उसी ने मुझ को बारम्बार प्रेरणा की है।

पूर्व में सूत्रकर्ता ने पंचास्तिकाय, षट्, द्रव्य, सात तत्व, और नव पदार्थों का तथा प्रत्याख्यानादि सत् क्रियाओं का वर्णन किया है। अब अधिक विस्तार न करके मूल ग्रन्थ का विवरण करते हैं।

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलि सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

मत्वा जिनं वीरं अनन्तवज्ञानदर्शनस्वभावम्।
वक्ष्यामि नियमसारं केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

नरवेरत्यादि-अनेकजन्माटवीं प्रापणहेतून् समस्तमोहरागद्वेषा-दीन् जयतीति जिनः। वीरो विक्रान्तः, वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीरः-श्री वर्द्धमान

सन्मतिनाथ-महतिमहावीराभिधानैः सनाथः-परमेश्वरो महादेवाधिदेवः पश्चिमतीर्थनाथः त्रिभुवनसचराचरद्रव्यगतिपर्यायोक्त समयपरिच्छित्तिसमर्थः सकल विमल केवलज्ञानदर्शनाभ्यां युक्तो यस्तं प्रणम्य वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः। कं, नियमसारं, नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शनचारित्रेषु वर्तते, नियमस्य सार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्। किं विशिष्टं, केवलिश्रुतकेवलिभणितं केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः, श्रुतकेवलिनः सकलद्रव्यश्रुतधरास्तैः केवलिभिश्रुतकेवलिभश्च भणितं सकलव्यनिकुरम्बहितकर नियमासाराभिधानं परमागमं वक्ष्यामीति शिष्टेष्टदेवतास्तवनांतरं सूत्रकृता पूर्वसूरिणा श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवगुरुणा प्रतिज्ञातम् इति सर्वपदानां तात्पर्यमुक्तम्।

जयति जगति वीरः शुद्ध भावस्तमारः।
त्रिभुवन जन पूज्यः पूर्ण बोधैक राज्यः॥
नत दिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रु बीजः।
समवसृति निवासः केवल श्री निवासः॥

मोक्षमार्गतत्फल स्वरूपनिरूपणोपन्या सो ऽयम्—

शास्त्र की आदि में कर्ता ने असाधारण मंगल किया है। मंगल उसको कहते है जो पाप कोगलावे और सुख को देवे। असाधारण मंगल से यह प्रयोजन हैं, कि यह मंगल साधारण नहीं है, किन्तु विशेष है इस मंगल में ही यह शक्ति है जो जीवात्मा के अनादि कर्ममल पाप को धोकर इस जीव को निज स्वरूपानंदी सुख प्राप्त करा सकता है इसीलिये यह असाधारण मंगल है।

सामान्य अर्थ-मैं कुंदकुंदाचार्य अनंत केवल ज्ञान दर्शन स्वभाव के धारी ऐसे श्रीवीर जिनेन्द्र को नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियों से कहे हुये ऐसे नियमसार परमागम को कहूंगा यह प्रतिज्ञा करता हूं।

विशेष अर्थ— अनेक संसार के जन्मरूपी वन में भ्रमण कराने के कारण जो समस्त राग, द्वेष, मोह आदिक विभाव भाव को जो जीतता है उसका नाम जिन है। वीरयते अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जो परास्त करता है वह वीर है। चौबीसवें तीर्थंकर के पाँच नाम प्रसिद्ध हैं— श्री वर्द्धमान, सन्मतिनाथ, अतिवीर, महावीर और वीर। ऐसे श्री वर्द्धमान जिन ही परमेश्वर महादेवाधिदेव है। जो अपने निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन से पूर्ण होकर तीन लोक के चल-अचल पदार्थों की समस्त पर्यायों के जानने को समर्थ हैं। यहां आचार्य ने यह प्रगट किया है कि जो सर्वदर्शी सर्वज्ञ और वीतराग है वही आगम का स्वामी सत्यवक्ता आप्त हो सकता है। उसी को ही आगम के व्याख्यारूप कार्य के प्रारम्भ में नमस्कार करना युक्त है। क्योंकि जो अल्पज्ञ और किसी प्रकार के भी राग और द्वेष को धरने वाला होगा वह कदापि सत्यार्थ कल्याणकारी उपदेश नहीं दे सकता। परम हितोपदेशीपना उस परम औदारिक शरीर के धारी अर्हन्त देव में ही हो सकता है जो जीव मुक्त अवस्था में भाव मुक्ति को प्राप्त कर सर्वज्ञ और वीतराग गुण से विभूषित है, जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, स्वेद, खेद, मद, चिन्ता, रति, अरति और निद्रा ऐसे अठारह दोष नहीं है। ऐसे आप्त को नमस्कार करने से

आचार्य ने यह दर्शाया है कि उपासकों को योग्य है कि ऐसे अर्हन्त को ही आप्त, देव पूज्य माननीय सकल परमात्मा परम सुखी और दर्शन वंदन योग्य समझें। नियमसार से प्रयोजन यह है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप जो नियम उसका सार जो शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप आत्मा तिसका व्याख्यान करूंगा। यह आचार्य की प्रतिज्ञा है।

कैसा है नियमसार ? जिसको सकल प्रत्यक्ष केवल ज्ञान के धारी और समस्त द्वादशांग रूप द्रव्य श्रुत के कहने से पारगामी ऐसे श्रुतकेवली कह चुके हैं इस वाक्य से आचार्य ने यह दर्शाया है कि मैं जिस परमात्मा को कहूंगा, वह अपनी मनोक्ति से नहीं कहूंगा, किन्तु जैसा मेरे गुरुदेव ने प्ररूपण किया है उसी के अनुसार कहूंगा। यह निममसार परमागम समस्त भव्य जीवों के समूहों का हितकारी है। इस तरह श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने अपने इष्ट देवता की स्तुति करके प्रतिज्ञा की है।

टीकाकार कहते हैं कि इस जग में श्री महावीर स्वामी जयवन्त हो कैसे हैं स्वामी ? जिन्होंने अपने शुद्ध भावों के द्वारा कामदेव का नाश किया है, जो तीन लोक के मनुष्य मेंपूज्य है, जिनके पास पूर्ण ज्ञान का एक राज्य है, जिनको देवों के समान नमन करते है, जिन्होंने संसार वृक्ष के बीज राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, जो केवल ज्ञान दर्शनादि लक्ष्मी के निवास है तथा जो समवशरण में विरजमान है।

मोक्ष मार्गतत्फलस्वरूप निरूपणोपन्यासोऽयम् :—

\+ \+ \+

मग्गो मग्ग फलंति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्ख उवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥ २ ॥

मार्गो मार्गफलमिति द्विविधं जिनशासने समाख्यातम् ।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥ २ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इति वचनात् । मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं, मार्गफलमपुनर्भवपुरन्ध्रिकास्थूलभालस्थलशासनलीलालंकारतिलकता । द्विविधं किलैवं परमवीतरागसर्वज्ञ चतुर्थज्ञानधारिभिः पूर्वसूरिभिः समाख्यातं । परमनिरपेक्षतया निज परमात्मतत्वसम्यक श्रद्धान परिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मक मार्गो मोक्षोपायः । तस्य शुद्ध रत्नत्रयस्य फलं स्वात्मोपलब्धिरिति—

क्वचिद्व्रजति कामिनीरतिसमुत्पन्नसौख्यं जनः ।
क्वचिद्द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः ॥
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्यः यः पंडितो ।
निजात्मनि रतो भवेद्व्रजति मुक्तिमेतां हि सः ॥

अत्र नियमशब्दस्य सारत्व प्रतिपादनद्वारेण स्वभावरत्नत्रयस्वरूप मुक्तम् :—

आगे मोक्ष मार्ग और उसका फल वर्णन करते है—

सामान्य अर्थ—जिन शासन में मार्ग और मार्ग का फल ऐसे दो भेद है, जिनमें मोक्ष प्राप्ति का उपाय सो तो मार्ग है, और निर्वाण की प्राप्ति उस मार्ग के सधने का फल है ।

विशेष अर्थ—यहाँ पर मार्ग से प्रयोजन शुद्ध रत्नत्रय से है, जिसका फल मोक्ष रूपी स्त्री के स्थूल भाल पर लीला सहित अलंकार रूप तिलकपने की प्राप्ति है अर्थात् मोक्ष का बरना

है। जिन शासन से प्रयोजन उस उपदेश से है जिसको परम वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने तथा चार ज्ञान के धारी गणधरादि पूर्वाचार्यों ने कहा है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता मोक्ष मार्ग है। कैसा है मोक्ष मार्ग; जो परम निरपेक्ष निश्चय नय के द्वारा निज शुद्ध परमात्म तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और अनुभव स्वरूप शुद्ध रत्नत्रयमय है। इस मार्ग के मनन और सेवन से जो निर्वाण फल प्राप्त होता है वह अपने आत्म स्वरूप की सम्पूर्णतया प्राप्ति रूप है।

भावार्थ–निर्वाण को आत्मा की नास्ति की तथा शून्य अवस्था को कहने वालों के निरवाकरण के अर्थ यह विवेचन है कि निर्वाण प्राप्त होने से इस आत्मा को अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। जब कर्मों के पर्दे दूर हो जाते हैं तब वह आत्मा स्वयं परमात्मा हो जाता है और अपनी सत्ता में स्थिर रह कर के अपने अनिइन्द्रिय परम स्वादमय स्वभाव को अनन्त काल भोगता रहता है। यहाँ टीकाकार कहते है कि यह संसारी जन कहीं तो स्त्री की रति से उत्पन्न सुख की तरफ चला जाता है, कहीं द्रव्य की रक्षा में अपनी बुद्धि को कर लेता है। परन्तु जो बुद्धिमान पुरुष है सो जिनेन्द्र के धर्म का लाभ कर अपने आत्म स्वरूप में रत होता है। ऐसा ही ज्ञानी इस मुक्ति अवस्था को प्राप्त होता है।

णियमेण यजं कज्जं तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं ॥३॥

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्रम्।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम्। ३।

यः सहजपरमपारिणामिकभावस्थितः स्वभावनन्तचतुष्टयात्मकः शुद्धज्ञानचेतनापरिणामः स नियमः । नियमेन च निश्चयेन यत्कार्यं प्रयोजन स्वरूपं ज्ञानदर्शनचारित्रं यावत् तावत् तेषु त्रिषु परद्रव्यनिरवलंबत्वेन निःशेषनान्तर्मुखयोगशक्तेः सकाशात् निजपरमतत्वपरिज्ञानम् उपादेयं भवति । दर्शनमपि-भगवत्परमात्मसुखाभिलाषिणो जीवस्य शुद्धान्तस्तत्वविलासजन्मभूमिस्थान निजशुद्ध जीवास्तिकायसमुप जनित परवश्रद्धानमेवभवति । चारित्रमपिनिश्चज्ञानदर्शनात्मककारणपरमात्मनि अविचलस्थिति रेव । अस्य तु नियमशब्दस्य निर्वाणकारणस्क विपरीतपरिहारार्थत्वेन सारमिति भणितं भवति ।

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम् ।
अपुनर्भवभामिन्या समुद्भवमनंगशं यामि ॥

आगे नियम शब्द के साथ सार का सम्बन्ध क्यों किया है, इसका प्रयोजन कहते है :—

सामान्य अर्थ—नियम करके जो करने योग्य हो सो नियम है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही नियम है इससे विरुद्ध कोई नियम नहीं है । इसीलिये निश्चय करके सार ऐसा वचन कहा गया है।

विशेषार्थ—इस गाथा में नियम शब्द के सारपना दिखलाने के लिए स्वभाव रत्नत्रय का स्वरूप कहा है । जो सहज् स्वाभाविक अपने उत्कृष्ट पारिणामिक भाव में ठहरा है, जो स्वभाव से अनन्त दर्शन, ज्ञान सुख वीर्य रूप ऐसे अनन्त चतुष्टय स्वरूप है तथा शुद्ध चेतना का परिणाम है, सोनियम है । नियम अर्थात् निश्चय करके जो प्रयोजन भूत करने योग्य कार्य है

यह दर्शन ज्ञान चारित्र है। इसका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि भगवान परमात्मा के अतीन्द्रिय सुख की रुचि करने वाले जीव में शुद्ध अंतरंग में आत्मीक तत्त्व के आनन्द के उपजने का स्थान अपने शुद्ध जीवास्तिकाय का जो परम श्रिद्धान दृढ़ प्रतीति, सम्यक् निश्चय है सो ही दर्शन है पर द्रव्य का अवलम्बन न करके अन्तरंग में अपना उपयोग रखकर योग शक्ति की निकटता से अपने ही आत्मिक परम तत्व का ऐसा ज्ञान कि यही उपादेय-ग्रहण करने योग्य है सो ही ज्ञान है तथा निश्चय दर्शन ज्ञानमय कारण परमात्मा के स्वरूप मे अविचल अर्थात दृढ़ता के साथ मे लवलीन या तन्मय हो जाना ही चारित्र है। ऐसे निजात्म तत्व की सम्यक् रुचि उसी का यथार्थ ज्ञान तथा उसी में एक रूप से स्थिर हो जाना ही नियम है। ये ही नियम निर्वाण पद का कारण है। कारण सदृश्य ही कार्य होता है। स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास ही वास्तव मे अनन्त काल तक स्वरूप मे स्थिर रह जाने का उपाय है। यही सार उत्तम उत्कृष्ट करने योग्य उपाय है। इसके सिवाय सर्व असार है, विपरीत है, हेय (त्यागने योग्य) है। इससे उल्टा स्वरूप असार है, इस बात के बताने के लिए सार पद को नियम के साथ रखने का प्रयोजन है इस प्रकार नियमसार शब्द की सार्थकता वर्णन की। यहाँ टीकाकार कहते हैं कि मैं विपरीत स्वरूप से रहित अनुपम सर्व श्रेष्ठ रत्नत्रय स्वरूप को प्राप्त करके मुक्ति रूपी स्त्री से उत्पन्न जो अतीन्द्रिय आनन्द विलास तिसको प्राप्त करता हूं।

णियमं मोक्ख उवायो, तस्सफलं हवति परम णिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पिय, पत्तेय परूवणा होई ॥ ४ ॥

नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम्।
एतेषां त्रयाणामपि च प्रत्येकप्ररूपणा भवति ॥ ५ ॥

मोक्षः साक्षादखिलकर्मप्रध्वंसनेनासादितमहानन्दलाभः पूर्वोक्तनिरूपचाररत्नत्रयपरिणतिस्तस्य महानन्दस्योपायः। अपि चैषांज्ञानदर्शनचारित्राणांत्रयाणां प्रत्येकप्ररूपणा भवति। कथमिदं ज्ञान, - मिदंदर्शन, - मिदं चारित्रमित्यनेन विकल्पेन। दर्शनज्ञानचारित्रणां लक्षणं वक्ष्यमाणसूत्रेषु ज्ञातव्यं भवति।

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा
स्वात्मज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्यापि नैव।
शीलं तावन्न भवति परंमोक्तृभिः प्रोक्तमेतत्-
बुद्धा जन्तुर्नपुनरुदरं याति मातुः स भव्यः॥

आगे कहते हैं कि रत्नत्रय का भेद करके लक्षण करना युक्त है —

सामान्य अर्थ— मोक्ष का जो उपाय है सो नियम है और इस नियम को धारने का फल परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है नियम सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप है, इसलिए इन तीनों का भी प्रकट अलग २ वर्णन आगे के सूत्रों मे किया जायेगा।

विशेष अर्थ— अनादि तथा सादि काल से संसारी आत्मा के साथ लगे हुए समस्त कर्मों के छूट जाने से जो महा

निरुपम अविनाशी अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है वही सदा आनन्द स्वरुप परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। तथा आत्मा की अभेद रत्नत्रय रूप जो परिणति है सोई इस महानंद के प्राप्ति का उपाय है। परन्तु इस अभेद रत्नत्रय का स्वरूप भेद रत्नत्रय के जाने बिना अपने अनुभव में नहीं आ सकता। इसी लिए आचार्य दर्शन ज्ञान चारित्र को भिन्न भिन्न प्रतिपादन करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

व्यवहारसम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत:—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो॥ ५॥

आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम्।
व्यपगताशेषदोष: सकलगुणात्मा भवेदाप्त:॥ ५॥

आप्त: शङ्कारहित:। शङ्का हि सकलमोहरागद्वेषादय:। आगम: तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्ष: चतुरवचनसंदर्भ:। तत्वानि बहिस्तत्वान्तस्तत्वपरमात्मतत्त्वभेद-भिन्नानि अथवा जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाणां भेदा-त्सप्तधा भवन्ति। तेषां सम्यक्श्रद्धानं व्यवहारसम्यक्त्वमिति।

भवभयभेदिनि भगवति भवत: किं भक्तिरत्र न समस्ति
तर्हि भावाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवति॥

आगे व्यवहारसम्यग्दर्शन को कहते हैं:—

सामान्य अर्थ—आप्त अर्थात् आगम के ईश देव, आगम अर्थात् जिनवाणी, तथा आगम में वर्णन किए हुए तत्व इन

तीनों के श्रद्धान करने से व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। तथा आप्त वही है जो सम्पूर्ण दोषों से रहित और सम्पूर्ण गुणमय है।

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि मुनियों के लिए शुद्ध रत्नत्रय-स्वरूप अपने ही आत्मा का होना मोक्ष का उपाय है, अन्य न तो कोई दर्शन है न ज्ञान है और न चारित्र है। ऐसा ही संसार से मुक्त श्री अरहत भगवान ने कहा है। ऐसा जानकर भव्यजीव फिर कभी माता के उदर में नहीं जाता है, अर्थात् गर्भ जन्म के संकटों से छूट जाता है।

विशेष अर्थ—आप्त अर्थात् पूजने योग्य देव अथवा आगम का वक्ता सम्पूर्ण मोह राग द्वेषादिक दोषों से निर्मुक्त है और सर्वज्ञ वीतराग आदि आत्मिक गुणों से विभूषित है। ऐसा गुणवान् वक्ता ही पर के हित रूप यथार्थ उपदेश को दे सकता है। इसके अतिरिक्त जो राग और द्वेष तथा स्नेह, भय, काम, निद्रा, जगत्कर्तृत्व, जगत के जीवों को दण्ड देने का गुण इत्यादि दोषों से लिप्त हैं उनके वचन यथार्थ वीतराग रूप नहीं हो सकते। वीतराग ही के वचन वीतराग रूप हो सकते हैं। इसलिए सत्यार्थ आप्त श्री अरहंत भगवान् हैं, जिनकी शान्ति प्रतिमा को देखकर तथा पूजन कर परम वीतराग रूप निमित्त का सम्बन्ध मिलने से भव्य जीव अपने भावों को उज्जवल विशुद्ध और वैराग्यमय करते हैं। ऐसे सत्यार्थ आप्त के मुख कमल से प्रगट होने वाली जो हितोपदेशमय दिव्य ध्वनि है, सो ही समस्त पदार्थों के विस्तार के समर्थन में प्रवीण सच्चा

आगम है। अंतरंग तत्व परमात्मा तथा बाह्य तत्व परमात्म स्वरूप से भिन्न पदार्थ, ऐसे दो तत्व हैं, अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं। इन तत्वों के प्रदर्शन कराने वाले आगम के द्वारा इन तत्वों का स्वरूप जानना बहुत कार्यकारी है। इसीलिए सत्यार्थ आगम और तत्वों के यथार्थ श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है। सर्व प्रथम यही उपादेय है कि वीतराग सर्वज्ञ को भले प्रकार अपना हित् मानें। जब अपने अन्तरंग में आप्त का निश्चय हो जायेगा तब सहज ही आगम और तत्वों का निश्चय जम जायगा। इसी लिए निर्दोष आप्त में श्रद्धा करना ही सम्यक्त का प्रबल उपाय है। यहाँ टीकाकार कहते हैं कि हे ससार के भय को मिटाने वाली जिनवाणी रूप भगवती! जो इस लोक मे तेरी भक्ति को नहीं करता है वह संसार समुद्र के मध्य मे जो दुःख रूपी ग्रह है उसके मुख में चला जाता है।

अष्टादशदोषस्वरूपाख्यानमेतत् :—

छुहतण्हभीरुरोसो रागोमोहोचिंताजराजामिच्चू।
स्वेदं खेद मदो रइ विण्हियणिद्दा जणुव्वेगो॥ ६॥

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मयनिद्रे जन्मोद्वेगो॥ ६॥

असातावेदनीयतीव्रमंदक्लेशकरी क्षुधा। असातावेदनीयतीव्रतीव्रतरमंदमंदतरपीडया समुपजाता तृषा। इहलोकपरत्रमात्राणागुप्तिमरणवेदनाकस्मिकभेदात् सप्तधा भवति भयम्।

क्रोधनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोषः। रागः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, दानशीलोपवासगुरुजनवैयावृत्यादि समुद्भवः प्रशस्तरागः, स्त्रीराजचौरभक्तविकथालापाकर्णनकौतूहलपरिणामो ह्यप्रशस्तरागः। चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त एव। चिन्तनं धर्म-शुक्लरूपं प्रशस्तमितरदप्रशस्तमेव। तिर्यङ्मानवानां वयः कृतदेहविकार एव जरा। वातपित्तश्लेष्मणावैषम्यसञ्जातकलेवरविपीडैव रुजा। सादिनिधनमूर्तेन्द्रियविजातीयनरनारकादिविभावव्यञ्जनपर्य्यायविनाश एव मृत्युरित्युक्तः अशुभकर्मविपाकजनितशरीरायाससमुपजातपूतिगंधसम्बन्धवासनावासितवार्बिन्दुसंदोहः स्वेदः। अनिष्टलाभः खेदः। सहजचतुरकवित्वनिखिलजनताकर्णामृतस्यंदिसहजशरीरकुलबलैश्वर्य्यैरात्माहंकारजन्मा मदः। मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः परमसमरसीभावनापरित्यक्तानां क्वचिदपूर्वदर्शनाद्विस्मयः। केवलेन शुभकर्मणा, मायया, शुभाशुभमिश्रेण, देवनारकतिर्यङ्मनुष्यपर्य्यायेषूत्पत्तिर्जन्म। दर्शनावरणीयकर्मोदयेन प्रत्यस्तमितज्ञानज्योतिरेव निद्रा। इष्टवियोगेषु विक्लवभावएवोद्वेगः। एभिर्महादोषैर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः। एतैर्विनिर्मुक्तो वीतरागसर्वज्ञ इति। यथा चोक्तम्—

"सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो" ॥

तथा चोक्तं श्रीविद्यानंदिस्वामिभिः—

"अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धै
न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति ॥"

तथा चोक्तम्—

"शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः
स्मरतिरसुरनाथः प्रास्तदुष्टाष्टयूथः ।
पदनतवनमाली भव्यपद्माशुमाली
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमि ॥"

आगे आप्त १८ दोषों से रहित होता है, इसलिए १८ दोषों के नाम कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—ऊपर गाथा में वर्णन किया हुआ आप्त १८ दोषों से रहित होता है; उस आप्त के क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग मृत्यु, पसीना, खेद, मद, रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, आकुलता ऐसे १८ महादोष नहीं होते हैं।

विशेष अर्थ—असाता वेदनी कर्म के तीव्र तथा मन्द उदय से चित में क्लेश का होना सो क्षुधा अर्थात् भूख की पीड़ा है। केवली अरहन्त के मोहनी कर्म के अभाव होने से वेदनी कर्म क्षुधा उपजाने को समर्थ नहीं है। वेदनी कर्म मोह कर्म की प्रकृति रति तथा अरति के साथ ही परद्रव्यसम्बन्धजनित सुख तथा दु:ख वेदन कराने को समर्थ है। मोह के नाश से जब वीतरागी प्रभु अपने आनन्दमय स्वरूप में लवलीन हो गये और अतीन्द्रिय अनन्त सुख का स्वाद लेने लग गये तब उस अनुभव स्वादी के उपयोग को हटाकर क्षुधा की वेदना करना और फिर

क्षुधा का दुःख मिटकर साता का होना यह बात संभव नहीं है। अन्तराय के नाश से अनन्त बल के धनी को क्षुधा सम्बन्धी निर्बलता नही पैदा हो सकती है।

इसी कारण साधारण मनुष्यों के समान आहार अर्थात् चार प्रकार के भोजन में से किसी का भी ग्रहण केवली आप्त के नही है। उनकी देह परमौदारिक हो जाती है, जिसकी स्थिति शुद्ध नोकर्मवर्गणाओं के ग्रहण से ही हो जाती है। अनन्त चतुष्टय के स्वामी को क्षुधा का दोष कहना उनके अनन्त चतुष्टय में बाधा का देना है। इसलिए स्वामी के स्वामृत भोजन ही है, जो उनकी अनादि काल की गम्भीर क्षुधा को समय समय मेट रहा है। असाता वेदनी कर्म के तीव्र, तीव्रतर, मंद और मंदतर उदय के वश से पीड़ा का पैदा होना सो तृषा अर्थात् प्यास है, सो भी प्रभु के सम्भव नही है। आत्मीक रस के पीने वाले को क्षणिक प्यास को बुझाने वाले जल की इच्छा कैसे हो सकती है? इस लोक, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना, आकस्मिक ऐसे सात प्रकार के भय का नाम भय है, सो प्रभु के शरीर, भोग इन्द्रिय जनित सुख तथा धन, धान्य, कुटुम्ब, घर, जमीन, चाँदी, सुवर्ण आदि से किसी प्रकार की मुर्छा नहीं है क्योंकि प्रभु ने चारित्र मोहनी दर्शनमोहनी दोनो का सर्वथा नाश कर डाला है, इससे श्री जिनेन्द्र सर्व भय से रहित अत्यन्त निर्भय हैं। क्रोध कषाय के उदय से तीव्र परिणाम का होना सो रोष अर्थात् क्रोध है। यह भी क्षमाशील शांत प्रभु के नहीं हो सकता। क्योंकि प्रभु ने इस क्रोध कषाय की सत्ता का ही नाश अपनी पूर्व अवस्था में अर्थात् अनिवृत्ति-

करण नवमें गुणास्थान में कर दिया है। राग दो प्रकार का है एक प्रशस्त अर्थात् शुभ, दूसरा अप्रशस्त अर्थात् अशुभ। दान, शील, उपवास, गुरुजनो की वैयावृत्ति, सेवा आदि शुभ कार्यों में प्रवर्तनेवाला जो उपयोग सो प्रशस्त राग है और स्त्री, राज, चोर, भोजन इन चार खोटी कथाओं के सुनने में कौतूहल रूप परिणाम अर्थात् इनकी कथा वार्ता करने में चित्त मे कौतूहल रूप हो आनन्द का मानना सो अप्रशस्त राग है सो वह दोनों ही प्रकार के राग प्रभ के नहीं है। क्योंकि प्रभु का राग, शिवसुन्दरी के साथ गोष्ठी करने में उपयुक्त है। चार प्रकार संघ अर्थात् ऋषि, यति, मुनि, अनगार इनकी तरफ वात्सल्य भाव का होना सो मोह है। सो आत्मा के मोही के पर सचकृत मोह का सभवपना नही हो सकता। शुभ विचार करना सो प्रशस्त चिता है। यह धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूप है। अशुभ विचार करना सो अशुभ चिन्ता है, यह आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान रूप है। सो प्रभु के स्वरूप निश्चलता के होने से इस चिन्ता का प्रवेश नही है। यद्यपि शुक्लध्यान कहा जाता है, परन्तु यह कथन मात्र उपचार से है। श्री वीतरागी अनन्त सुखी के चिन्ता होने मे उसमें विक्षेप पड़ सकता है। सो प्रभु के चिन्ता नही है, इसीलिए सुख में विघ्न नही है। तिर्यंच और मनुष्यों के औदारिक शरीरों का आयु-कर्म के झरने के निमित्त से जर्जरा अर्थात् बूढ़ा हो जाना सो जरा है। अनन्त बल के धारी कोटि सूय से अधिक प्रभाधारी के शरीर में जरा का स्वप्न में भी प्रवेश नही हो सकता। प्रभु के नख केश ही बढ़ते नही है। वायु, पित्त, कफ की

विषमता से पैदा हुई शरीर में पीड़ा उसी का नाम रोग है। सो परमोदारिक महा सुन्दर निश्चल शान्त ध्यानाकार शरीर में किसी तरह भी नही उत्पन्न हो सकता। आदि और अन्त-सहित. मूर्तीक, इन्द्रियों करके चिन्हित, आत्मीक जाति से विलक्षण विजातीय नर, नारक, तियच देव गति सम्बन्धी विभाव व्यंजनपर्याय अर्थात् औदारिक और वैक्रियक शरीर का ही नाश अर्थात् आत्मा के सूक्ष्म कार्माण शरीर से अलग हो जाना सो मरण है। सो प्रभु के परमोदारिक देह का छूटना कार्माण देह के साथ साथ होता है, इससे उनके संसारी जीवों के समान मरण नही है। ससारियों की पर्य्याय का छूटना एक नवीन विभाग व्यंजन पर्य्याय के जन्म लेने के लिए होता है। मरण जन्म करके सहित है। तथा स्वाधीन आत्मा का अब किसी भी देह से उपजना नही है, इसी कारण प्रभु के मरण अथवा मरण सम्बन्धो वेदना व्यापती नही। अशुभ कर्म के उदय से शरीर में परिश्रम के होने से दुर्गन्ध रूप जलबिन्दुओं का प्रगट होना सो स्वेद अर्थात् पसीना है। सो स्वरूपानन्दी परम शुद्ध शरीर धारी के सम्भव नहीं है। जो वस्तु अपने को अप्रिय है उसके लाभ मे जो रज करना सो खेद है, सो परिग्रह तथा मूर्छारहित स्वरूपानन्दी स्वामी के खेद का प्रकाश कभी सम्भव नही है। सहज कविता की चतुराई, सम्पूर्ण मनुष्यों को सुनने से आनन्द हो ऐसी वचन की पटुता, मनोज्ञ शरीर, उत्तम कुल अतुल बल, अनुपम ऐश्वर्य आदि के होने से आत्मा के भाव में अहंकार का होना सो मद है। ऐसा मद क्षायक सम्यक्त्वधारी, शरीरादिपरद्रव्यपरिग्रहत्यागी तथा निज आत्मा

के उत्कृष्ट मार्दव गुण में आशक्त के किसी भी प्रकार से नही हो सकता। मन को प्यारी वस्तुओं में गाढ़ प्रीति का होना सो रति है। शिवनारी में रति करने वाले, परम वीतरागी, संकल्पविकल्पव्यापारधारी मन के अभाव को रखने वाले प्रभु के अपनी निज अनुभूति से तो रति है परन्तु उसके सिवाय अन्य किसी भी परद्रव्य, परगुण, व परपर्याय से प्रीति नही है। परम समरसी भावना से दूरवर्ती पुरुषों को कभी किसी अपूर्व वस्तु को जिसको पहले नहीं देखा है देखने से विस्मय अर्थात् अचम्भे का हो जाना सो विस्मय अर्थात् आश्चर्य है। तीन लोक तथा अलोक की भूत, वर्तमान और भविष्य सर्व द्रव्यों की सर्व अवस्थाओं को अपने केवल दर्शन और ज्ञान से एक ही काल में देखने जानने वाले के ऐसा कोई पदार्थ व उसकी कोई ऐसी पर्याय ही नही है जिसको कि अपूर्व कहा जाय। जब प्रभु के लिए कोई अपूर्व वस्तु ही नही है तब प्रभु के विस्मय दोष नहीं हो सकता। केवल शुभ कर्मों के वश से देव गति में, केवल अशुभ कर्मो के निमित से नरक गति में, मायाचार करके तिर्यंच गति में, शुभ अशुभ मिश्रकर्म के वश से मनुष्य गति में जाकर जीव का शरीर को प्राप्त करना सो जन्म है। प्रभु ने चारों गति में जाने के कारण रूप भावों का ही नाश कर दिया है। न प्रभु के देव आयु के बंध के कारण सराग संयम, असमय, अकाम निर्जरा, बाल तप आदि के भाव है, न जिनेन्द्र श्रेणी के नीचे स्थिति है, जहाँ ही देवायुका बंध होता है, न स्वामी के मोह कर्म के अत्यन्ताभाव से नरकायुबंध के कारण बहु आरम्भ और बहुपरिग्रह सम्बन्धी भाव है, न

वीतरागी के तिर्यंचायु बंध का कारण माया है, और न अटल सुख भोक्ता के अल्प आरम्भ अल्प परिग्रह के भाव हैं और न साधारण मार्दव न साधारण सम्यक्त्व है, इसी लिए प्रभु जन्म अथवा अवतार सम्बन्धी कलेश से मुक्त है। दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान ज्योति का अचेत हो जाना ही निद्रा है। श्री अर्हन्त परमेष्ठी ने पहले ही दर्शनावरणीय कर्म का नाश कर डाला है, इसलिए निरन्तर निज स्वरूपावलोकन में जागृत हैं, एक समय भी अचेनता को भजते नहीं। इष्ट चेतन तथा अचेतन अथवा मिश्र पदार्थो से वियोग प्राप्त करने पर चित्त में घबड़ाहट के भाव होना सो उद्वेग अर्थात् आकुलता है, सो प्रभु ने समस्त पदार्थों में समरसी भाव का आलम्बन किया है, इससे यह आकुलता संभव नहीं है। इत्यादि १८ महा दोष हैं, जिन दोषों करके समस्त तीन लोक व्याप्त हो रहा है, अर्थात तीन लोक के सर्व ही जीव इन दोषों मे ग्रसित हैं। इन्द्र, धरणेन्द्र, नवग्रह, भवनवासी, व्यन्तर, यक्षयक्षिणी, चंडिका, अम्बिका, कालिका, चक्रवर्ती, मंडलेश्वर महाराजा, राजा, सेठ, धनी पंडित, मूर्ख, दरिद्री, रोगी, कामी, सिंह, व्याघ्र, हाथी, मोर, मूषक तथा समस्त नारकी इत्यादि समस्त ससारी जीव १८ दोषों से पीड़ित हैं। इन महादोषों से सर्वथा रहित श्री वीतराग सर्वज्ञ देव ही है, इसीलिए वही सच्चे आप्त, देव, पूजनीय, माननीय और भजने योग्य है। ऐसा ही आप्त का शरण हम को मोक्ष मार्ग का देने वाला है। जैसा एक आचार्य ने कहा है—"धर्म वही है जहाँ दया है, तप वही है जहाँ विषयों का निग्रह है, तथा देव वही है, जो १८ दोष करके

रहित है। इस विषय में शंका नही करनी।" ऐसा ही श्री विद्यानंदि स्वामी ने भी कहा है कि "अभीष्ट फल जो मुक्ति तिसकी सिद्धि का उपाय आत्मज्ञान है। आत्मबोध सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसी कारण बुद्धिमानों के द्वारा वही पूजने योग्य होता है। क्योंकि सज्जन पुरुष अपने ऊपर किये हुए किसी के उपकार को भूलते नहीं है।" अभिप्राय यह कि सर्वज्ञ निर्दोष परम हितोपदेशी आप्त ही भव्य जीवो का परमोपकारी है, इसलिए आत्म कल्याण के इच्छुकों को वही ध्यान करने योग्य है। यहां टीकाकार कहते हैं कि श्रीनेमिनाथस्वामी हम को निरन्तर सुख करहु। कैसे हैं स्वामी जो सौ इन्द्रनिकरि पूज्य हैं, अतिशय रूप सम्यग्ज्ञान का पाया है राज्य जिन्होंने, काम विजय देव ऐसे लौकान्तिक देवों के नाथ है, दुष्ट अष्ट कर्म के समूह को जिन्होंने विध्वश किया है, जिनके चरणो को नारायण बलभद्र नमस्कार करते हैं, जो भव्य जीव कमलो के प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान है, तथा जो आनन्द के स्थान है।

तीर्थकर परम देवास्वरूपाख्यानमेतत् :—

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादि-परमविभवयुतः।
स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा ॥ ७ ॥

आत्मगुणाघातकानि घातिकर्माणि ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-मोहनीयकर्माणि तेषां निरवशेषेण प्रध्वसान्नि:शेषदोषरहितः,

अथवा पूर्वसूत्रोपात्ताष्टादशमहादोषनिर्मलनान्नि: शेषदोषनिर्मुक्त इत्युक्तः। सकलविमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्धः। यस्त्वेवंविधः त्रिकालनिरावरणा नित्यानंदैकस्वरूपनिजकारणपरमात्माभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हत् परमेश्वरः। अस्य भगवतः परमेश्वरस्य विपरीतगुणात्मकाः सर्वदेवाभिमानदग्धा अपि संसारिण इत्यर्थ। तथा चोक्तं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवैः—

"तेजोदिट्ठीणाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो॥"

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

"कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुंधन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं।
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः॥"

तथाहि—

जगदिदमजगच्च ज्ञाननीरेरुहान्त–
भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यं।
तमविकलयदेहं नेमितीर्थंकरेशं
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्युद्धवीचिम्॥

आगे तीर्थंकर परम देव का स्वरूप और भी कहते हैं—

सामान्य अर्थ—जो सम्पूर्ण दोषों से रहित है और जो केवल ज्ञान आदि परम ऐश्वर्य से संयुक्त है वही परमात्मा कहा जाता

है। इससे जो विपरीत अर्थात् विरुद्ध है वह परमात्मा नही है।

विशेषार्थ—आत्मा के गुण को घात करने वाले ज्ञानावरणी दर्शनावरणी अन्तराय मोहनी ऐसे चार घातिया कर्म हैं। इनका सर्वथा नाश कर देने से वह परमात्मा सर्व दोष रहितहै, अथवा पूर्वगाथा कथित १८ महा दोषों के निर्मूल न कर देने से वह परमात्मा निर्दोष है। सम्पूर्ण प्रकार से निर्मल ऐसे केवल ज्ञान, केवल दर्शन परम वीतरागता परमानन्द आदि अनेक अतरंग विभव और अष्टप्रातिहार्यादि बहिरंग विभूति से वह परमात्मा अतिशय करके सुशोभित है। तथा जो निर्दोष और विभवयुक्त होने पर भी कार्य परमात्मा है, अर्थात् तीन काल में सम्पूर्ण आवरणों करके रहित, नित्य, आनन्दमय, एक स्वरूप, निज-कारण परमात्मा को भावना से उत्पन्न हुआ ऐसा कार्य परमात्मा वही भगवान् अर्हन्त परमेश्वर है। इस भगवान परमेश्वर से विपरीत गुण के धारी सर्व ही देवाभास जो देवपने के अभिमान से दग्ध है परन्तु देव नही वे सब ही ससारी है। श्रीकुदकुदाचाय दूसरे ग्रन्थ की एक गाथा में कहते है—"जिस देव का तेज अनतदशन अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, ईश्वरपना तथा तीन लोक में प्रधानपना है ऐसी महिमा का धारी ही अरहन्त होता है।" श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं – "जो अपनी कांति से दशों दिशाओं को उजला करते हैं, जो अपने तेज से बड़े बड़े तेजधारियों के तेज को रोकते हैं, जो अपने रूप से मनुष्यों के मन को हरते हैं, जिनकी दिव्य ध्वनि से

कानों में मानो साक्षात् अमृत वर्षता है ऐसा सुख होता है, वे ही १००८ लक्षण के धारी तीर्थंकर भगवान बन्दना करने योग्य हैं। भावार्थ यह है कि श्री अरहन्त परमात्मा को अपना परोपकारी समझ के उनको ही आप्त मान के पूजना बन्दना योग्य है।" यहाँ टीकाकार कहते हैं कि जिस अरहन्त के ज्ञान रूपी कमल में भ्रमर के समान यह लोक और अलोक नित्य स्पष्टपने प्रतिभा समान है ऐसे श्री नेमिनाथ भगवान को मैं निश्चय करके यजन करता हूं। उसी प्रभु के प्रसाद से मैं तीव्र तरंगवाले संसार समुद्र को अपनी दोनों भुजाओं से तर सकूंगा।

परमागमस्वरूपाख्यानमेतत्:—

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगमभिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥८॥

तस्य मुखोद्गतवचन पूर्व्वापरदोषविरहितं शुद्धम् ।
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः ॥८॥

तस्य खलु परमेश्वरस्य वदनवनजविनिर्गतचतुरवचन-रचनाप्रपंचपूर्व्वापरदोषरहितः, तस्य भगवतो रागाभावात् पापसूत्रवद्धिंसादिपापक्रियाभावाच्छुद्धः परमागम इति कथितः। तेन परमागमामृतेन भव्यैः श्रवणान्जलिपुटपेयेन मुक्तिसुन्दरी-मुखदर्पणेन संसरणवारिनिधिमहावर्तनिग्नसमस्तभव्यजनता-दत्तहस्तावलम्बनेन सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना

अक्षुण्णमोक्षप्रासादप्रथमसोपानेन स्मरभोगसमुद्भूताप्रशस्तरागांगारैः पच्यमानसमस्तदीनजनतामहत्क्लेशनिर्नाशनसमर्थसजलजलदेन कथिताः खलु सप्त तत्वानि नव पदार्थाश्चेति। तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

"अन्यूनमतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥
ललितललितं शुद्धं निर्व्वाणकारणकारणं
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः॥

आगे परमागम का स्वरूप कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—ऊपर गाथा में कथित श्रीअरहन्त परमात्मा के मुख से निकले हुए वचन पूर्वा पर दोष करके रहित है, और शुद्ध हैं, उसी को आगम कहते है। इसी आगम में तत्वार्थों का वर्णन किया गया है।

विशेषार्थ—निश्चय करके उसी परमेश्वर के द्वारा परमागम का उद्योत हुआ है। कैसा है परमागम, जो श्री अरहंत के मुख कमल से निकले चतुर वचन रचना का समूह रूप पूर्वापर दोष से रहित है श्री अरहन्त आप्त सर्वज्ञ वीतराग हैं, इसी लिए उनके वचनों के कथन में ऐसा दोष नही है कि पूर्व का कथम आगे के कथन से सदोषी हो जाय। जो अल्पज्ञ शास्त्र के वक्ता होते है

उनके शास्त्रों में यह दोष दीख पड़ता है कि एक स्थान में जिसको पुष्ट किया है, उसी को दूसरे स्थान में बिना किसी विशेष अपेक्षा के शिथिल कर दिया है अथवा निराकरण कर दिया है, परन्तु सर्वज्ञ वीतराग कथित परमागम में यह दोष नहीं है। तथा जो परमागम हिंसादि पाप क्रिया की पुष्टि के अभाव से शुद्ध है, क्योंकि निर्मल वीतराग भगवान् के द्वारा प्रगट है। वे भगवान् कदापि भी हिंसा का समर्थन नहीं कर सकते। इसी परमागम में जीवादि सात तत्त्व और नव पदार्थों का कथन है। कैसा है परमागम, अमृत रूप है, जिसके रस को भव्य जीव कर्ण रूपी अंजली से पीते हैं, फिर कैसा है, मुक्ति रूप सुन्दरी के मुख का दर्पण है अर्थात् जिसको देखने से मुक्ति का स्वरूप प्रगट होता है। यही परमागम संसार रूपी महासमुद्र में डूब रहे जो समस्त भव्यजन उनको हस्तावलंबन देने को समर्थ है। यही सहज वैराग्य रूपी महल के शिखर का शिखामणि है, अर्थात् वैराग्य की शोभा परमागम के ज्ञान से ही है। निश्चल मोक्ष रूपी महल में चढ़ने के लिए यह प्रथम सीढ़ी है, अर्थात् परमागम के ज्ञान बिना जीव मोक्ष पंथ पर गमन नहीं कर सकता। तथा काम भोग की तृष्णा से उत्पन्न अशुभ राग के अंगारों से जलते हुए समस्त दुःखी जनों के महान् क्लेशों को नाशने को समर्थ जल से भरे मेघों के समान यह परमागम है।

भावार्थ—इस संसार के क्लेश से पीडित जीवों के लिए परमागम का अभ्यास परम शरण है—परमागम से जीव अजीव

तत्वों को यथार्थ ज्ञान अपने अनादि अज्ञान को छोड़कर आत्म ज्ञान को कर सकता है। तथा आत्म ज्ञान में स्थिर होने ही से जीव की विभाव भावों मे मुक्ति होती है, इसलिए सर्व जीवों को शास्त्र का पठन पाठन श्रवण मनन चिंतवन अनुभवन तथा व्याख्यान निरन्तर कर्तव्य है। प्रमाद छोड़कर इस अभ्यास में प्रवर्तना योग्य है। श्रीसमन्तभद्राचार्य ने कहा है—"आगम का ज्ञान इसी का नाम है कि आगम के अर्थ को न तो कम न अधिक न विपरीत न संदेहयुक्त जैसा का तैसा यथार्थ जानना।" इसलिए भव्य जीवों को उचित है कि परमागम को सर्वज्ञ वीतराग का कथित श्रद्धाकर उसके वचनों में सन्देह रहित हो चित्त में धार कर अपना कल्याण करें। जिन वचन प्रतीति किये जाने से अमृत फल को फलते हैं। यहाँ टीकाकार कहते हैं कि मैं प्रतिदिन जिनेन्द्र की सत्य वाणी को नमस्कार करता हूं। कैसी है वाणी, प्रसन्न ललित अर्थात् मनोहर है, शुद्ध है, निर्वाण का कारण जो रत्नत्रय उसकी प्राप्ति का उपाय है, सम्पूर्ण प्राणियो के कानों को सीचने के लिए अमृत है। भव भव के जंगलों में जलती हुई अग्नि से पीडित मनुष्यों को शांत करने के लिए जल के समान है, तथा जिनवाणी जैन योगियों करके सदा ही वंदनीय है।

अत्र षण्णां द्रव्याणां पृथक्पृथक् नामधेयमुक्तं :—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥९॥

जोवा पुद्गलकाया: धर्माधर्मौ च काल आकाश ।
तत्त्वार्था इति भणिता: नानागुणपर्य्यायै: संयुक्ता: ॥६॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु: — श्रोत्रमनोवाक्कायायुरुच्छावास-विश्वासाभिधानैर्दशभि: प्राणै: जीवति जीविष्यति जीवति (स्म) पूर्वो वा जव: सग्रहनयोयमुक्त: । निश्चयेन भावप्राणधारणाज्जीव: । व्यवहारेण द्रव्याप्राणधारणाज्जीव: । शुद्धसद्भूत-व्यवहारेण केवलज्ञानदिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् कार्यशुद्ध-जीव: । अशुद्ध सद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादविभाव गुणानामा-धार भूतत्वात् कारण शुद्ध जीव: अयं चेतन: । अस्य चेतनगुणा: अयममूर्त: । अस्यामूर्तगुणा: । अयं शुद्ध: । अस्य शुद्धगुणा: । अयमशुद्ध: । अस्य शुद्धगुणा: । पर्य्यायश्च । तथा गलनपूरणस्व-भावसनाथ: पुद्गल: । श्वेतादिवर्णाधारो मूर्त: । अस्य हि मूर्तगुणा: । अयमचेतन: । अस्याचेतनगुणा: । स्वभावविभाव-गतिक्रियापरिणतानांजीवपुद्गलानां गतिहेतु: धर्म: । स्वभाव-विभावस्थितिपरिणतानां तेषां स्थितिहेतुरधर्म: पंचानामव-काशदानलक्षणमाकाशम् । पंचानां वर्तनाहेतु: काल: । चतुर्णाम-मूर्तानां शुद्धगुणा: पर्य्यायाश्चैतेषां तथाविधाश्च ।

इति जिनपतिमार्गोमोधिमध्यस्थरत्नं
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम् ।
हृदि सुनिशितबुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप: ॥

अब तत्वार्थ कौन-कौन है, उनके नाम कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—जीव, पुद्गुल, धर्म, अधर्म, आकाश और

काल गेमे छह द्रव्य तत्वार्थ कहे गये है। कैसे हैं यह। नाना गुण और पर्यायों करके सहित हैं।

विशेशाथ –स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्र मनबल वचन-बल कायबल आयु तथा श्वासोच्छास ऐसे दश प्राणों से सग्रहनय करके जो जीता है जीवेगा तथा जीता आया है वही जीव है। निश्चय करके भाव प्राण अर्थात् चैतन्य प्राण के धारण करने से जीव है, व्यवहार करके द्रव्य प्राणो के धारने से जीव है। शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय करके केवल ज्ञान आदि शुद्ध गुणो का आधारभूत होने से काय शुद्ध जीव है। अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय करके मतीज्ञान आदि विभाव गुणों का आधार भूत होने के कारण शुद्ध जीव है। यह चैतन्य है, इसके चैतन्यमय गुण है, यह अमूर्तिक है, इसके गुण भी अमूर्तिक है, जो जीव शुद्ध है उसके अशुद्ध गुण है, जो जीव अशुद्ध है उनके अशुद्ध गुण है। ऐसे ही इसके पर्याय भी है। गलने और पूरने के स्वभाव का स्वामी पुद्गुल है, श्वेतादि वर्ण का आधार है, मूर्तिक है, इसके मूर्तीक ही गुण है। यह स्पर्श, रस, गध वणमय है, यह अचेतन है, इसके गुण भी अचेतन है। अपने इन्द्रिय ग्राह्य जितने पदार्थ है, सब पुद्गल हैं स्वभाव अथवा विभाव से गमन क्रिया में परिणमन करने वाले जीव और पुद्गलों को स्वभाव अथवा विभाव में गमन कराने का उदासीन कारण धर्म द्रव्य है स्वभाव अथवा विभाव से स्थिति क्रिया में परिणमन करने वाले जीव पुद्गलों को उदाशीन रूप से स्थिति कराने का हेतु अधर्म द्रव्य है। अन्य पाँचों द्रव्यों के अवकाश देने के लक्षण को धरने वाला आकाश द्रव्य है। अन्य

पाँचों द्रव्यों को वर्तना कराने का हेतु काल द्रव्य है। धर्म, अधम आकाश, काल ये चार द्रव्य अमूर्तिक हैं। इनके शुद्ध ही गुण तथा शुद्ध ही पर्याय हैं। यहाँ टीकाकार कहते हैं कि यह षट् द्रव्य रूपी रत्न, ज्योति के समूह के प्रकामाशन श्रीजिनेन्द्र के मार्ग समुद्र के मध्य स्थित है। और वही से प्रकट हुए है। जो कोई निर्मल बुद्धि अपनी शोभा के लिए इन रत्नों को हृदय के भीतर धारण करता है वह मुक्ति रूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी रूप स्त्री का पति होता है।

अत्रोपयोगलक्षणमुक्तम्:—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं त्ति ॥१०॥

जीव उपयोगमय: उपयोगो ज्ञानदर्शनं भवति।
ज्ञानोपयोगो द्विविध: स्वभाव ज्ञानं विभावज्ञानमिति ॥१०॥

आत्मनश्चैतन्यनुवर्ती परिणाम: स उपय.ग। अय धर्म:। जीवा धर्मी। अनया: सम्बन्ध: प्रदोपप्रकाशवत्। ज्ञानदर्शन-विकल्पेनासौ द्विविधि:। अत्र ज्ञानोपयोगोपि स्वभावविभाव-भेदात् द्विविधो भवति। इह हि स्वभावज्ञानम् अमूर्तम् अतीन्द्रियम् अविनश्वरम् तच्च कार्यकारण रूपेण द्विविधं भवति। कार्यं तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम्। तस्य कारणं परमपारणामिकभावस्थितत्रिकालनिरूपाधिरूपं सहजज्ञानं स्यात्। केवलं विभावरूपाणि ज्ञानानि त्रीत्रि कुमतिकुश्रुत-

विभंगभान्जि भवन्ति । एतेषाम् उपयोगभेदानां भेदो वक्ष्यमाण-सूत्रयोर्द्वयोर्बोद्धव्यः इति ।

अथ सकल जिनोक्तज्ञानभेदं प्रबुद्धा
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः ।
सपदि विशति यत्तच्चिमत्कारमात्र
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।

आगे जीव के उपयोग का लक्षण कहते हैं--

सामान्य अर्थ—जीव उपयोगमय है, उपयोग ज्ञान दर्शन के भेद से दो प्रकार है। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है, एक स्वभाव ज्ञान, दूसरा विभाव ज्ञान ।

विशेषार्थ—आत्मा के चैतन्य गुण के साथ वर्तने वाला जो परिणाम सो उपयोग है। यह धर्म है। आत्मा उसका धर्मी है। दीप और प्रकाश के समान इन दोनों का सम्बन्ध है। यह उपयोग दो प्रकार है। एक ज्ञानोपयोग, दूसरा दर्शनोपयोग; ज्ञानोपयोग स्वभाव ज्ञान और विभाग ज्ञान ऐसे दो भेद रूप है। अमूर्तिक, अव्याबाध, अतीन्द्रिय और अविनश्वर ऐसा स्वभाव ज्ञान है सो आत्मा का निज ज्ञान है यह ज्ञानोपयोग स्वभाव अपेक्षा भी दो प्रकार का है। एक कार्य स्वभाव ज्ञान, दूसरा कारण स्वभाव ज्ञान। समस्त प्रकार से निर्मल केवल-ज्ञान सो तो कार्य स्वभाव ज्ञान है। इसी केवल ज्ञान का कारण रूप परम पारिणामिक भाव में स्थित तीन काल सम्बन्धी सर्व उपाधि अर्थात् विभावरहित ऐसा जो आत्मा का सहज ज्ञान

अर्थात् स्वरूप रूप ज्ञान सो कारण स्वभाव ज्ञान है । कारण स्वाभाव ज्ञान के द्वारा ही काय स्वभाव ज्ञान प्राप्त होता है । विभाव ज्ञान तीन प्रकार का है—कुमति कुश्रुत और विभग अवधि । यहाँ टीकाकार कहते हैं कि जो कोई जिनेन्द्र कथित सम्पूर्ण ज्ञान के भेदों को जानकर परभावों को त्यागता है और अपने आत्मीक स्वरूप में स्थिर होता है तथा चैतन्य के चमत्कार मात्र स्वभाव मे प्रवेश करता है वही जीव मुक्ति रूपी स्त्री का पति होता है ।

अत्र च ज्ञानभेदमुक्त :—

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं त्ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥
सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेद दो चेव ॥१२॥जुम्मं

केवलमिन्द्रियरहितं असहाय तत्स्वभावज्ञानमिति ।
संज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञान भवेद्विविधम् ॥११॥

सज्ञान चतुर्भेद मतीश्रुतावधयस्तथैव मन. पर्य्यम् ।
अज्ञानं त्रिविकल्प मत्यादेर्भेदतश्चैव ॥१२॥ युग्म

निरुपधिस्वरूपत्वात् केवलम् । निरावरणस्वरूपत्वात् क्रमकरणव्यवधानापोढम् । अप्रतिवस्तुव्यापकत्वात् असहायम् । तत्कार्यस्वभावज्ञान भवति । कारणज्ञानमपि तादृशं भवति । कुतः, निजपरमात्मास्थितसहजदर्शनसहजचरित्रसहजसुखसहज-परमचिच्छक्तिनिजकारणसमयसारस्वरूपाणि च युगपत् परिच्छेत्तुं समर्थत्वात् तथाविधमेव । इति शुद्धज्ञानस्वरूपमुक्तम् ।

इदानी शुद्धाशुद्धज्ञानस्वरूपभेदस्त्वयमुच्ते। अनेकविकल्पसनाथमतिज्ञान उपलब्धिभावनोपयोगाश्च अवग्रहादिभेदाच्च बहुबहुविधादिभेदाद्वा। लब्धिभावनाभेदाच्छुतज्ञान द्विविधम्। देश सर्वपरमभेदादवधिज्ञान त्रिविधं। ऋजुविपुलमतिविकल्पान्मनः पर्यर्यज्ञान च द्विविधम्। परमभावस्थितस्य सम्यग्दृष्टेरेतत्सज्ञानचतुष्क भवति। मतिश्रुतावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टि परिप्राप्य कुमतिकुश्रुतिविभगज्ञानानीति नामान्तराणि प्रपेदिरे। अत्र सहजज्ञान शुद्धान्तस्तत्त्वपरमतत्त्वव्यापकत्वात् स्वरूपप्रत्यक्ष केवलसकलप्रत्यक्षम्। रूपिष्व वधे रिति वचनादवधिज्ञानं विकलप्रत्यक्षम्। तदनन्तभागवस्त्वशग्राहकत्वान्मनः पर्ययज्ञान च विकलप्रत्यक्षम्। मतिश्रुतिज्ञानर्द्वितयमपि परमार्थतः परोक्ष व्यवहारत. प्रत्यक्ष भवति। किं च उक्तेषु ज्ञानेषु साक्षान्मोक्षमूलमेक निजपरमतत्त्वनिष्ठसहजज्ञानमेव। अपि च पारिणामिकभावस्वभावेन भव्यस्य परमस्वभावत्वात् सहजज्ञानादपरमुपादेय न शर्मास्ति। अनेन सहज चिद्विलासरूपेण सदा सहजपरमवीतरागशर्मामृतेन अप्रतिहत निरावरणपरमचिच्छक्तिरूपेण सदान्तर्मुखे स्वरूपाविचलस्थितिरूपसहजपरमचारित्रेण त्रिकालेष्वव्युच्छिन्नतया सदा सन्निहितपरमचिद्रूपश्रद्धानेन अनेन स्वभावनतचतुष्टयेन सनाथम् अनाथमुक्तिसुन्दरीनाथम् आत्मानं भावयेत् इत्यनेनोपन्यासेन ससारव्रततिमूललवित्रेण ब्रह्मोपदेशः कृत इति।

इति निगदितभेदज्ञानमासाद्य भव्यः।
परिहरतु समस्तं घोरसंसारमूलम्॥
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुख वा।
तत उपरि समग्र शाश्वतं श प्रयाति॥

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्र-विग्रहं भावयेद् बुधः ॥

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्।
द्वेषाम्भः परिपूर्णमानसघटप्रध्वंसनात्पावनम् ॥

ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं।
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मंगलम् ॥

मोक्षे मोक्षे जयति सहजज्ञानमानन्दतान।
निर्व्याबाध स्फुटितसहजावस्थमन्तर्मुखं च ॥

लीनं स्वस्मिन्सहजविलसच्चिचमत्कारमात्रे।
स्वस्य ज्योतिः प्रतिहततमोवृत्ति नित्याभिरामम् ॥

सहजज्ञानसाम्राज्य सर्वस्व शुद्धचिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥

आगे इसी ज्ञानोपयोग के भेदो की दो गाथाओं में कहते हैं :—

सामान्य अर्थ अतीन्द्रिय असहाय जो केवल ज्ञान है सो स्वभाव ज्ञान है। सज्ञान और विभाग ज्ञान ऐसे दो भेद और है। सज्ञान के चार भेद हैं—मति, श्रुत अवधि तथा मनः पर्य्यय ज्ञान। विभाव ज्ञान अर्थात अज्ञान के तीन भेद हैं कुमति कुश्रुत और कुअवधि।

विशेषार्थ—केवल ज्ञान का स्वरूप उपाधि रहित है, निरावरण है किसी कर्म का आवरण नही है, क्रमवर्ती ज्ञान से रहित है समस्त पदार्थों में एक ही समय जो ज्ञान व्यापक है तथा असहाय है। केवल ज्ञान, बिना किसी इन्द्री और मन

के सहाय के स्वयं ही प्रत्यक्ष रूप मे पदार्थों को जानता है। इसी का नाम कार्य स्वभाव ज्ञान है। इसका कारण ज्ञान भी ऐसा ही होता है। क्योंकि वह कारण रूप शुद्ध ज्ञान अपने परमात्म स्वभाव में स्थित हो सहज दर्शन सहज चरित्र, सहज सुख और सहज परम चैतन्य शक्ति ऐसे चार जो निज कारण समयसार उनको एक ही समय में अनुभव करने को समर्थ है, इसलिए केवल ज्ञान सदृश ही आनन्द का दाता है ऐसे शुद्ध ज्ञान का स्वरूप कहा। अब शुद्धाशुद्ध ज्ञान के स्वरूप भेद कहते हैं। अनेक विकल्पों का धारक मति ज्ञान है। जो मति-ज्ञानवरणी कर्म के क्षयोपशम रूप उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति और उपयोग रूप है, तथा अवग्रह ईहा अवाय धारणा इन चार भेद रूप है, तथा बहु बहुविधादि भेद से अनेक प्रकार है। मति ज्ञान दर्शन पूर्वक होता है। दर्शन आत्मा का वह उपयोग है जो पदार्थ के आकार के ग्रहण करने से पूर्व हो। पदार्थ का सामान्य निराकार ग्रहण दर्शन है। उसी के आकर का इतना ग्रहण करना जिससे अधिक ज्ञान किया जा सके सो अर्थावग्रह है। यदि अधिक ज्ञान होने योग्य ग्रहण नहीं होता तो उस ग्रहण को व्यन्जनावग्रह कहते है। इसमें ईहा, अवाय, धारणा नही हो सकती। अर्थावग्रह द्वारा ग्रहीत पदार्थ का विशेष ज्ञान होने के अर्थ निश्चय प्रति झुकता हुआ जो उपयोग है सो ईहा है। निश्चय हो जाना सो अवाय है तथा उसी को कालान्तर में नही भूलना सो धारणा है। ये मति ज्ञान के मुख्य चार भेद हैं,। बहु, बहुविधादि बारह भेदों को इन चार भेद और पाँच इन्द्री और एक मन ऐसे ६ से गुणा करने से २८८ भेद अर्थावग्रह के होते हैं तथा व्यन्जनावग्रह में १२ भेदों को चक्षु

और मन बिना ४ इन्द्री से गुणने से ४८ भेद होते हैं। इस प्रकार मति ज्ञान के सर्व ३३६ भेद होते हैं। इनका विशेष भाव श्रीसर्वार्थसिद्धि टीका से जानना। श्रुत ज्ञान लब्धि और भावना के भेद से दो प्रकार का है। श्रुत ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम सो लब्धि और भावना के भेद से दो प्रकार का है। श्रुत ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम सो लब्धि उसके होते उपयोग का जोड़ना सो भावना है अवधि ज्ञान तीन प्रकार है देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। मनपर्यज्ञान के दो भेद है, ऋजुमति और विपुलमति। परम आत्मीक भाव से तिष्टने वाले सम्यग्दृष्टि जीव के यह चार सज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान होते हैं। मिथ्यादर्शन के होते हुए मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों को कुमति, कुश्रुत और विभंगाज्ञान कहते है। यहां जो स्वरूप का सहज ज्ञान है सो शुद्ध अन्तरंग तत्व रूप जो परम तत्व उसमें व्यापक अर्थात फैला हुआ होने मे स्वरूप प्रत्यक्ष है केवलज्ञान सम्पूर्ण पने प्रत्यक्ष है। आत्मा बिना किसी की सहायता से स्वयं जो जानना है सो प्रत्यक्ष है। अवधि ज्ञान रूपी मूर्तीक पदार्थों को जानता है तथा यह एक देश प्रत्यक्ष है। मन: पर्ययज्ञान अवधि ज्ञान मे जाने हुए पदार्थ के अनंतभाग रूपवस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला और एक देश प्रत्यक्ष हैं। मति श्रुत ज्ञान दोनो ही निश्चय से परोक्ष है परन्तु व्यवहार में प्रत्यक्ष हैं। प्रयोजन यह है कि इन कहे हुए ज्ञान के भेदों में साक्षात् मोक्ष का मूल एक निज परम तत्व में लवलीन सहज ज्ञान ही है। यही स्वाभाविक ज्ञान भव्य जीव का परम स्वभाव होने से स्वभाव से पारिणामिक ज्ञान भी है अपने ज्ञानानद स्वरूप का जो स्वाभाविक अर्थात सहज ज्ञान है उसके सिवाय और कोई ज्ञान

उपादेय नही है। यह सहज ज्ञान चैतन्य का विलास रूप है। सदा स्वाभाविक परम वीतराग सुखामृतमय है, बाधा और आवरणरहित परम चैतन्य का विलास रूप है, सदा शक्ति रूप है, सदा अन्तर्मुख अपने स्वरूप में निश्चल स्थिति रूप स्वाभाविक परम चारित्रमय है, तीन काल में नही टूटने वाला है, सदा निकटवर्ती परम चैतन्य रूप का श्रद्धान स्वरूप है, स्वभाव से अनत दर्शन ज्ञान सुख वीर्य ऐसे ४ चतुष्टय का स्वामी है, इस जाति के सहज ज्ञानके द्वारा ऐसे आत्मा की भावना करनी योग्य है। कैसा है आत्मा, जिसका और कोई नाथ नही है, तथा जो मुक्ति रूप सुन्दरी का पति है। इस संसार रूपी लता के मूल को काटने वाले संक्षेप कथन से यह ब्रह्ममय उपदेश किया गया।

भावार्थ—श्री गुरु ने ज्ञान के भेद कह कर यह प्रतिपादन किया है कि इस भव्य जीव को अपने आत्मा का निश्चय परमात्म स्वरूप अपने उपयोग में जमाकर ध्यान करना चाहिए। स्वरूप ज्ञान को ही आत्म ज्ञान कहते है। यही निराकुल आनन्द का साक्षात् देने वाला है। जब यह अन्तरात्मा पुण्य पाप सुख दुःख परिग्रह आदि भावों से दूरवर्ती निज भाव का मनन करता है तब इस भेद ज्ञान का सुन्दर फल जगत को मंगलदायक आनन्द स्वरूप परम पवित्र ज्ञान ज्योति को प्रगट कर दिखाता है। मैं सर्वथा प्रकार शुद्ध चैतन्यमय हूं, यह जान-कर निर्विकल्प होता हूं। वही दशा मेरे सहज ज्ञान का साम्राज्य है और मैं उसका धनी स्वामी हूं। यही भावना इस जीव के गुप्त शुद्ध स्वभाव को प्रगट करता जाती है। इस कारण सब

कार्य त्याग इस स्वरूप भावना रूपी रमणीक बन में रमने का उपाय करना योग्य है।

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि जो भव्य जीव ऊपर लिखित ज्ञान को प्राप्त करके भयानक ससार का मूल समस्त पुण्य पाप सुख दुःख को अतिशय करके त्यागता है तो भव्य जीव सर्व सुखों में श्रेष्ठ ऐसे अविनाशी आनन्द को प्राप्त करता है जो बुद्धिमान प्राणी है सो परिग्रह के आग्रह अर्थात् हठ को त्याग करके तथा देह में उपेक्षा अर्थात् देह नेह छोडकर निराकुल चैतन्य मात्र शरीर ही की भावना करता है। शुभ तथा अशुभ समस्त राग के दूर होने से मोह का विध्वंस होता है। मोह के जड मूल से चले जाने से तथा द्वेष रूपी जल से भरे मन रूपी घट के फूट जाने से पवित्र और श्रेष्ठ ज्ञान रूपी ज्योति सर्व उपाधि रहित और नित्य उदय रूप प्रगट होता है। कैसी है ज्ञान ज्योति, जो भेदज्ञान रूप वृक्ष का सच्चा फल है—जगत मे मगलरूप इस ज्ञान ज्योति को मैं बन्दना करता हू। यह आत्मा का स्वाभाविक सहज ज्ञान जो आनन्द के विस्तार से पूर्ण है सो मोक्ष अवस्था में प्रगट रहता है। ऐसे सहज ज्ञान की सदा जय हो। कैसा है यह सहज ज्ञान, जो सर्व बाधाओं से रहित है, प्रगट आत्मा की सहज अवस्था है, आत्मा के अन्तरग मे प्रगट है, अपने स्वाभाविक विलास रूप चैतन्य के चमत्कार मात्र स्वरूप में लीन है। तथा जिसने अपनी आत्म ज्योति से अज्ञान अन्धकार को दूर कर दिया है। तथा अपने चारित्र करके नित्य ही अभिराम अर्थात् सुन्दर है। मेरा आत्मा स्वाभाविक सहज ज्ञान का राज्य है सर्व

प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप है, ऐसा जानकर मै विकल्प रहित होता हूं।

दर्शनोपयोग स्वरूपाख्यानमेतत्:—

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो ।
केवलमिंदियरहियं तं सहावमिदि भणिदं ॥ १३ ॥

तथा दर्शनोपयोगः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणितः ॥

यथा ज्ञानोपयोगो वहुविधविकल्पसनाथः दर्शनोपयोगश्च तथा। स्वभावदर्शनोपयोगो विभावदर्शनोपयोगश्च। स्वभावोपि द्विविधः कारणस्वभावः कार्यस्वभावश्चेति। तत्र कारणदृष्टिः सदा पावनरूपस्य औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावपरभावनामगोचरस्य सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य निरावरणभावस्य स्वस्वभावसत्तामात्रस्य परमचैतन्यस्वरूपस्य अकृत्रिमपरमस्वस्वरूपाविचलस्थितिसनाथशुद्धचारित्रस्य। नित्यशुद्धनिरंजनबोधस्य निखिलपुरंध्रवैरवैरिसेनावैजयन्तीविध्वंसकारणस्य तस्य खलु स्वरूपश्रद्धानमात्रमेव अन्या कार्यदृष्टिः दर्शनज्ञानावरणीयप्रमुखघातिकर्मक्षयेण जातैव अस्य खलु क्षायिकजीवस्य सकलविमलकेवलावबोधबुद्धभुवनत्रयस्य स्वात्मोत्थपरमवीतरागसुखसुधासमुद्रस्य यथाख्याताभिधानकार्यशुद्धचारित्रस्य साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकस्य त्रैलोक्यभव्यजनताप्रत्यक्षवंदनायोग्य तीर्थंकरपरमदेवस्य केवलज्ञानवदियमपि युगपल्लोकालोकव्यापिनीति। कार्यकारणरूपेण स्वभावदर्शनोपयोगः प्रोक्तः।

विभावदर्शनोपयोगोप्युत्तरसूत्रस्थितत्वात् तत्रैव दृश्यत इति ।

दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मकमेकमेव चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्वं ।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुच्चैरेतेन मार्गेण विनान मोक्षः ।।

अब दर्शनोंपयोग के भेदों का प्रतिपादन करते है ।

सामान्य अर्थ—तैसे ही दर्शनोंपयोग दो प्रकार का है एक स्वभाव दर्शनोपयोग, दूसरा विभाव दर्शनोपयोग । जो केवल दर्शन इन्द्रियों के व्यापार रहित असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में दर्शनोपयोग का स्वरूप कथन है । जैसे ज्ञानोपयोग अनेक विकल्पो का धनी है ऐसे ही दर्शनपयोग भी है । स्वभाव और विभाव इस तरह दो भेद रूप है । स्वभाव दर्शनपयोग भी दो प्रकार का है, एक कारण स्वभाव दूसरा कार्य स्वभाव । अब कारण स्वभाव को कहते है कारण स्वभाव दृष्टि अपने स्वरूप की श्रद्धा मात्र ही है. निज रूप है, सदा पवित्र रूप है, औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायक ऐसे चार विभाव स्वभाव रूप भावों से अगोचर है सहज परम पारिणामिक भाव स्वभाव रूप है कारण समयसार अर्थात् कारण शुद्धात्मरूप है आवरणरहित स्वभाव है निज स्वभाव का सत्ता मात्र भाव है, परम चैतन्य स्वरूप है, अकृत्रिम परम स्वरूप में निश्चल स्थितिमय शुद्ध चरित्ररूप है, नित्य शुद्ध कर्माजनरहित ज्ञानरूप है तथा आत्मा के वैरी राग द्वेषादि सेना की ध्वजा को विध्वंस कर्ता है ऐसे आत्म रूप का निश्चय करके स्वरूपश्रद्धान मात्र ही कारण स्वभाव दशन है । दूसरो कार्य

स्वभाव दृष्टि है जो दर्शनावरणीय ज्ञानावरणीय आदि घातिया कर्मों के नाश होने से उत्पन्न हो जाती है। यह दृष्टि भी श्री तीर्थंकर परमदेव के केवल ज्ञान के समान एक ही समय मे लोक और अलोक को सामान्य अवलोकन करने वाली है। कैसे है श्री तीर्थंकर परमदेव, जो घातिया कर्मों के क्षय होने से क्षायकलब्धिधारी है, सम्पूर्ण रूप से निर्मल केवलज्ञान के द्वारा तीन लोक के ज्ञाता हैं, अपने आत्म स्वरूप से उत्पन्न परम वीतराग रूप जो सुख अमृत उसके समुद्र है, यथाख्यात नाम के कार्य रूप शुद्ध चरित्र के धारी है आदि रूप परन्तु अनन्त ऐसा अमूर्तिक अतीन्द्रिय स्वभाव की प्रगटता से शुद्ध सद्भूतव्यवहार-नयात्मक हैं, अर्थात् शुद्ध सद्भूतव्यवहार नय से अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभाव की प्रगटता हुई ऐसा कहने में आता है, तीन लोक के भव्य जीवों के द्वारा प्रत्यक्ष वदना के योग्य है। इस तरह कारण और कार्य रूप दर्शनोपयोग का स्वरूप कहा।

भावार्थ—शुद्ध परमात्म तत्व की सामान्य निश्चल श्रद्धा ही आत्मा के स्वभाविक गुण केवल दर्शन की व्यक्तता का साधन है, इसलिए कारण स्वभाव दृष्टि को उपादेय जान प्रीति करना योग्य है। यहाँ टीकाकार कहते है कि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप ही एक चैतन्य सामान्य का अपना आत्मीक तत्व है। यह तत्व अतिशय से मुक्ति की इच्छा करने वालों के लिए दर्पण के समान है। इस मार्ग के धारे बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती।

अशुद्धदृष्टिशुद्धाशुद्धपर्य्यायसूचनेयम् :—

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णिवि भणिदं
विभावदिच्छित्ति ।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥१४॥

चक्षुरचक्षुरवधयस्तिस्त्रोपि भणिता विभावदृष्टिरिति ।
पर्यायो द्विविकल्पः स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः ॥१४॥

मतिज्ञानावरणीय कर्मक्षयोपशमेन य । मूर्त वस्तु जानाति तथा चक्षुदर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमेन मूर्त वस्तु पश्यति च । यथा श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन श्रुतद्वारेण द्रव्यश्रुतनिगदितमूर्तामूर्तसमस्त वस्तु जात परोक्षवृत्या जानाति तथैवाचक्षुदर्शनावरणीयक्षयोपशमेन स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रद्वारेण यत्तद्योग्यविषयान् पश्यति च यथा अवधिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमेन समस्तमूर्त पदार्थ पश्यति । अ पयोगव्याख्यानन्तर पर्यायस्वरूपमुच्यते । परि समन्तात् भेदमेदि गच्छतीति पर्यायः । अत्रस्वभावपर्याय षड्द्रव्यसाधारण । अर्थपर्याय अवाङ्मनसगोचर अतिसूक्ष्म. आगमप्रामाण्यादभ्युपगम्यापि च षड्हानिवृद्धिविकल्पयुतः अनन्तभागवृद्धि असख्यातभागवृद्धिः सख्यात भाग वृद्धि सख्यातगुणवृद्धि. असख्यातगुण वृद्धि. अनन्तगुणवृद्धिः, तथा हानिश्च नीयते । अशुद्धपर्यायो नरनारकादिव्यञ्जनपर्याथ इति ।

अथ सति परभावे शुद्धमात्मानमेक
सहजगुणमणीनामाकर पूर्णबोधम् ।
भजति निशितबुद्धिर्य पुमान् शुद्धदृष्टि.

स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

इति परगुणपर्य्यायेषु सत्सूत्तमाना
हृदयसरसि जाते राजते कारणात्मा ।
सपदि समयासारं न परं ब्रह्मरूपं
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम् ॥

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः ।
क्वचित्सहजपर्य्ययैः क्वचिदशुद्धपर्य्यायकैः ।
सनाथमपि जीवतत्त्वमनाथं समस्तैरिद
नमामि परभावयामि सकलार्थसिद्धयै सदा ॥

सामान्य अर्थ— चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन प्रकार के दर्शन कहे गये है । पर्याय दो प्रकार की होती है, एक स्वपरापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष ।

विशेष अर्थ— इस गाथा मे अशुद्ध दर्शन और शुद्ध अशुद्ध पर्य्याय की सूचना है जैसे मतिज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान मूर्तिक पदार्थ को जानता है वैसे चक्षुदर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से चक्षुदर्शन मूर्तीक पदार्थों को देखता है । जैसे श्रुतज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से श्रुत द्वारा द्रव्यश्रुत अर्थात् द्वादशाग रूप जिनवचन में कहे हुए मूर्तीक और अमूर्तीक समस्त वस्तुओं को परोक्ष रूप से जानता है ऐसे ही अचक्षुदर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से अचक्षुदर्शन स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र के द्वारा अपनी इन्द्रिय के विषय को सामान्य रूप से देखता है, अर्थात् मालुम करता है । जैसे अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम से सम त

मूर्तीक पदार्थों को जानता है ऐसे ही अवधिदर्शन अवधि दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से मूर्तीक पदार्थों को देखता है । इस प्रकार उपयोग का व्याख्यान किया । अब पर्याय का स्वरूप कहते है । परि समतात् भेदन् एति गच्छति इति पर्य्याय: जो सर्व तरफ से भेद को प्राप्त हो अर्थात् जो परिणमन करे सो पर्याय है । प्रथम स्वभाव पर्याय है, यह छहों द्रव्यों में साधारण है, अर्थ पर्याय रूप है, वचन और मन के अगोचर है, अत्यन्त सूक्ष्म है । आगम प्रमाण से अनुभव करने योग्य है, तथा छ: प्रकार की वृद्धि और छ: प्रकार की हानि करके सहित है । अनत भागवृद्धि, असख्यात भाग वृद्धि, सख्यात भाग वृद्धि संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि:, अनत गुण वृद्धि:, इसी तरह से छ: भेद रूप हानि है । यह वृद्धि हानि अगुरु लघु गुण में होती है । इसका दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे समुद्र में जल उतना ही है उसमें जो तरगे उठती है फिर बैठ जाती है उनसे समुद्र के जल में हानि नही होती । जसे निर्मल शुद्ध रत्न की प्रभा में चमक की चंचलता हैं, कभी हीन कभी तीव्र है उसी प्रकार इस आगमोक्त वृद्धि और हानि को समझना । दूसरी अशुद्ध पर्याय है जो नर नारक तिर्यंच और देव रूप है । इसको व्यन्जन-पर्याय भी कहते हैं । यहाँ टीकाकार कहते है कि जो मनुष्य उत्कृष्ट भाव के होने पर निर्मल बुद्धि होता हुआ स्वाभाविक गुण रत्नो की खान पूर्ण ज्ञानमय एक अपने शुद्ध आत्मा का भजन करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष रूपी स्त्री का बर होता है । इस प्रकार उत्कृष्ट गुण और पर्याय के होने पर उत्तम पुरुषों के हृदय रूपी सरोवर में जो कारण रूप आत्मा शोभायमान होता है, हे भव्य रूपी सिंह, तू उसी परब्रह्म

रूप समयासार आत्मा को भजन कर, जो अपने ही स्वभाव में उदयमान है यह आत्मा कही अपने सत्यगुणों से शोभता है, कही अशुद्ध गुणो मे विराजता है, कही स्वाभाविक पर्यायो मे, तथा कही अशुद्ध पर्यायो मे शोभता है। ऐसा होने पर भी यह जीव तत्त्व समस्त विभाव गुण पर्यायो से रहित है, मैं सदा ही अपने सब प्रयोजनो की सिद्धि के लिए उसी तत्त्व को नमन करता हू और उसी की बार-बार भावना करता हू।

स्वभावविभावपर्यायसक्षेपोक्तिरियम् :—

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते साहवमिदि भणिदा ॥१५॥

नरनारकतियक्सुरा पर्य्यायास्ते विभावा इति भणिता।
कर्मोपाधिविवर्जितपर्य्यायास्ते स्वभावा इति भणिता. ॥१५॥

तत्र स्वभावविभावपर्य्यायाणा मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते। कारणशुद्धपर्य्याय: कार्यशुद्धपर्य्यायश्चेति। इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वरूपस्वभावानतचतुष्टयस्वरूपेण सहान्चितपचमभावपरणतिरेवकारणशुद्धपर्य्याय इत्यर्थ:। साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुख केवलशक्तियुक्तफलरूपानतचतुष्टयेन, सार्द्ध परमोत्कृष्टक्षायिकभाव-

शुद्धपरणतिरेव कार्यशुद्धपर्य्यायश्च । अथवा पूर्वसूत्रोपात्तसूक्ष्म-ऋजुसूत्रनयाभिप्रायेण षड्द्रव्यसाधारणाः सूक्ष्मास्ते हि अर्थ-पर्य्यायाः शुद्धा इति बोद्धव्याः । उक्तः समासतः शुद्धपर्य्याय-विकल्पः ।

इदानी व्यन्जनपर्य्याय उच्यते । व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यजनपर्य्यायः । कुतः लोचनगोचरत्वात् षट्चदिवत् । अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात्, दृश्यमान-विनाशस्वरूपत्वात् ।

व्यन्जनपर्य्यायश्च-पर्य्यायिनमात्मबोधमन्तरेण पर्य्यायस्वभा-वाच्छुभाशुभपरिणामेनात्मा व्यवहारेण नरो जातः तस्य नराकारो नरपर्य्यायः । किंचिच्छुभमिश्रमायापरिणामेन तिर्यक्काय जो व्यवहारेणात्मा, तस्याकारस्तिर्यक पर्य्यायः । केवलेन शुभकर्मणा व्यवहारेण आत्मा देवस्तस्याकारो देव-पर्य्यायश्चेति । अस्य पर्य्यायस्य प्रपन्चो ह्यागमान्तरे दृष्टव्य इति ।

> अपि च बहुविभावे सत्यय शुद्धदृष्टिः ।
> सहजपरमतत्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः ।
> सपदि समयसारा-न्नान्यदस्तीति मत्वा ।
> स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

आगे स्वभाव विभाव पर्य्याय का विस्तार कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—नर, नारक, पशु और देव ये चार मुख्य विभाव पर्याय कही गई हैं । जो पर्याय कर्मो की उपाधि से रहित है वे स्वभाव पर्याय हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथा में स्वभाव और विभाव पर्याय का सक्षेप कथन है। स्वभाव पर्यायो के मध्य में स्वभाव पर्याय दो भेद रूप कथन की जाती है। पहली कारण शुद्ध पर्याय दूसरी काय शुद्ध पर्याय। इस लोक मे शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से आदि और अन्त दोनो से रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वाभाव से शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन और स्वभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक परम वीतराग सुखमय शुद्ध अंतरग तत्त्व रूप स्वभावमय अनत चतुष्टय जो निजस्वरूप है उसके साथ विराजमान जो पचम पारिणामिक भाव की परिणति है वही कारण शुद्ध पर्याय है। कारण शुद्ध पर्याय का मनन कार्य शुद्ध पर्याय की उत्पत्ति का साधन है। आदि सहित और अत रहित जो अमूताक अतोन्द्रिय स्वभाव से शुद्ध ऐसे सद्‌भूत व्यवहार के नय द्वारा केवल ज्ञान केवश दर्शन केवल सुख और केवल वीर्य्य करके सहित फलरूप अनत चतुष्टय के साथ में परम उत्कृष्ट क्षायिक भाव की जो शुद्ध परिणति है वही कार्य शुद्ध पर्याय है।

भावार्थ शुद्ध आत्मा के शुद्ध निश्चय स्वरूप के साधने से ४ धातिया कर्मो का नाश होता है, जव क्षायिक भाव की प्राप्ति होकर अरहन्त अवस्था प्राप्त होती है। अथवा पूर्व सूत्र में कहे हुए सूक्ष्म, ऋजुसूत्र नय के अभिप्राय मे छः द्रव्यो में साधारण सूत्र जो अर्थ पर्याय है,वे भी शुद्ध पर्याय है ऐसा जानना योग्य है। इस तरह संक्षेप से शुद्ध पर्याय के भेदकहे हैं। जिस करके पदार्थ प्रकट हो सो व्यन्जन पर्याय है। जैसे खाट आदि की पर्याय अपने नेत्र गोचर है, अथवा आदि और अंत सहित मूर्तीक निज जाति सिवाय विजातीय विभाव स्वभाव को जो धारे तथा जो

दिखलाई पडे और नाश हो जाय सो व्यजन पर्याय है। ससारी जीवों के आत्मज्ञान के बिना अपनी पाई हुई जो पर्याय उसी रूप अपना स्वभाव कर लेने से जो अपने शुभ अशुभ से मिले मिश्रपरिणाम होते हैं उनके निमित्त से यह जीव व्यवहार नय करके नर होता है, अर्थात् मनुष्य के आकार नर पर्याय भोगता है। यही संसारी जीव कुछ शुभ कुछ मिश्र और मायाचार रूप परिणाम करके तिर्यंच की काय में जाता है, व्यवहार नय करके एकेंद्रियादि के आकार हाय तिर्यंच पर्याय भोगता है। यही जीव अपने केवल शुभ परिणामों के द्वारा बांधे हुए कर्मों के निमित्त से व्यवहार नय से देव का आकार और शरीर ग्रहण कर देव पर्याय को भोगता है। (अशुभ परिणाम से बांधे हुए कर्मों से व्यवहार नय करके नरक पर्याय को भोगता है) यह चारों गति रूप जीव के शरीरों की प्रगटता सो विभाव व्यजन पर्याय है। इन पर्यायों का विशेष स्वरूप अन्य आगम से जानना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि जीव के विभाव होने पर भी जो कोई सम्यग्दृष्टि तत्त्वाभ्यास में अपनी बुद्धि को जमा करके ऐसा मानता है कि शुद्ध आत्मा के स्वभाव सिवाय और कोई मेरा कल्याणकारी नहीं है वह जीव मुक्ति रूपी लक्ष्मी का पति होता है।

भावार्थ—अपनी इस पर्याय को कर्मकृत मान इसको त्याज्य समझ इससे उदासीन बुद्धि करके निज स्वभाव में रमने की उत्कंठा करनी योग्य है।

चतुर्गतिस्वरूपनिरूपणाख्यानमेतत्:—

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा ।
सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ॥१६॥

चउदहभेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा ।
एदेसिं विस्थारं लोयविभागेसु णादव्वम् ॥१७॥

जुम्मं

मानुषा द्विविकल्पा: कर्ममहीभोगभूमिसंजाता: ।
सप्तविधा नारका ज्ञातव्या: पृथ्वीभेदेन ॥१६॥

चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यञ्च: सुरगणाश्चतुर्भेदा: ।
एतेषां विस्तारो लोकविभागेषु ज्ञातव्य: ॥१७॥

मनोरपत्यानि मनुष्या: । ते द्विविधा: । कर्मभूमिजा, भोगभूमिजाश्चेति । तत्र कर्मभूमिजाश्च द्विविधा:-आर्या म्लेच्छाश्चेति । आर्या: पुण्यक्षेत्रवर्तिन: । म्लेच्छा: पापक्षेत्रवर्तिन: । भोगभूमिजाश्चार्यनामधेयधरा जघन्यमध्यमोत्तमक्षेत्रवर्तिन: । रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातम: प्रभाभिधसप्तपृथ्वीनां भेदान्नरकजीवा: सप्तधा भवन्ति । प्रथमनरकस्य नारका ह्य कसागरोपमायुष: १ । द्वितीयनरकस्य नारका: त्रिसागरोपमायुष: ३ । तृतीयनरकस्य सप्त ७ । चतुर्थस्य दश १० । पंचमस्य सप्त दश १७ । षष्ठस्य द्वाविंशति: २२ । सप्तमस्य त्रयस्त्रिंशत् ३३ । अथ विस्तारभयात् संक्षेपेणोच्यते । तिर्यंच:-सूक्ष्मकेन्द्रियपर्य्याप्तकबादरैकेन्द्रियपर्य्याप्तकापर्याप्तक-द्वीन्द्रियपर्य्याप्तकापर्य्याप्तकत्रीन्द्रियपर्य्याप्तकापर्य्याप्तकचतुरिन्द्रियपर्य्या-

प्तकापर्याप्तकासंज्ञिपचेन्द्रियपर्य्याप्तकापर्य्याप्तक--संज्ञिपंचेन्द्रिय-पर्य्याप्तकापर्य्याप्तकभेदाच्चतुर्दशभेदा भवंति । भावनव्यंतर-ज्योतिःकल्पवासिकभेदाद्देवाश्चतुर्णिकायाः । एतेषां चतुर्गतिजीव-भेदानां भेदो लोकविभागाभिधानपरमागमे दृष्टव्यः इहात्म-स्वरूपप्ररूपपणान्तरायहेतुरिति पूर्वसूरिभिः सूत्रकृद्भिरनुक्त इति ।

स्वर्गे वास्मिन्मनुजभुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा-
ज्ज्योतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे ।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिः
भूयो भूया भवतु भवतः पादपंकेजभक्तिः ॥
नानानूननराधिनाथविभवानाकर्ण्य चालोक्य च
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जड़मते पुण्यर्जितास्ते ननु -
तच्छक्तिर्जिननाथपादकमलद्वन्दार्चनायामिय ।
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भागाः स्युरेते त्वयि ॥

अब चार गति का विशेष स्वरूप कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, कर्म भूमिज और भोग भूमिज । नारकी ७ प्रकार के जानने चाहिये । पृथ्वी आदि भेद करके १४ प्रकार तिर्यंच है तथा चार प्रकार के देव होते हैं । इनका विस्तार 'लोक विभाग' नाम आगम में जानना योग्य है ।

विशेष अर्थ—इन गाथाओं में ४ पति का निरूपण है । मनु अर्थात् कुलकर उनके अपत्य अर्थात् सन्तानों को मनुष्य कहते हैं । कर्मभूमि के आदि और भोगभूमि के अन्त में १४ कुलकर

तथा ऋषभदेव और श्री भरत चक्रवर्ती को ले १६ कुलकर हुए है। इन्होंने ही मनुष्यों को आजीविका के साधन व अन्य आवश्यक कर्म बताये। यह कुलकर पिता समान रक्षक होते है। इसी कारण उनके द्वारा लालित पालित होने वाले सब मनुष्य कहलाये। अब यह शब्द रूढि रूप बर्तने में आता है। मनुष्य दो प्रकार के है एक कर्मभूमिज दूसरे भोगभूमिज। कर्मभूमि के मनुष्य भी दो प्रकार के हैं, आर्य और म्लेच्छ। जो पुण्य क्षेत्र निवासी है वे आर्य हैं और जो पाप क्षेत्रवर्ती हैं वे म्लेच्छ है। भोगभूमिजो को भी आर्य कहते है। ये जघन्य, मध्यम और उत्तम क्षेत्र में निवास करने से तीन भेद रूप हैं तथा रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम ऐसी सात प्रकार की प्रभाओं को धारण करने वाली सात पृथिवियां है, जिनके निवासी नारकी जीव सात प्रकार के होते है। पहले नरक के नारकी एक सागरोपम आयुधारी, दूसरे के तीन सागरोपम, तीसरे के सात, चौथे के दस, पाचवे के सत्रह, छट्ठे के बाईस और सातवे के तेतीस सागरोपम, आयुधारी हैं। यहाँ विस्तार के भय से सक्षेप कहा है। तिर्यचों में १४ भेद हैं—१ सूक्ष्म एकेन्द्रि पर्याप्त, २ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ३ वादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, ४ वादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, ५ द्वीन्द्रिय पर्याप्त, ६ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ७ तेन्द्रिय पर्याप्त, ८ तेन्द्रिय अपर्याप्त, ९ चौन्द्रिय पर्याप्त, १० चौन्द्रिय अपर्याप्त, ११ पंचेन्द्री असंज्ञी, पर्याप्त, १२ पंचेन्द्रीय असंज्ञी अपर्याप्त, १३ सज्ञी पंचेन्द्रीय पर्याप्त, १४ संज्ञी पंचेन्द्रीय अपर्याप्त। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पवासी ऐसे देवों में चार जाति

के समूह है। इन चारो गति सम्बन्धी जीवो का वर्णन लोक विभाग नाम परमागम से जानना योग्य है। यहाँ आत्मस्वरूप का कथन है, अतः लोक का विशेष कथन सूत्रकार पूर्वाचार्य ने यहाँ नही किया है। यहाँ टीकाकार प्रार्थना करते हैं कि हे जिनेन्द्र स्वर्ग में हो, इस मनुष्य भव मे व विद्याधरो के लोक में हो व देवलोक, ज्योतिलोक व भवनवासी के भवन में, व नारकियो के निवास में हो, व जिनेन्द्र भवन में हो व अन्य किसी स्थान मे हो हमें कर्मो का उत्पत्ति न हो, परन्तु पुनः पुनः आपके चरण कमलो की भक्ति ही हमको प्राप्त होवे। हे जीव तू राजा महाराजाओं की विभूति को सुनकर व देखकर क्यों खेद करता है? हे जड़बुद्धि, सब पुण्य से पैदा होती है यदि श्री जिनेन्द्र के चरण कमलों में तेरी भक्ति है और उन चरणों की पुजा में लवलीन है, तो यह नाना प्रकार के भोग आपसे आप हो जायेंगे।

कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रकारकथनमिदम्:—

"कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥१८॥

कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारात्।
कर्मजभावेनात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयतः ॥१८॥

आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरूपाणा सुखदुःखाना भोक्ता च, आत्मा हि अशुद्ध-निश्चयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणा कर्ता भोक्ता च। अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणा कर्ता। उपचरिता-

सद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्ता । इत्युशुद्धजीव-स्वरूपमुक्तम् ।

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः
परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात् ।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुध्द्वा
स भवति परमश्रीकाभिनाकान्तकान्तः ।।

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम्
द्रव्यकर्मनिरोधेन संसारस्य निरोधनम् ।
संज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म ।।
निर्मुक्तमार्गमणुमप्यभिवान्छितुं नो
जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके ।
यः कर्मशर्म्मनिकरं परिहृत्य सर्वम
निःकर्मशर्म्मनिकरामृतवारिपूरे ।।
मज्जन्तमत्यधिकचिन्मयमेकरूपं
स्वं भावमद्वयममुं समुपैति भव्यः ।
असति सति विभावे तस्य चिंतास्ति नो नः
सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकं ।।
हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तम्
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात ।
भवनिभवगुणाः स्युः सिद्धजीवेपि नित्यम्
निजपरमगुणाः स्युः सिद्धिसिद्धाः समस्ताः ।।

व्यवहरणनयोय निश्चयान्नैवसिद्धि-
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽय बुधानाम् ॥

आगे कर्त्ता भोक्तापने को कहते है :—

सामान्य अर्थ—यह आत्मा पुद्गल कर्म का कर्त्ता और भोक्ता होता है सो व्यवहार नय से है कर्म से उत्पन्न हुए जो भाव तिनका कर्त्ता और भोक्ता है सो अशुद्ध निश्चय नय से है।

विशेषार्थ—इस गाथा में कर्त्ता और भोक्तापने का कथन है निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से यह आत्मा द्रव्य कर्म जो ज्ञानावरणादि तिनका कर्त्ता है और तिनके फल जो सुख और दुःख तिनका भोक्ता है। तथा यही आत्मा अशुद्ध निश्चय नय करके सम्पूर्ण मोह राग द्वेष आदि भाव कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से नो कर्म जो औदारिक शरीरादि तिनका कर्त्ता है, तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से यह आत्मा घट पट रथ गाडी आदि पदार्थो का कर्त्ता है। इस प्रकार अशुद्ध जीव का स्वरूप कहा।

भावार्थ - आचार्य यह बतलाते हैं कि कोई एक अनादि शुद्धबुद्ध ईश्वर कर्त्ता नहीं है, किन्तु यह ससारी अशुद्ध आत्मा ही नाना प्रकार की अवस्थाओं का बनाने वाला और अपने ही कर्तव्य के अनुसार सुख दुःख फलों को भोगने वाला है। शुद्ध निश्चय नय जो वस्तु के यथार्थ शुद्ध स्वभाव को बतलाने वाला है उसकी अपेक्षा यह आत्मा निज शुद्ध पारिणामिक भाव का ही कर्त्ता और भोक्ता है। परन्तु अशुद्ध निश्चय नय जो वस्तु अशुद्ध भाव को बतलाने वाला है उसकी अपेक्षा से यह आत्मा

पूर्व बांधे कर्मों के परिणमन के निमित से पैदा होने वाले जो राग द्वेषादि औपाधिक भाव तिनका कर्त्ता और भोक्ता है। अत्यन्त निकट अर्थात् एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध को बतलाने वाला ऐसा जो अनुपचरित अर्थात् जिसको मात्र कल्पना ही नहीं किया है किन्तु जो वास्तव में सम्बन्धित है तथा जो असद्भूत अर्थात् आत्मा की सत्ता में द्रव्य कर्मो का कर्त्ता और तिनके बाह्य प्रगट होने वाले सुख दुःख का भोक्ता है। तथा दूरवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय करके यह आत्मा स्थूल शरीर का कर्ता है। तथा कल्पना मात्र ऐसे उपचरित और असद्भूत व्यवहार नय से यह आत्मा पर पदार्थ जिनका अपने से अर्थात् अपने प्रदेशों से बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है ऐसे घट पटादि का कर्त्ता है। यहाँ टीकाकार ने आत्मानुभव करके कहा है कि जो आत्मा रागद्वेष मोह में लिप्त हो रहा है यदि परम गुरु के चरण कमल की सेवा करे तो उसके प्रसाद से स्वाभाविक शुद्धात्म रूप का जो विकल्प अर्थात भेद रहित है उसको पहचान करके मोक्ष रूप स्त्री का बर हो जाता है। क्योंकि भाव कर्म जो रागादि इनका रोकने से द्रव्य कर्म रुकते है और द्रव्य कर्मों के सवर से ससार का निरोध है। यह मूढ़ जीव सम्यग्ज्ञान रूपी भाव से छूटा हुआ शुभ तथा अशुभ अनेक प्रकार के कर्मों को करता है। यदि यही जीव कर्म रहित मोक्ष मार्ग की थोडी भी इच्छा करके उसको जाने तो इस लोक में उसकी रक्षा का उपाय दूसरा नहीं है। जो जीव कर्म जनित सम्पूर्ण बाधा रूप सुख को त्यागता है वह सम्यग्दृष्टि भव्य आत्मा कर्म रहित निराकुल आनन्द समूह रूप अमृत के समुद्र

में डूबे हुए अत्यन्त ही शुद्ध चैतन्य मय एक रूप अद्वितीय अपने आत्मीक भाव को प्राप्त करता है। मेरे में वास्तव में कोई विभाव नहीं है, इसलिए मुझे उसकी कोई चिन्ता नही है। मै निरन्तर अपने हृदय कमल में विराजमान सर्व कर्म से रहित एक शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता हूं, क्योंकि उसके बिना अन्य किसी भी प्रकार से निश्चय करके इस जीव को मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती है। ससारी जीव में सासारिक विभाव गुण होते हैं। परन्तु सिद्ध जीव में नित्य समस्त ही सिद्ध किये हुए निज उत्कृष्ट गुण रहते हैं। यह कथन भी व्यवहार नय से ही है। निश्चय नय से न तो सिद्ध ही है, और न संसारी ही है। बुद्धिमानों का ऐसा ही निर्णय है।

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध निश्चय से जैसा इसका शुद्ध स्वभाव है वैसा ही है, उस आत्मा में विकल्प करना कि यह आत्मा ससारी है अथवा यह आत्मा सिद्ध है यह सब व्यवहार नय से है।

इह हि नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम्:—

दव्वत्थियएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणयेण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेंहिं ॥१९॥

द्रव्यार्थिकेन जीवा व्यतिरिक्ता पूर्वभणितपर्यायात्।
पर्यायनयेन जीवा संयुक्ता भवंति द्वाभ्याम् ॥१९॥

द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। न खलु

एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्यः। किं तदुभयायत्तोपदेशः ? सत्ता-ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकबलेन पूर्वोक्तव्यन्जनपर्य्यायेभ्यः सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्तजीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव। कुतः "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति वचनात्। विभावव्यंजनपर्य्यायार्थिकबलेन ते सर्वजीवास्संयुक्ता भवन्ति। किंचसिद्धानामर्थ-पर्य्यायैः सह परिणतिः, न पुनर्व्यंजनपर्य्यायैः सह परिणतिरिति। कुतः, सदा निरंजनत्वात् सिद्धाना सदा निरंजनत्वे सति बहिर्द्रव्यार्थिकपर्य्यायार्थिकनयाभ्याम् द्वाभ्याम् संयुक्ता सर्वे जोवा इति सूत्रार्थो व्यर्थ। निगमो विकल्पः तत्र भवो नैगमः। स च नैगमनयस्तावत् त्रिविधः, भूतनैगमः। वर्तमाननैगमः। भाविनैगमश्चेति। अत्र भूतनैगमनयापेक्षया भगवता सिद्धानामपि व्यन्जनपर्य्यायत्वमशुद्ध च सभवति। पूर्वकाले ते तावन्तः ससारिण इति व्यवहारात्। किंबहुना सर्वे जोवा नयद्वयबलेन शुद्धाशुद्धाः इत्यर्थः।

तथा चोक्तं श्रीमदभयचन्द्रसूरिभिः—

उभयनयविरोधध्वसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै–
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षत एव।

तथाहि—

अथ नययुगयुक्ति लवयतो न सतः
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफाः।
सपदि समयसार ते ध्रुव प्राप्नवन्ति
क्षितिषु परमतोक्तं किं फलं सज्जनानाम्॥

इति सुकविजनपयोजमित्र--पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्र-परिग्रह श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचिताया नियमसार-व्याख्यायां तात्पर्य्यवृतौ जोवाधिकारः प्रथमश्रुतस्कन्धः ॥१॥

आगे दोनों नयों की सफलता को कहते है—

सामान्यार्थ—द्रव्यार्थिक नय से ये जीव पूर्व कही हुई पर्यायों से अलग है, परन्तु पर्याय नय से ये जीव उनसे सयुक्त है। दोनों नयों का यह अभिप्राय है।

विशेषार्थ—इस गाथा में दोनों नयों की सफलता को बतलाया है। ये दोनों नय भगवत् अर्हंत परमेश्वर ने कहे हैं। द्रव्य ही अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसका है वह द्रव्यार्थिक नय है, पर्य्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्य्यायार्थिक नय है। एक नय से दिया हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य नही है किन्तु दोनों नयों के द्वारा कहा हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य है। वस्तु की सत्ता मात्र को ग्रहण करने वाला ऐसा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। इसके बल से पूर्व कही हुई व्यजन पर्यायो से मुक्त अर्थात् बध रूप समस्त जीवराशि सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि शुद्ध नय से सब ही जीव शुद्ध है। यह वचन श्रीद्रव्यसग्रहजी का है। विभाव व्यजन पर्य्यार्थिक नय के बल से सर्व जीव इन पर्यायों से सयुक्त है। सिद्ध जीवों का परिणमन अर्थ पर्यायों के द्वारा होता है व्यंजन पर्यायों के द्वारा नही होता क्योंकि श्रीसिद्ध महाराज सदा निरंजन हैं, अर्थात् कर्म रूपी अंजनों से रहित है। प्रगट रूप से अवस्था का बदलना सो व्यजन पर्याय है, जैसे देव से मनुष्य होना। प्रगट रूप से एक पर्याय रहते हुए अतरग गुणो

में परिणमन होना सो अर्थ पर्याय है। जैसे श्री सिद्ध महाराज का एक गुण अनन्त ज्ञान है। ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थों को जाने सो ज्ञान। ज्ञेय पदार्थ समय समय उत्पत्ति विनाश और ध्रौव्य गुण से सयुक्त है। ऐसा ही अनन्त ज्ञान में भी परिणमन होना है। यहां कोई शंका करे जब सिद्ध सदा निरंजन है तब गाथा में यह कहना व्यर्थ होगा कि सर्व जीव द्रव्यार्थिक पर्यार्थिक नयों के द्वारा दोनो पर्यायो करके सयुक्त है इसका समाधान इस भाति है कि नैगम नय तीन प्रकार है—निगम नाम विकल्प का है विकल्प में होवे सो नैगम है। भूत नैगम, वर्तमान नैगम और भावि नैगम। गत अवस्था का विकल्प पदार्थ में कहना सो भूत नैगम, वर्तमान अवस्था का विकल्प सो वर्तमान नैगम—सम्पूर्ण कार्य न होते हुए कार्य होना कहना, भावी अवस्था को पदार्थ में कहना सो भावी नैगम। यहाँ पर भूत नैगम नय को अपेक्षा से सिद्धों के भी व्यजन पर्याय की सभवता है। सिद्ध अवस्था होने के पूर्व सर्व जीव ससारी अशुद्ध होते है। अधिक क्या कहे सर्व ही जीव दोनो नयों के द्वारा शुद्ध और अशुद्ध है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है :—जो जीव स्यात् पद से चिन्हित और दोनो नय अर्थात् निश्चय व्यवहार नय के विरोध को दूर करने वाले ऐसे जिनेन्द्र के वचनो में रमते हैं वे मोह को वमन कर देते है और शीघ्र ही अतिशय से परम ज्योति रूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मा तिसको देखते ही हैं। कैसा है समयसार, जो नवीन नही है तथा किसी खोटी नय की पक्ष से खण्डने योग्य नही है। यहां टीकाकार कहते हैं जो सतपुरुष दोनो नयों की युक्तियो को नही उल्लघन करते हुए

परम जिनेन्द्र के चरण कमलों के मत्त भ्रमर हो जाते हैं, अर्थात् भौंरे के समान भगवत् भक्ति में लीन हो जाते हैं। वे संत शीघ्र ही सदा नित्य रूप समय सार को प्राप्त करते हैं। सज्जनों को इस जगत में अन्य कथन से क्या फल की सिद्धि होगी।

भावार्थ—दोनों नयों से जीव का स्वरूप समझ कर हम को उचित है कि हम परमात्मा की भक्ति में अपने उपयोग को लीन करें।

इस प्रकार सुकवि रूप कमलों के लिए सूर्य के समान, पंचेन्द्रियों के फैलाव से रहित, शरीर मात्र परिग्रह के धारी श्रीपद्मप्रभमलधारीदेव रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति मे जीवाधिकार नामक प्रथमश्रुत स्कध पूर्ण हुआ।

अथेदानीमजीवाधिकार उच्यते। पद्गलद्रव्यविकल्पन्यासोऽयम्:—

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।
खंधा हु छप्पयारा परमाणू चेव दुवियप्पो ॥२०॥

अणस्कन्धविकल्पेन तु पुद्गलद्रव्यं भवति द्विविकल्पम्।
स्कन्धाः खलु षट्प्रकाराः परमाणुश्चैव द्विविकल्पः ॥२०॥

पुद्गल द्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनाथम्। स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः, विभावपुद्गलः स्कन्धः। कार्यपरमाणुः कारणपरमाणुरिति स्वभावपुद्लो द्विधा भवति। स्कंधाः षट्प्रकाराः स्युः, पृथ्वीजलच्छायाचतुरक्षविषय-कर्मप्रायोग्याप्रायोग्यभेदाः। तेषां भेदो वक्ष्यमाणसूत्रेषूच्यते विस्तरेणेति।

गलनादणुरित्युक्त पूरणात्स्कन्धनामभाक् ।
विनानेन पदार्थेण लोकयात्रा न वर्तते ॥

सामान्यार्थ—पुद्गल द्रव्य के दो भेद है, एक अणु दूसरा स्कन्ध। स्कन्ध निश्चय करके छः प्रकार है और परमाणु दो प्रकार है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पुद्गल द्रव्य के भेदो का कथन है। प्रथम ही पुद्गल द्रव्य के दो भेद है। एक स्वभाव पुद्गल दूसरा विभावपुद्गल। परमाणु स्वभाव पुद्गल है और स्कध विभाव पुद्गल है। स्वभावपुद्गल के दो भेद है एक कार्यपरमाणु, दूसरा कारणपरमाणु। स्कध छः प्रकार के होते हैं—पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रिय के विषय रूप पदार्थ जैसे शब्द सुगन्ध आदि, कार्माण योग्य पुद्गल वर्गणा और कर्म अयोग्य पुद्गल ऐसे छः भेद हैं। इनका स्वरूप आगे की गाथाओं में विस्तार से कहेंगे। "स्कन्धों के गलने से अणु होता है और अणुओं के मिलने से स्कन्ध होता है। इस पुद्गल पदार्थ के बिना लोक यात्रा नहो हो सकती अर्थात् जीव को इस लोक में भ्रमण और पर्यायों में निवास पुद्गल द्रव्य के द्वारा ही होता है।

विभाव पुद्गल स्वरूपाख्यानमेतत्:—

अइथूलथूल थूलं थूलंसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि धरादियं होदि छब्भेयं ॥२१॥
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णोया सप्पीजलतेलमादीया ॥२२॥

छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खंधा चउरक्खविसया य ॥२३॥

सुहमा हवंति खंधापावोग्गाकम्मवग्गस्क पुणो ।
तव्विवरीया खंधाअइसुहमा इदिपरुवेंदि ॥२४॥

चउक्कम् ।

अति स्थूलस्थूलाः स्थूलाः स्थूलसूक्ष्माश्चस्थूलसूक्ष्माश्च ।
सूक्ष्मा अति सूक्ष्मा इति धरादयोभवंतिषट् भेदाः ॥२१॥

भूपर्वताद्या भणिता अति स्थूल स्थूलाः इति स्कधाः ।
स्थूला इति विज्ञेयाः सर्पिजलतैलाद्याः ॥२२॥

छायातपाद्याः स्थूलेतर स्कन्धाइति विजानीहि ।
सूक्ष्म स्थूलाइति भणिताः स्कन्धाश्चतुरक्षविषयाश्च ॥२३॥

सूक्ष्मा भवन्ति स्कन्धप्रायोग्याः कमवगण य पुनः ।
तद्विपरीताः स्कन्धाः अतिसूक्ष्मा इति प्ररूपयन्ति ॥२४॥

चतुष्कं ।

अतिस्थूलस्थूला हि ते खलु पुद्गलाः सुमेरुकुम्भिनीप्रभृतयः । घृततैलतक्रक्षीरजलप्रभृतिसमस्तद्रव्याणि हि स्थूलपुद्गलाश्च । छायातपतमः-प्रभृतय. स्थूलसूक्ष्मपुद्गलाः । स्पर्सन रसनघ्राण-श्रोत्रेन्द्रियाणांविषयाः सूक्ष्म स्थूल पुग्दलाः शब्द स्पर्श रसगधाः । शुभाशुभपरिणामद्वारेणागच्छतां शुभाशुभकर्मणां योग्याः सूक्ष्मपुद्गलाः ऐतेषां विपरीताः सूक्ष्मसूक्ष्मपुद्गलाः कर्मणामप्रयोग्या इत्यर्थः । अयं विभावपुद्गलक्रमः तथाचोक्तं पंचास्तिकायसमयमध्ये—

"पुढवी जल च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा ।
कम्मातीदा एव छब्भेया पोग्गला होंति ।

उक्त च मार्गप्रकाशे—

स्थूलस्थूलास्तत स्थूला स्थूलसूक्ष्मास्ततः परे ।
सूक्ष्मस्थूलास्तत. सूक्ष्माः सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः परे ।।

तथा चोक्त श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि.—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकानाट्ये
वर्णादिमान् नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरय च जीव ।
इति विविधविकल्पे पुद्गले दृश्यमाने
न च कुरु रतिभाव भव्यशार्दूल तस्मिन् ।
कुरु रतिमतुला त्व चिच्चमत्कारमात्रे
भवसि हि परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।

सामान्यार्थ–इन ४ गाथाओं में विभाव पुद्गल के स्वरूप का व्याख्यान है। अत्यन्त स्थूल व पुद्गल हैं जो पर्वत पृथ्वी आदि के समान हैं। घी तेल, मठा दूध जल आदि बहने वाले द्रव्य स्थूल जाति के पुद्गल है। छाया, आतप, अधकार आदि स्थूल-सूक्ष्म पुद्गल हैं। स्पर्श रसन घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय भूत पदार्थ सूक्ष्मस्थूल जाति के पुद्गल है अर्थात् शब्द, स्पर्श, रस गंध ये सूक्ष्मस्थूल हैं। शुभ और अशुभ आत्मा के परिणामों के द्वारा आने वाले शुभ और अशुभ कर्मों के योग्य होने वाले

कार्म्माण स्कन्ध सूक्ष्मपुद्गल हैं। इन सबसे विरुद्ध जो स्कंध कर्मवर्गणासे भी सूक्ष्म हैं वे अत्यन्त सूक्ष्मस्कंध हैं। इस प्रकार विभाव पुद्गल के छः भेद हैं। ऐसा ही पचास्तिकाय और मार्ग प्रकाश ग्रथ में कहा है और उनके कथन का अभिप्राय ऊपर कहा जा चुका है। इसी प्रकार श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि 'इस महा भारी अनादि काल से होने वाले अज्ञान रूपी नृत्य के अखाडे मे वर्ण स्पर्श रस गध गुण का धारी पुद्गल ही नृत्य कर रहा है। इसके सिवाय दूसरा कोई नृत्य करने वाला नहीं है। यह जीव तो रागद्वेष आदि विकारो से विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातु की एक मूर्ति है।'

भावार्थ—पुद्गल कर्म के ही निमित्त से जीव भ्रमता है, निश्चय करके आत्मा शुद्ध निर्विकार है। गति से गत्यन्तर होना इसका स्वभाव नहीं है इसी कारण आचार्य ने नाट्य करने वाला पुद्गल ही को कहा है। क्योकि श्री गुरु की इच्छा इस भव पिजरे में फसे हुए जीव को अपने शुद्धस्वरूप के स्मरण कराने की है। जब तक यह आत्मा अपनी शुद्धता का निश्चय नही करता तब तक रागद्वेष को हटा नहो सकता। रागद्वेषो को बिना दूर किये कर्म बध की सतति का अभाव नहीं होता। इस कारण कल्याणार्थी आतमा को अपना शुद्ध स्वरूप अनुभवना योग्य है। यही शिक्षा उपादेय है। टीकाकार कहते हैं कि हे भव्यसिह अर्थात् सिह के समान भव्यात्मा तू नाना प्रकार के पुद्गलों का भेद जगत् में देखकर उनमें अपनी प्रतिभाव को न कर - तू अपनी रति अपनी लौलीनता उस अतुल चैतन्य के

चमत्कार में कर, जिसके प्रभाव से तू मोक्ष रूप स्त्री का वर हो जावेगा।

भावार्थ—मोक्ष पाने का यही उपाय है जो अपनी चैतन्य सत्ता भूमि में कल्लोल करे और पर वस्तु क्रीडा करने का त्याग करे।

कारणकार्यपरमाणुद्रव्य स्वरूपाख्यानमेतत्:—

धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणंति तं णेयो।
खंधाणां अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ॥२५॥

धातुचतुष्कस्य पुनः यो हेतुः कारणमिति स ज्ञेयः।
स्कन्धानामवसानो ज्ञातव्यः कार्यपरमाणुः ॥२५॥

पृथिव्यप्तेजोवायवो धातवश्चत्वारः तेषां यो हेतुः स कारणपरमाणुः, स एव जघन्यपरमाणुः स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात्, समविषमबंधयोरयोग्यइत्यर्थः। स्निग्धरूक्षगुणानामनन्तत्वस्योपरि द्वाभ्याम् चतुर्भिः समबंधः। त्रिभिः पंचभिर्विषमबंधः। अयमुत्कृष्टपरमाणुः गलतां पुद्गलद्रव्याणाम् अन्तोऽवसानस्तस्मिन् स्थितो यः स कार्यपरमाणुः। अणवश्चतुर्भेदाः कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदैः, तस्य परमाणुद्रव्यस्य स्वरूपस्थितत्वात् विभावाभावात् परमस्वभाव इति। तथा चोक्तं प्रवचनसारे:—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि वज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥

णिधत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बधमणुहवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पचगुण जुत्तो ।।

तथा हि :—

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम ।
आत्मानमक्षयं शुद्ध भावयामि मुहुर्मुहुः ।।

आगे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु का हेतु कहते है :—

सामान्य अर्थ—चार धातु का जो हेतु है, वह कारण परमाणु है तथा स्कन्धों का अंतिम भाग कार्य परमाणु है ऐसा जानना योग्य है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में कारण परमाणु द्रव्य और कार्य परमाणु द्रव्य का स्वरूप वर्णित है । पृथ्वी. जल तेज और वायु ये चार धातु हैं । इन चार धातुओं का जो कारण है वह कारण परमाणु है । अर्णात् जिन परमाणुओं के सम्वन्ध से ये चार धातुएं परिणत होती है, स्कन्ध रूप दीखती हैं, वे परमाणु कारण परमाणु कहलाते हैं । ये कारण परमाणु ही जघन्य परमाणु है । इनमें स्निग्ध और रुक्ष गुणों का सब से जघन्य अनन्तवा भाग रहता है । यह सम अथवा विषमरूप से दोनों प्रकार भी बध योग्य नही है अर्थात् यह जघन्य परमाणु सम या विसम किसी से बध को प्राप्त नही हागो यह निबंध है । —दो गुण स्निग्ध व रूक्ष वाला परमाणु अन्य दो गुण स्निग्ध व रूक्ष से बधता है और न तीन गुण रूक्ष व स्निग्धवाला परमाणु तीन गुणों से बधता है किन्तु ि नग्ध रूक्ष गुणो की अनंतता के

ऊपर के परमाणु जिनमें दो गुण होंगे वे चार गुण वाले पर-माणुओ से बधेगे । जो तीन गुण वाले परमाणु होंगे वे पाच गुणवाले परमाणुओं से बधेगे । दो गुण मे अधिक से ही बध होता है। यही (बध योग्य) उत्कृष्ट परमाणु है। पुद्गल द्रव्य स्कन्धों के गलते हुए अन्तिम अवस्था में रहा हुआ जो परमाणु सो कार्य परमाणु है। इस प्रकार अणु चार प्रकार के हैं—कार्यरूप, कारणरूप, जघन्यरूप, उत्कृष्टरूप। यह परमाणु द्रव्य अपने स्वरूप मे स्थिर रूप होने से विभाव भाव से रहित है। इसलिए परमस्वभाव है। ऐसा ही श्री प्रवचनसार में 'णिद्धा वा' आदि गाथा में कहा है जिसका अर्थ उपर आ गया है। विशेष यह है कि स्निग्ध रूक्ष से रूक्ष रूक्ष से, स्निग्ध स्निग्ध मे सम हो व विषम दो गुण अधिक होने मे बध प्राप्त होता है। टीकाकार श्रीपद्मप्रभुमलधारिदेव कहते हैं 'कि मैं छः प्रकार स्कन्ध और चार प्रकार परमाणुओ से अपने आत्मा को भिन्न शुद्ध अक्षय रूप बारम्बार भावता हूं।

भावार्थ–पुद्गल चाहे स्कंध हो वा अणु हो शुद्ध आत्मा के ज्ञानानन्दमय टकोत्कीर्ण परम स्वभाव से सर्वथा भिन्न है। उसकी भावना कार्यकारी नही है। इसलिए शुद्ध आत्मस्वभाव की बारम्बार भावना ही उपादेय, कार्यकारी और कर्त्तव्य है। जो भावना भावक पुरुष को उपशम भाव प्रदान कर सुधारस गर्भित परमाह्लाद को प्रदान करती है।

परमाणुविशेषोक्तिरियम्:—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं ।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ॥२६॥

आत्म आत्ममध्यमात्मान्त तन्नैवेन्द्रियग्राह्यम् ।
अविभागि यद्द्रव्य परमाणु तद् विजानाहि ॥२६॥

यथा जीवाना नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्तस्थिताना सहजपरमपारिणामिकभावविवक्षासमाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपादप्रच्यवनत्वमुक्तम् तथा परमाणुद्रव्याणां पचभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणामे तस्यैवादि मध्यो हि आत्मपरिणतरात्मैव । अतोऽपिस्वस्यात्मव परमाणुरतः न चेन्द्रियज्ञानगोचरत्वाद् अनिलानलादिभिर वनश्वरत्वाविभागी —हे शिष्य स परमाणुरिति त्व त जानीहि ।

अप्यात्मनि स्थिति बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मन ।
सिद्धास्ते कि न तिष्ठन्ति स्वस्वरूपे चिदात्मनि ॥

अब परमाणु विशेष को कहते हैं—

सामान्यार्थ—जिसका स्वय स्वरूप ही आदि मध्य और अतरूप है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य नही है ऐसा अविभागी जिसका दूसरा भाग नही हो सके सो द्रव्य परमाणु जानने योग्य है ।

विशेषार्थ—जैसे नित्य अनित्य निगोद से ले सिद्धक्षेत्रपर्यंत स्थित सर्व ही जीव अपने स्वाभाविक परम पारिणामिक भावरूप सहज निश्चय नय के द्वारा अपने असली स्वरूप से कभी

च्युत—पतित नहीं होते, तैसे ही परमाणु द्रव्य पारिणामिकभाव की अपेक्षा से परमस्वभाव का धारा है। उस परमाणु की आत्मा ही आदि है अर्थात् वह स्वय आदि रूप है वही मध्य रूप है वही अतरूप है। जैसे आत्मा अपने स्वरूप का आप ही आदि मध्य अतरूप है वैसे ही परमाणु का भो जानना अर्थात् आत्मा जैसे आदि मध्य अतरहित है, वेमे परमाणु को भी अनुभव करना। आदि मध्य अंतरूप वही स्वयं है। इसलिए वह परमाणु अपने आत्मा के समान पचेन्द्रिय ज्ञानगोचर नहीं है। वह परमाणु निर्मल है अग्नि आदि से अविनाशी है, विभाग-रहित अविभागी है। हे शिष्य परमाणु का स्वरूप तुम ऐसा जानो। टीकाकार कहते हैं जड स्वरूप पुद्गल की स्थिति में पुद्गल में ही जानकर वे सिद्ध जीव अपने चेतन्य स्वरूप चिदात्मा में क्यो नही तिष्ठ, अपि तु तिष्ठे ही तिष्ठे।

स्वभावपुद्गलस्वरूपाख्यानमेतत्:—

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥२७॥

एकरसरूपगंधः द्विस्पर्शः स भवेत्स्वभावगुणः।
विभावगुणा इति भणितो जिनसमये सर्वप्रकटत्व ॥२७॥

तिक्तकटुककषायाम्लमधुराभिधानेषु पचसु रसेष्वेकरसः। श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णष्वेकवर्ण सुगन्धदुर्गन्धयोरेकगध। कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षभिधानामष्टानामन्त्यचतु स्पर्शविरोधस्पर्शनद्वयम्। एते परमाणोः स्वभावगुणाः जिनानां

मते। विभावगुणात्माको विभावपुद्गलः। अस्य द्वयणुकादि-स्कंधरूपस्य विभावगुणाः सकलकरणग्रामग्राह्या इत्यर्थः।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि।

उक्तं च मार्गप्रकाशे —

वसुधान्त्यचतुर्स्पर्शेषु चिन्त्यं स्पर्शनद्वयम।
वर्णो गन्धो रसश्चैकः परमाणोः न चेतरे॥

तथा हि—

अथ सति परमाणोरेकवर्णादिभास्व—
न्निजगुणनिचयेऽस्मिन् नास्ति मे कार्यसिद्धि।
इति निजहृदि मत्वा शुद्धमात्मानमेकम्
परमसुखपदार्थी भावयेद्भव्यलोकः॥

आगे स्वभाव पुद्गल का स्वरूप कहते हैं—

सामान्य अर्थ--एक रस एक रूप एक गंध और दो स्पर्श इतने गुणो से सहित स्वभाव गुण पुद्गल का जिन आगम में प्रकट रूप से कहा है।

विशेषार्थ—इस गाथा में स्वभाव पुद्गल के स्वरूप का कथन है। तीखा, कड़वा, कषायला, आमल, और मधुर इन पाँच प्रकार के रसों में से एक रस होता है। श्वेत, पीला, लाल, हरा, काला इन पांच वर्णो में एक वर्ण होता है। सुगंध और दुर्गन्ध

में से एक गंध होती है । कड़ा. कोमल भारी, हलका, शीत, उष्ण. चिकना, रूखा इन आठ स्पर्शो में से अन्त में कहे जो चार स्पर्श उनमें से अविरोधी दो स्पर्श होते हैं अर्थात् शीत अथवा उष्ण व चिकना अथवा रूखा। इस प्रकार पांच ही गुणपुद्गल परमाणु के स्वाभाविक गुण है ऐसा जिनेन्द्र भगवान के आगम का मत है। विभावगुण रूप विभाव पुद्गल हैं। वह दो अणु आदि से ले सख्यात असख्यात अनन्त अणुओं के स्कध रूप है, विभाग गुणधारी है। सम्पूर्ण इन्द्रिय ग्रामों के द्वारा ग्रहण योग्य है। इंद्रियों से स्कधों का ग्रहण हो सकता है। ऐसा भावार्थ है। ऐसा हो श्रीपंचास्तिकाय में कहा है। उसका अभिप्राय ऊपर आ गया। विशेष इतना जो परमाणु स्वय अशुद्ध है परन्तु वह शब्द का कारण है। तथा मार्गप्रकाश में भी ऐसा ही कहा है। टीकाकार कहते है कि एक परमाणु अपने वर्णादि गुणो से अपने में प्रकाशमान है परन्तु उससे मेरे कार्य की सिद्धि नही हो सकती ऐसा निश्चय करके जो भव्य जीव परम सुखमई मोक्ष पद का इच्छुक है उसको अपने हृदय में एक शुद्ध आत्मा की ही भावना करनी उचित है।

भावार्थ—सर्व पर वस्तुओ को हेय जान भव्य जीवों को एक शुद्ध निज आत्मा ही उपादेय, ध्येय, और सम्यक् मनन योग्य है।

पुद्गलपर्य्यायस्वरूपाख्यानमेतत्.—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जायो ।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो ॥२८॥

अन्यनिरपेक्षो यः परिणामः स स्वभावपर्य्यायः ।
स्कधस्वरूपेण पुनः परिणामः स विभावपर्य्यायः ॥२८॥

परमाणुपर्य्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्य्यायः परमपारिणामिकभावलक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्य्यायात्मकः सादिस निधनोपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यहारनयात्मकः अथवा हि एकस्मिन् समयेपयुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वात् सूक्ष्मऋजुसूत्रनयात्मकः स्कन्धपर्य्यायः। स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वाद शुद्धः इति ।

परपरणतिदूरे शुद्धपर्य्यायरूपे
सति न च परमाणोः स्कन्धपर्य्यायशब्दः ।
भगवति जिननाथे पचवाणस्य वार्ता
न च भवति यथेय सोऽपि नित्य तथैव ।

अब स्वभाव विभाव पर्याय को कहते है--

सामान्य अर्थ- जो परिणमन अन्य की अपेक्षा करके रहित होता है वह स्वभाव पर्याय है। और जो परिणमन स्कध रूप मे होता है वह विभाव पर्याय है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पुदगल की पर्याय का कथन है। पुद्गल की परमाणु रूप पर्याय पुदगल की शुद्ध पर्याय है, जिसका लक्षण परम पारिणामिक भाव है। वस्तु मे षट् प्रकार हानि वृद्धि रूप जो अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ पर्याय होती है वह परिणमन रूप है। सादि और सान्त होने पर भी पर द्रव्य की अपेक्षा रहित होने से शुद्ध सदभूत व्यवहार नय रूप है, अथवा

निश्चय करके एक ही समय में उत्पाद उत्पत्ति, व्यय विनाश, तथा ध्रौव्यता नित्यता इन तीन स्वरूप है। इस अपेक्षा सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का विषय रूप है। स्कध रूप पर्याय सजातीय परमाणुओं से बंध रूप है। इस लक्षण से अशुद्ध है। इसलिए विभाव पर्याय रूप है। टीकाकार कहते हैं पर परिणमन से दूर शुद्ध पर्याय रूप परमाणु में स्वभाव पर्याय है स्कंध पर्याय नही है. तथा यह परमाणु नित्य है। जैसे चैतन्यनाथ श्री भगवान में पंचबाण रूप कामदेव की वार्त्ता नही है और जैसे श्रीसिद्ध महाराज नित्य है इसी प्रकार यह परमाणु विभाव पर्याय रहित नित्य है।

पुद्गल द्रव्यव्याख्यानोपसंहारोऽयं:—

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स ॥२६॥

पुद्गलद्रव्यमुच्यते परमाणुर्निश्चयेन इतरेण ।
पुद्गलद्रव्यमिति पुनः व्यपदेशो भवति स्कन्धस्य ॥२६॥

स्वभावशुद्धपर्य्यायात्मकस्य परमाणोरेव पुद्गलद्रव्यव्यपदेशापपत्तः शुद्धनिश्चयेन। इतरेण व्यवहारनयेन विभावपर्य्यायात्मनां स्कन्धपुद्गलाना पुद्गलत्व मुपचारतः सिद्ध भवति।

इति जिनपति मार्गाद् बुद्धतत्त्वाथजातः।
त्यजतु परमशेष चेतनाचेतने च।
भजतु परमतत्व चिच्चमत्कारमात्र
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ॥

पुद्गलाऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना ।
साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निष्पन्नयोगिनाम् ॥
अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन् ।
सचेतने वा परमात्मतत्वे ।
न रोषभावो न च रागभावो ।
भवेदिय शुद्धदशा यतीनाम् ॥

आगे पुद्गल द्रव्य को व्याख्यान को सकोचते हैं :—

सामान्यार्थ—निश्चय नय करके परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहते हैं तथा व्यवहार नय करके स्कंध को भी पुद्गल द्रव्य कहा जाता है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में पुद्गल द्रव्य के व्याख्यान को सकोचा है । स्वभाव से शुद्ध पर्याय रूप परमाणु ही के शुद्ध निश्चय करके पुद्गल द्रव्य संज्ञा है । तथा व्यवहार नय करके विभाव पर्याय रूप स्कध पुद्गलों को भी पुद्गल द्रव्य ऐसा नाम कहा जाता है । टीकाकार कहते है कि 'हे भव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान के आगम से तत्वार्थो का स्वरूप जानकर तू समस्त चेतन अचेतन पदार्थो को त्याग और अनरग निर्विकल्प समाधि में लीन होकर पर पदार्थो से रहित चतन्य के चमत्कार मात्र परम तत्व का भजन कर ।

भावार्थ—यह पुद्गल का विकल्प उपादेय नही है । उपादेय अपना एक चैतन्य का परम तत्व है, जिसमें लीन हो सुखार्थी को सुख प्राप्त करना चाहिए । पुद्गल द्रव्य अचेतन है, जीव द्रव्य चेतन है, यह कल्पना प्रथम अवस्था में साधमियों के होती

है जो योगी निष्पन्न हैं अर्थात् ध्यानाभ्यास में पूर्ण है उनको यह कल्पना नहीं होती। यती मुनियों को ऐसी शुद्ध दशा होती है जिससे वे यह अनुभव करते हैं कि जैसे अचेतन पुद्गलकाय में न द्वेष भाव है न रागभाव है, उसी तरह सचेतन परमात्म तत्व में रागद्वेष भाव नहीं है।

धर्म्माधर्माकाशानां सक्षपोक्तिरियम्:—

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च।
अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३०॥

गमननिमित्तो धर्मोऽधर्मः स्थिते जीवपुद्गलाना च।
अवगाहनस्याकाश जीवादिसवद्रव्याणाम् ॥३०॥

अथ धर्मास्तिकायः स्वय गतिक्रियारहितः दीर्घिकोदकवत्। स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य योगिनः पचह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्रस्थितस्य भगवतः सिद्धनामधेययोग्यस्य षट्कायक्रमविमुक्तस्य मुक्तिवामलोचनालोचनगोचरस्य त्रिलोकशिखरशेखरस्य अपहस्तितसमस्तक्लेशावासपचविधससारस्य पचमगतिप्रान्तस्य स्वभावगतिक्रियाहेतुः धर्मः। अपि च। षट्कायक्रमयुक्तानां ससारिणां विभावगतिक्रियाहेतुश्च। यथोदकः पाठीनानां कारण तथा तेषां जीवपुद्गलानां गमनकारण, स धर्म सोऽयममूर्तः अष्टस्पर्शनविनिर्मुक्तः वर्णरसपचकगधद्वितयनिर्मुक्तश्च अगुरुकलघुत्वादिगुणाधारः लोकमात्राकारः अखण्डैकपदार्थः। सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्य्यायाश्चेति, वचनादस्य गतिहेतोधर्मद्रव्यस्य शुद्धगुणाः शुद्धपर्य्याया भवन्ति। अधर्मद्रव्यस्य स्थिति-

हेतुविशेषगुण: । अस्यैव तस्याधर्मास्तिकायस्य गुणपर्य्याया: सर्वे भवन्ति । आकाशस्यावकाशदानलक्षणमेव विशेषगुण: इतरे धर्माधर्मयोर्गुणा: स्वस्यापि सदृशा इत्यर्थ: । लोकाकाश-धर्माधर्माणां समानप्रमाणत्वे सति न ह्यलोकाकाशस्य ह्रस्वत्वमिति ।

इह गमननिमित्तं यत्स्थिते: कारण वा
यदपरमखिलाना स्थानदानप्रवीणं ।
तदखिलमवलोक्य द्रव्यरूपेण सम्यक्
प्रविशतु निजतत्वं सवदा भव्यलोक: ।।

आगे धर्मादि द्रव्य का स्वरूप कहते है—

सामान्यार्थ—जीव पुद्गलों के गमन में निमित्त धर्म द्रव्य है और स्थिति में निमित्त अधर्म द्रव्य है, तथा जीवादि सर्व द्रव्यों का अवगाहन अर्थात् स्थान देने वाला आकाश द्रव्य है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश का सक्षेप कथन है यह धर्मास्तिकाय स्वय गमन क्रिया से रहित है, जैसे वापिका में जल । अ इ उ ऋ लृ पच लघुअक्षर मात्र काल में स्थित १४ वें गुणस्थानवर्ती अयोगजिन जब अन्त समय में पचमगति को अपनी स्वभाव गमन क्रिया की परिणति से गमन करते हैं, उस समय यह धर्म द्रव्य उनकी स्वभाव गति क्रियाहेतु रूप होता है । कैसी है पचम गति मोक्ष, जहाँ सम्पूर्ण क्लेश और दु:खों का घर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भावरूप पच प्रकार ससार का समस्तपने स्थान नही है । फिर कैसी है वह

पंचम गति, कि जिसमें रहने वाले जीव सिद्ध कहलाते हैं। जहाँ छः काय रूप जीवों का नाम जो चारों गतियों के अन्दर होता है छूट जाता है। तथा वह मोक्ष स्थान रूप सिद्ध शिला तीन लोक के अग्र भाग विराजमान है। जिस सिद्ध अवस्था में स्थित जीव मोक्ष रूप स्त्री के नेत्रो को देख कर तृप्त रहते है। तथा षट्काय मे परिभ्रमण करने वाले संसारी जीवो के यही धर्म द्रव्य विभाग गति क्रिया का हेतु होता है। जैसे मछलियो के लिए जल कारण होता है वैसे ही जीव पुद्गलों के गमन का कारण यह धर्म द्रव्य है। यह अमूर्तीक है। आठ स्पर्श, पाच वर्ण, पाच रस दो गध ऐसे पुद्गलों के २० गुण से रहित है। अगुरुलघुत्व आदि गुणों का आधार है। लोकाकाश मात्र आकार का धारी है, खण्ड एक पदार्थ है। आगम का यह वचन है कि 'सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः' अर्थात् साथ मे रहने वाले गुण होते है और क्रम से वतने पर्याय होती है। इस कारण इस गति हेतु वाचक धर्मद्रव्य के शुद्ध ही गुण और शुद्ध ही पर्याय हैं। अधर्मद्रव्य जीव पद्गलों की स्थिति में कारण है, यही इसका विशेष गुण है। धर्मास्तिकाय के समान इसके भी सर्व शुद्ध गुण और शुद्धपर्याय होते हैं। आकाश द्रव्य का जीवादि द्रव्यों को स्थान देना ही विशेष गुण है, अन्य सब गुण और पर्याय धर्म अधर्म द्रव्य के सदृश है। लोकाका, धम द्रव्य और अधर्म द्रव्य इन तीनो का प्रमाण समान है, अलोकाकाश निश्चय करके सबसे बड़ा है। टीकाकार कहते है कि 'हे भव्य लोक इस लोक में जीव पुद्गलो की गमन वा

स्थिति का कारण तथा सर्व द्रव्यों को स्थान दान देने का कारण जो जो द्रव्य हैं उन सब को द्रव्य अपेक्षा यथार्थ अवलोकन कर, तू सर्वदा निज आत्मीक तत्व में ही प्रवेश कर।

भावार्थ—धर्माधर्माकाश को ज्ञेयपदार्थ मात्र ही जान इनको उपादेय न मान, एक अपने शुद्ध आत्मीक तत्व की भावना कर। यही भावना तेरे लिए सदा कल्याणकारी है।

व्यवहारकालस्वरूपविविधविकल्पकथनमिदम् :—

समयावलिभेदेण दु दुवियप्पं अहव होइ तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलिहदसंठाणप्पमाणं तु ॥३१॥

समयावलिभेदेन तु द्विविकल्पोऽथवा भवति त्रिविकल्पः।
अतीतोऽसंख्यातावलिहतसंस्थान प्रमाणं तु ॥३१॥

एकस्मिन्नभः प्रदेशे यः परमाणुस्तिष्ठति तमन्यः परमाणुर्मन्दचलनाल्लघयति स समयो व्यवहारकालः ताद्दशरसंख्यातसमयैः निमिषः, अथवा नयनपुटघटनायत्ता निमेषः। निमेषाष्टकैः काष्ठाः षोडशाभिः काष्ठाभिः कला, द्वात्रिंशत्कलाभिर्घटिका, षष्टिनालिकमहोरात्रम। त्रिशदहोरात्रैर्मासः। द्वाभ्याम् मासाभ्याम् ऋतुः। ऋतुभिस्त्रिभिरयनम्। अयनद्वयेन संवत्सरः। इत्यावलिव्यवहारकालक्रमः। इत्थं समयावलिभेदेन द्विधा भवति। अतीतानागतवर्तमानभेदात् त्रिधा। अतीतकालप्रपंचोयमुच्यते अतीतसिद्धानां सिद्धपर्य्यायप्रादुर्भावसमयात् पुरागतो ह्यावल्यादिव्यवहारकालः स कालस्यैषां संसारावस्थायां यानि

संस्थानानि गतानि तैः सदृशत्वादनन्तः अनागतकालोप्यनागत-सिद्धनामनागमशरीराणि यानि तै. सदृशत्याः मुक्ते सकाशा-दित्यर्थः ।

तथा चोक्तं पंचास्तिकायसमये—

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णालो तदा दिवा रत्ती
मासोडुअयणसवस्सरोत्ति कालो परायत्तो'

तथा हि

समयनिमिषकाष्ठा सत्कलानाडिकाद्या—
द्दिवसरजनिभेदाज्जायते काल एषः
न च भवति फलं मे तेन कालेन किंचि—
न्निज नरूपमतत्व शुद्धमेक विहाय ।।

आगे व्यवहार काल के भेदों को कहते है—

सामान्यर्थ—समय और आवली के भेद से व्यवहार काल के दो भेद हैं, अथवा तीन भेद है। अतीत काल में अनन्त आवली बीती है ऐसा ही अनन्त हतसंस्थान अर्थात सिद्धों का प्रमाण है।

विशेषार्थ—इस गाथा में व्यवहार काल के विविध भेदों का कथन है एक आकाश प्रदेश में जो परमाणु तिष्टा है उसको अन्य परमाणु मंद चलन रूप गति लांघ जाता है। उसमें जितना समय लगता है उसको नाम का व्यवहार काल कहते

है। इस प्रकार के असख्यात समयों का एक निमेष होता है। आंख की हर पलक मारने मे जितना समय लगे उसको निमेष कहते हैं। आठ निमेषों की एक काष्ठा होती है। १६ काष्ठाओं की एक कला होती है। ३२ कलाओं की एक घटिका होती है। ६० घटिका अर्थात् नालिका का एक दिन रात होता है। ३० दिन रात्रि का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु होती है। तीन ऋतु का एक अयन होता है। दो अयन का एक सवत्सर अर्थात् वष होता है। इस प्रकार व्यवहार काल जानना। यही व्यवहार काल समय और आवली के भेद से दो प्रकार है। असख्यात समयों की एक आवली होती है। यही काल अतीत, अनागत और वर्तमान के भेद से तीन प्रकार है अब अतीत काल का प्रपच कहते हैं। सिद्ध पर्याय को प्रगट करने वाले अतीत काल में अनन्त सिद्ध हो गए हैं। संसार अवस्था को त्याग कर छः संस्थान अर्थात् आकार विशेष जिनके नही रहे वे सिद्ध है, वेअनन्त हैं तिनके सदृश व्यवहार काल भी अनन्त बीता है अनागत काल भी भविष्य सिद्धों के समान अनन्त है। यहाँ गाथा में जो असंख्यात आवलि शब्द है उसका यहाँ प्रकरण के वश मे अनन्त आवलि अर्थ ऐसा विदित होता है। व्यवहार काल के भेद श्री पंचास्तिकाय में भी ऐसे ही कहे हैं। टाकाकार कहते हैं कि यह व्यवहार काल जो समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाडी आदि दिवस वर्ष आदि के भेद से प्रगट होता है, उस व्यवहार काल से मुझे कोई फल की प्राप्ति नहीं होतो है। मुझे तो निज अवस्था रहित परम

एक आत्मीक तत्व को छोडकर और कोई नही है जिससे वास्तविक फल का लाभ हो।

भावार्थ—काल का विकल्प मात्र ज्ञेय रूप है, उपादेय नही है। उपादेय रूप तो एक अपना शुद्ध आत्मीक तत्व ही है। और कोई नही है।

मुख्यकालस्वरूपाख्यानमेतत् :—

जीवादु पुग्गलादोऽणंतगुणा भावि संपदा समया।
लोयायासे संति य परमट्ठो सो हवे कालो ॥३२॥

जीवात् पुद्गलतोऽनन्तगुणश्चापि सम्प्रति समयाः।
लोकाकाशे संति च परमार्थः स भवेत्कालः ॥३२॥

जीवराशेः पुद्गलराशेः सकाशादनन्तगुणाः। के ते। समयाः कालाणवः लोकाकाशप्रदेशेषु पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति स कालः परमार्थः इति। तथा चोक्तं प्रवचनासारे—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदवियस्स ॥

अस्यापि समयशब्देन मुख्यकालाणुस्वरूपमुक्तं। समओ समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात् समयः। दु पुनः। अप्पदेसो, द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति। सो वट्टदि, स पूर्वोक्तकालाणुः गतिपरिणतेः सहकारित्वेन वर्तते। पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य। किं कुर्वतः वदिवददो,

व्यतिपततः मंदगत्या गच्छतः । कम् । पदेसं कालाणुव्याप्तमेक-प्रदेशं । कस्य संबंधिनः आगासदवियस्स, आकाशद्रव्यस्येति ।

अन्यच्च—

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हुएक्केक्का
रयणाणं रासी इव ते कालाणू असंखदव्वाणि

उक्तं च मार्गप्रकाशे—

कालाभावे न भावानां परिणामस्तदंतरात् ।
न द्रव्यं नापि पर्य्यायः, सर्वाभावः प्रसज्यते ॥

तथा हि—

वर्तनाहेतुरेष स्यात्, कुम्भकृच्चक्रमेव तत् ।
पंचानामस्तिकायानां नान्यथा वर्तना भवेत् ॥
प्रतीतिगोचराः सर्वे जीवपुद्गलराशयः ।
धर्माधर्मनभः कालाः सिद्धाः सिद्धान्तपद्धतेः ॥

सामान्यार्थ—जीवों से पुद्गल अनन्त गुणे हैं वैसे ही पुद्गल से अनन्त गुणे काल के समय भी हैं । जो कालाणु लोकाकाश में तिष्ठे हैं वे कालाणु परमार्थ यानी निश्चय काल है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में मुख्य काल का वर्णन है । जीव-राशि से अनन्त गुणे पुद्गल हैं, पुद्गलों से अनन्त गुणे काल के समय हैं । यह समय व्यवहार काल है । परन्तु काल के अणु जो लोकाकाश के एक एक प्रदेश में अलग अलग तिष्ठे हुए हैं वे परमार्थ यानी निश्चय काल है । ऐसा ही श्रीप्रवचनसार में

कहा है उस गाथा में भी समय शब्द से मुख्य काल जो कालाणु उसका ही स्वरूप कथन किया है। समय नाम व्यवहार काल रूप समय उसका उपादान कारण जो समय अर्थात् कालाणु जो अव्यपदेश अर्थात् द्वितीयादि प्रदेश रहित है। अर्थात कालाणु एक प्रदेशी है। दूसरे कालाणुओं से जुडा हुआ नहीं है। सो कालाणु परिणमन का सहकारी है, इस हेतु से वर्तन करता है। एक प्रदेश मात्र पुद्गल जातिधारी जो परमाणु द्रव्य मंदगति से आकाश द्रव्य के अन्य दूसरे प्रदेश को जाता है जिस प्रदेश में कालाणु व्याप्त है। इस परमाणु के इस वर्तन रूप कार्य में कालाणु सहकारी है। द्रव्यों का वर्तना उदासीन रूप से प्रवर्तन में सहाई होना कालाणु रूप निश्चय काल का कार्य है। अन्य ग्रन्थ में कहा है :—

अर्थात्—लोकाकाश के एक एक प्रदेश में रत्नों की राशि के समान जो कालाणु एक एक करके व्याप्त है सो कालाणु आकाश के असंख्यात प्रदेशों के समान असंख्यात है। ऐसा ही मार्ग प्रकाश में कहा है अर्थात् काल द्रव्य के अभाव से पदार्थों का परिणमन नहीं हो सकता। परिणमन के बिना न द्रव्य ठहर सकता है, न उसका पर्याय हो सकती है। इसलिए सर्व द्रव्यों का अभाव हो जावेगा। टीकाकार कहते हैं कि जैसे कुम्भ के बनाने में चक्र कारण है, उसी प्रकार जो द्रव्यों के वर्तने को कारण हो वह काल द्रव्य है। इस द्रव्य के बिना पांच अस्तिकायों का वर्तन अन्य प्रकार से नहीं हो सकता। सिद्धान्त की पद्धति में ये जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश

काल छहों द्रव्य सिद्ध है, इसलिए वे सब विश्वास करने योग्य है।

भावार्थ—सर्वज्ञ वीतराग कथित सिद्धान्त के अन्यथापना नही हो सकता। इसलिए उनके आगम में वर्णित पदार्थ सत्य है। यही निश्चय आत्महित वांछक को करना योग्य है।

कालादि शुद्धामूर्ता चेतन द्रव्याणा स्वस्वभाव गुण पर्याया-ख्याना मेतत्।

जीवादीदव्वाणं परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचउण्णाणं सहाउगुणपज्जया होंति ।। ३३ ।।

जीवादिद्रव्याणां परिवर्तनकारणं भवेत्कालः।
धर्मादिचतुर्णा स्वभावगुण पर्यायाा भवंति ।। ३३ ।।

इह हि मुख्यकालद्रव्यं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशाना पर्याय-परणति-हेतुत्वात् परिवर्तनलिगमित्युक्त अथ धर्माधर्माकाकाश-लानां स्वजातीयबंधसम्बन्धाभावत् विभावगुणपर्यायाः न भवंति, अपि तु स्वभावगुणपर्याया भवन्तीत्यर्थः। ते गुणपर्याया पूर्व प्रतिपादिताः अतएवात्र संक्षेपतः सूचिता इति।

इतिविरचितमुच्चैर्द्रव्यषट्कस्य भास्वद्—
विवरणमतिरम्य भव्यकर्णामृत यत्।
तदिह निजमुनीना दत्तचित्तप्रमोदं
भवतु भवविमुक्तयै सर्वदा भव्यजन्तोः ।।

फिर भी काल द्रव्य के विषय में कहा जाता है—

सामान्यार्थ—जीवादि द्रव्यों के परिवर्तन का जो कारण सो काल द्रव्य है। तथा धर्म, अधर्म, आकाश. काल इन चार द्रव्यों के स्वाभाविक गुण और पर्याय होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में कालादि शुद्ध अमूर्तीक अचेतन द्रव्यों के स्वभावगुण और पर्यायों का कथन है। निश्चय काल द्रव्य, जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश इन पांचों द्रव्यों की पर्यायों के परणमन करने अर्थात् बदलने में कारण भूत है। इसीलिए इसको परिवर्तन लिग कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल के अपने में स्वजातीय किसी प्रकार के बध के सम्बन्ध का अभाव है, इस कारण इनमें विभाव गुण पर्याय नही होती है, परन्तु मात्र स्वभाव गुण पर्याय ही होती है। स्वभाव गुण पर्यायों का कथन पहले कहा जा चुका है। इसलिए यहा सक्षेप में कहा है।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्य के स्वाभाविक गुण तो स्पष्ट कथन किये जा चुके हैं। इन चार में षट् गुणी हानि वृद्धि रूप स्वभाव पर्याय ही होती है। इनको समुद्र कल्लोलवत् जान आगम प्रमाण से निश्चय करना योग्य है टीकाकार कहते है कि इस प्रकार षट् द्रव्यो का प्रगट व्याख्यान जो अतिशय करके कहा गया है सो बहुत ही रमणीक है, भव्य जीवों के कानों को अमृत समान है तथा निज स्वरूप के मनन करने वाले मुनियों के लिए यह आनन्द का दाता है। इन षट् द्रव्यों का स्वरूप सर्वदा भव्य जीवों को संसार से छुड़ाने के लिए कारण रूप है।

अत्रकाल द्रव्यंमन्तरेण पूर्वोक्त द्रव्याण्येव पचास्तिकाया भवतीत्युक्तम् ।

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति ।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुपदेसत्तं ॥ ३४ ॥

एतानि षट्द्रव्याणि च काल मुक्त्वास्तिकाया इति
निर्दिष्टा जिनसमये कायाः खुलु बहुप्रदेशत्वम् ॥ ३४ ॥

इह हि द्वितीयादिप्रदेश रहितः क लः । समओ अप्पदेस, इति वचनात, अस्य हि द्रव्यत्वमेव इतरेषां पचानां कायत्व-मस्त्येव बहुप्रदेश-प्रचयत्वात् कायः । काया इव कायाः, पंचा-स्तिकायाः । अ तत्वं नाम सत्ता । सा किंविशिष्टा । सप्रतिपक्षा अवान्तरसत्ता महासत्तेति । तत्र समस्तवस्तुविस्तरव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । समस्त-व्यापकरूपव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैक रूपव्यापिनी ह्यव न्तरसत्ता । अतन्तपर्यायव्यापिनी महासत्ता, प्रतिनियतैक-पर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता । अस्तीत्यस्य भावः अस्तित्वम्, अनेन अस्तित्वेन सनाथाः पंचास्तिकायाः । कालद्रव्यस्यास्ति-त्वमेव न कायत्वम् काया इव बहुप्रदेशा-भावादिति ।

इति जिनमार्गाम्भोधरुद्धृता पूव सूरिभिः प्रीत्या
षड्द्रव्यरत्नमाला कठाभरणाय भव्यानाम् ॥

आगे अस्तिकाय को कहते है :—

सामान्यार्थ—इन छहों द्रव्यों में काल को छोड़ अन्य पांच

द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं, क्योकि निश्चय करके इनके बहु प्रदेशीपना है, इससे काय संज्ञा है। ऐसा जिन आगम में कहा है।

विशेषार्थ-- इस गाथा में काल द्रव्य सिवाय अन्य द्रव्यों के अस्तिकाय का वर्णन है। काल द्रव्य दो तीन आदि प्रदेशो से रहित है इसके एक ही प्रदेश है। काल के द्रव्यपना ही है। अन्य पांचों के कायपना है ही, क्योंकि ये पांचों काय के समान काय रूप प्रदेशों के समूह को धरने वाले है। अस्तिनाम सत्ता का है। यह सत्ता दो प्रकार की है एक अवांतर सत्ता, दूसरी महासत्ता। समस्त वस्तुओं में विस्तार करके फैली हुई महा-सत्ता हैं। प्रतिनियत एक वस्तु में व्यापने वाली अवातर सत्ता है। महासत्ता सर्व स्वरूपो में व्यापिनी है, किन्तु अवांतर सत्ता प्रतिनियत एक रूप व्यापिनी है। अनन्तपर्यायों में रहने वाली महासत्ता है। प्रतिनियत एक ही पर्याय में रहने वाली अवातर सत्ता है। अस्ति नाम रहने का है। उसका भाव अस्तित्व। अस्तित्व के साथ में कायत्व को रखने वाले ये पंचास्तिकाय हैं। काल के अस्तित्व है परन्तु कायत्व नही है क्योंकि काल द्रव्य के समान बहुत प्रदेश नही हैं। टीकाकार कहते है कि यह षट् द्रव्य रूप रत्नमाला जिनमार्ग रूपी समुद्र से पूर्व आचार्यों ने भव्य जीवों के कण्ठ का आभरण बनाने के लिए प्रीतिपूर्वक उद्धृत की है।

भावार्थ- इन षट् द्रव्यो का स्वरूप भव्य जीवों को अपने ध्यान में भले प्रकार रखना चाहिए।

षण्णां द्रव्याणां प्रदेशलक्षणसंभवप्रकारकथनमिदम्:—

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।
धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्य असंखदेसा हु ॥३५॥
लोयायासे ताव इदरस्य अणंतयं हवे देसो ।
कालस्स ण कायत्तं एयपदेसो हवे जह्मा ॥३६॥

जुम्मं

संख्यातासंख्यातानंतप्रदेशा भवन्ति मूर्तस्य ।
धर्माधर्मयोःपुनर्जीवस्यासंख्यातप्रदेशाः खलुः ॥३५॥
लोकाकाशे तद्वदितरस्यानंता भवन्ति देशाः ।
कालस्य न कायत्वं एकप्रदेशा भवेद्यस्मात् ॥३६॥ युग्मं ।

शुद्धपुद्गलपरमाणुना गृहीतं नभःस्थलमेव प्रदेशाः । एवंविधाः पुद्गलद्रव्यस्य प्रदेशाः संख्याता असंख्याता अनन्ताश्च । लोकाकाशधर्माधर्मैकजीवानामसंख्यातप्रदेशा भवन्ति । इतरस्यालोकाकाशस्यानन्ताःप्रदेशा भवन्ति कालस्यैकदेशो भवति अत कारणादस्य कायत्वं न भवति अपि तु द्रव्यत्वमस्त्येवेति ।

पदार्थरत्नाभरणं मुमुक्षोः
कृतं मया कंठविभूषणार्थम् ।
अनेन धीमान् व्यवहारमार्गं
बुद्ध्वा पुनर्बोधति शुद्धमार्गम् ॥

अब द्रव्यों की प्रदेशसंख्या को कहते हैं :—

सामान्यार्थ—मूर्तीक द्रव्य पुद्गल के संख्यात, असंख्यात अनन्त प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म, तथा एक जीव के, असंख्यात प्रदेश होते हैं। लोकाकाश के भी इतने ही है। अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश हैं। काल द्रव्य के कायपना नहीं है, इससे एक प्रदेश ही होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में छहों द्रव्यों के प्रदेशों का कथन है। शुद्ध पुद्गल के परमाणु द्वारा ग्रहण किया गया जो आकाश स्थल सो प्रदेश कहलाता है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात, असख्यात और अनन्त होते हैं।

भावार्थ—कोई पुद्गल का स्कंध दो से आदि ले सख्यात परमाणुओं का, कोई असख्यात तथा कोई अनन्त का होता है। लोकाकाश, धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं। काल के एक ही प्रदेश है, इसी कारण इसके कायपना नहीं है परन्तु द्रव्यपना अवश्य है ही। टीककार कहते हैं कि "यह पदार्थ रूपी रत्नों का आभरण मैंने मुमुक्षुओं के कण्ठ की शोभा के लिए रचा है। जो बुद्धिमान है वह इसके द्वारा व्यवहार मार्ग को जानकर फिर शुद्ध मार्ग को जानो अर्थात् अनुभव करो।
अजीवद्रव्यव्याख्यानोपसंहारोयम्:—

पुग्गलदव्वं मोत्तं मुत्ति विरहियाहवंति सेसाणि।
चेदणभावो जीओ चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥३७॥

पुग्गलद्रव्यं मूर्तं मूर्तिविरहितानि भवन्ति शेषाणि।
चैतन्यभावो जीवः चैतन्यगुणवर्जितानि शेषाणि ॥३७॥

तेषु मूलपदार्थेषु पुद्गलस्य मूर्तत्वम्। इतरेषाममूर्तत्वम्। जीवस्य चेतनत्वम् इतरेषामचेतनत्वम्। स्वजातीयविजातीयबन्धनापेक्षया जीवपुद्गलयोरशुद्धत्वम् धर्मादीनां चतुर्णां विशेषगुणापेक्षया शुद्धत्वमेवेति।

इति ललितपदानामावलिर्भाति नित्यम्।
वदनसरसि जाते यस्य भव्योत्तमस्य।
सपदि समयसार तस्य हृत्पुण्डरीके
लसति निशितबुद्धेः किं पुनश्चित्रमेतत् ॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रपरिग्रह—श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्याया तात्पर्यवृत्तौ अजीवाधिकारो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः ॥२॥

अब अजीव द्रव्य के कथन को संकोचते हैं:—

सामान्यार्थ—पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है। अन्य शेष मूर्तिरहित हैं। जीव चैतन्यभाववान है। शेष चैतन्यगुण से रहित हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में अजीव द्रव्य का सक्षेप है। मूल षट् द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य को ही मूर्तिमंतपना है। शेष जीव धर्म अधर्म आकाश तथा काल मूर्तिपने से रहित अमूर्तीक है: तथा चेतनपना मात्र एक जीव द्रव्य के ही है। अन्य पांचों द्रव्य चेतना रहित हैं। स्वजातीय और विजातीय बंधन की

अपेक्षा से जीव पुद्गलों के ही अशुद्धपना होता है। परन्तु धर्मादिक चार द्रव्यों के प्रत्येक विशेष गुण की अपेक्षा से शुद्धपना ही है। टीकाकार कहते हैं कि जिस भव्योंत्तम के मुख रूपी सरोवर से ललित पदों की आवली उत्पन्न होकर नित्य प्रकाशमान होती है, उस निर्मल बुद्धि धारी जीव के हृदय रूपी कमल के मध्य में शीघ्र ही समयसार अर्थात शुद्धात्मा प्रकाशमान होता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

भावार्थ—जो कोई इन सुन्दर गाथाओं को पढ़े अर्थ को समझे उसको शीघ्र ही समयसार अर्थात शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है।

इस प्रकार सकविजन कमलों के लिए, सूर्य समान, पंचेन्द्रियों के विषयों के फैलाव से रहित शरीर मात्र ही परिग्रह के धारी श्री पदमप्रभुमलधारी देव द्वारा विरचित श्री नियमसार की तात्पर्यवृत्तिनाम व्याख्या में अजीवाधिकार नाम दूसरा श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

अथेदानी शुद्धभावाधिकार उच्चते ।
हेयोपादेय तत्व स्वरूपाख्यान मेतत् ।

जीवादिवहित्तच्चं हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिनतो ॥३८॥

जीवादिबहिस्तत्व हेयमुपादेयमात्मनो ह्यात्मा।
कर्म्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्य्यायैर्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

जीवादिसप्ततत्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्युपादेयम् । आत्मनः सहजवैराग्यप्रसादशिखरशिखामणेः परमद्रव्यपराङ्ङ्‌मुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशितमतेरुपादेयो ह्यात्मा, औदयिकादिचतुर्णां भावांतराणामगोचरत्वाद् द्रव्यभावनोकर्मोपाधिसमुपजनितविभावगुणपर्य्यायरहितः, अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजपरमपारिणामिकभावस्वभावकारणपरमात्मा ह्यात्मा अत्यासन्नभव्यजीवानामेवभूतं निजपरमात्मानमन्तरेण न किंचिदुपादेयमस्तीति ।

जयति समयसारः सवतत्वकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तनिर्व्वारिसारः ?
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवारशिपार ।

शुद्धभावाधिकार

सामान्य अर्थ -जीवादि बाह्य तत्व हेय हैं, इस आत्मा को निश्चय करके आत्मा ही उपादेय है। यह आत्मा कर्म की उपाधि से पैदा होने वाले गुण पर्यायों से भिन्न है।

विशेषार्थ—इस गाथा में हेय उपादेय तत्वों के स्वरूप का कथन है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्व पर द्रव्य स्वरूप है, इसलिए ग्रहण योग्य नहीं

है । जो आत्मा स्वाभाविक वैराग्य रूपी महल के शिखर का शिखामणि है, पर द्रव्यों से उदासीन पराङमुख है, पचेन्द्रिय विषयों के विस्तार से रहित शरीर मात्र परिग्रह का धारी है, परम जिन अर्थात कषाय विजयी योगीश्वर है तथा जिसने अपने ही द्रव्य में अपनी बुद्धि को जोड़ दिया है ऐसे वीतराग आत्मा के लिए वही आत्मा उपादेय अर्थात ग्रहण योग्य है । जो औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायक चारों भावों के अगोचर होने से द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि भाव कर्म रागद्वेषादि नोकर्म बाह्य शरीरादि इन रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभाव गुण और विभाव पर्याय उनसे रहित है । जो आदि अन्तरहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभाव से ही शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है । ऐसा ही आत्मान उपादेय है । अत्यन्त निकट भव्य जीवों के लिए ऊपर कहे प्रमाण निज परमात्मा को छोड़कर ओर कोई वस्तु आदेय नही है, अर्थात् उनके एक निज शुद्ध स्वरूप का ही ग्रहण है । टीकाकार कहते हैं सर्व तत्वों में एक सारभूत जो समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा हैं उसकी जय हो । कैसा है वह समयसार, सम्पूर्ण विलय अर्थात् विकारों से दूर है । कठिनता से निवारणे योग्य कामदेव को जिसने अस्त कर दिया है । पाप रूपी वृक्ष को काटने को कुठार के समान है शुद्ध ज्ञान का मानों अवतार है, आनन्द रूपी समुद्र से परिपूर्ण है, तथा क्लेश रूपी खार समुद्र से पार हो चुका है ।

भावार्थ—हितवाँक्षकों को ऐसा ही सार स्वरूप परमात्मा

ध्यान में लेकर अनुभव करना योग्य है।

निर्विकल्पतत्वस्वरूपाख्यानमेत्तत् :—

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्स हरिस्ठाणा वा ॥३९॥

न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा।
न हर्षभावम्थानानि न जीवस्य हर्षस्थानानि वा ॥३९॥

त्रिकालनिरूपाधिस्वरूपस्य शुद्धजोवास्तिकायस्य न खलु विभावस्वभावस्थानानि। प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाभावान्न च मानापमानहेतुभूनकर्मोदयम्थानानि। न खलु परिणतेरभावच्छुभकर्माभावात् शुभससारसुख संसार सुखस्याभावान्न हर्षस्थानानि। नचाशुभपरणतेरभावादशुभकर्म। अशुभकर्माभावान्न दुःख, दुखभावान्न चाहर्षस्थानानि चेति।

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदादितशर्मनिर्मितवियद्बिबाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृतपूरपूर्णवपुषे प्रेच्छावतां गोचरे
बुद्धिं किं न करोषि वाछसि सुखं त्वं संसृतेर्दुःकृते॥

सामान्यार्थ—इस समयसार के निश्चय करके न तो कोई स्वभाव स्थान है न मान अपमान रूपो भाव स्थान है न हर्ष भाव रूप स्थान है और न अहर्ष भाव रूप स्थान है।

विशेषार्थ—इस गाथा में निर्विकल्प तत्व स्वरूप का वर्णन है।

भूत भविष्य वर्तमान तीनों काल में जो निरुपाधि स्वभाव है अर्थात् जिसके कोई परद्रव्य सम्बन्धी उपाधि नहीं हैं. ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसके निश्चय करके कोई विभाव रूप स्वभावस्थान नही है। शुभ अशुभ सर्व ही मोह, राग और द्वेष के अभाव से उस शुद्ध जीव के मान अपमान के कारण भूत कोई कर्म के उदय स्थान नही हैं। न निश्चय करके उसके शुभपयोग रूप परिणति होती है। इसलिए शुभ कर्म का बध नही होता। शुभ कर्म के न होने से संसारिक असार सुख नही होता, सासारिक सुख के अभाव होने से उस शुद्ध जीव के कोई हष के स्थान नही है। इसी प्रकार उस शुद्ध जीव के अशुभापयाग की परिणति नही होती इस कारण अशुभ कर्म का बध नही होता। अशुभ कर्म के अभाव मे दुःख नही होता। दुःख न होने से उस शुद्ध आत्मा के कोई अहर्ष अथवा निरानन्द (दुःख) के स्थान नही होते। टीकाकार कहते हैं कि हे भव्यजीव, यदि तू इस दुःख रूप ससार से हटकर सुख की इच्छा करता है तो तू क्यो नहीं अपनी बुद्धि उस आत्मा में करता, जो प्रीति अप्रीति से रहित अविनाशी पद में विराजमान है। जो सर्वथा अन्तर्मुख होकर भेद रहित उदयमान सुखमई निराकार प्रकाशमान है। जिसका निर्मल शरीर चैतन्य अमृत से परिपूर्ण भरा हुआ है। तथा जो आत्मस्वरूप खोजियों के ही ध्यान के गोचर है।

भावार्थ—भव्य जीव को उचित है कि निरन्तर ऐसे ही उत्कृष्ट स्वभाव वाले आत्मा का मनन कर अद्भुत और अनुपम सुख की प्राप्ति करे।

णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्सण उदयठाणा वा ।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्य ण उदयठाणा वा ॥४०॥

न स्थितिबंधस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा ।
नानुभागस्थानानि जीवस्य नोदयस्थानानि वा ॥४०॥

अत्र प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धोदयस्थानानि; ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वाकार: प्रकृतिबन्ध:, तस्य स्थानानि न भवन्ति । अशुद्धान्ततत्वकर्मपुद्गलयो परस्परप्रदेशानुप्रवेश: प्रदेशबन्ध:, अस्य बंधस्य स्थानानि वा न भवन्ति । शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुखदु:खफलप्रदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्ध:, अस्य स्थानानां वा न चावकाश: । न च द्रव्यभावकर्मोदयस्थानानामप्यवकाशोऽस्ति इति ।

तथा चोक्तं श्री अमृतचन्द्रसूरिभि: :—

न हि विदधति बद्धास्पृष्टभावदयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां
अनुभवतु तमेव द्योतिमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥

तथाहि :—

नित्यशुद्धचिदानन्दसंपदामाकरं परम् ।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम् ॥

य: सर्वकर्मविषभूरुहसंभवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्वम्
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशय: क: ॥

फिर भी कहते हैं—

सामान्यार्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकाय के न तो कोई स्थिति बंध के स्थान हैं, न प्रकृति बध के स्थान है न प्रदेश बध और न अनुभाग बंध के स्थान हैं, तथा उसके काई उदय स्थान भी नहीं है।

विशेष र्थ—इस गाथा में बंध व उदय के अभाव स्वरूप का कथन है उस शुद्ध जीवात्मा के कषाय रूप स्थिति बंध का कारण ऐसे कोई स्थिति बंध स्थान नहीं है। अर्थात् जब आत्मा में कर्मों का बंध होता है तब उसमें आत्मा के साथ उन कर्मों के सम्बन्ध के रहने की मियाद का नाम स्थिति बध है। उस आत्मा के स्थिति को लिए हुए कोई स्थिति बध रूप कर्म नही है और न स्थिति बध का कारण कोई कषायस्थान है। न उस आत्मा के ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्म रूप होने योग्य पुद्गल द्रव्यों का स्वीकार रूप प्रकृति बध है। और न उसके कारण योगस्थान हैं। अशुद्ध आत्मा की सत्ता में कर्मवर्गणा रूप पुदगलों का परस्पर में प्रवेश हो जाना सो प्रदेश बध है। उस शुद्ध आत्मा के न तो यह बंध है और न इस बंध के याग्य योगस्थान हो है। शुभ अशुभ कर्मों की जब निजरा हाने का समय आता है तब वे सुख दुख रूप फल प्रदान करते हैं उस समय जिस शक्ति से फल प्रदान होता है उस शक्ति का नाम अनुभाग बध है, उस शुद्ध आत्मा में इस अनुभाग बंध का और इसके कारण कषाय स्थानों का जरा भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मा में द्रव्य कर्म और भाव कर्म के उदय रूप स्थानों के ही रहने की जगह है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है :—जिस आत्मा में बद्ध और स्पर्श भाव को लिए हुए कर्म प्रगट रूप से ऊपर ही ऊपर रहते है उसमें स्थान करने रूप

प्रतिष्ठा को नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्व तरफ से प्रकाशमान हैं ऐसे आत्मा को जगत का सम्पूर्ण मोह छोड़कर हे भव्य जीव तू अनुभव कर। कैसा है आत्मा, जो समयक्स्वभावरूप है। ऐसा ही टीकाकार भी कहते हैं। मैं उस चैतन्य के पद का अतिशय करके अनुभव करता हूं जो नित्य शुद्ध चिदानंदमयी संपदा की खानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओं का स्थान नहीं है अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। जो भव्य जीव सर्व कर्म रूपी विष वृक्ष से पैदा होने वाले अपने आत्मा के रूप से विलक्षण सांसारिक फलों को त्याग कर स्वाभाविक चेतन्य स्वरूप अपने आत्म तत्व को इस समय भोगता है वह भव्य जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है।

भावार्थ—जो कोई इन्द्रिय जनित विषय सुखों को विष के समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीक तत्व का अनुभव करता है वही जीव कर्मों की निर्जरा करता हुआ कुछेक भवों में मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इसमें सदेह नहीं करना चाहिए।

विभावस्वभा ाना स्वरूपकथनद्वारेण पचभावस्वरूपाख्यानमेतत्:—

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥४१॥

न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा।
औदयिकभावस्थानानि नोपशमस्वभावस्थानानि वा ॥४१॥

कर्मणां क्षये भवः क्षायिकभावः। कर्मणां क्षयोपशमे भवः क्षायोपशमिकभावः। कर्मणामुदये भवः औदयिकः। कर्मणामुपशमे भवः औदयिकः। कर्मणामुशये भवः औपशमिकः। सकलकर्मोपाधिविनिर्मुक्तः परिणामे भवः पारिणाभिकभावः। एषु पंचसु तावदौपशमि कभावो द्विविधः। क्षायिकभावश्च नवविधः। क्षायोशमिकभावोऽष्टादशभेदः। औदयिकभाव एकविंशतिभेदः। पारिणामिकभावस्त्रिभेदः। अथौपशमिकभावः—उपशमसम्यक्त्वम् १ उपशमचारित्रम् च २। क्षायिकभावस्य क्षायिकसम्यक्त्वम्, यथाख्यातचारित्रम्, केवलज्ञानं, केवलदर्शनं च, अन्तरायकर्मक्षयसमुपजनितदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि चेति। क्षायोपशमिकभावस्य मतिश्रुतावधिमनः पर्य्यज्ञानानि चत्वारि, कुमतिकुश्रुतविभंगभेदादज्ञानानि त्रीणि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात्रीणि दर्शनानि, त्रिकालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदाल्लब्धयः पच वेदकसम्यक्त्वं, वेदकचरित्रं, संयमासंयमपरणतिश्चेति। औदयिकभावस्य, नारकतिर्यचमनुष्यदेवभेदाद् गतयश्चतस्रः। क्रोधमानमायालोभभेदात् कषायाश्चत्वारः। स्त्री पुंनपुंसकभेदाल्लिंगानि त्रीणि। सामान्यसग्रहनयापेक्षया मिथ्यादर्शनमेकम् अज्ञान चैकम्, असयमता चैका, असिद्धत्वं चकम्, शुक्लपद्मपीतकपोत-नीलकृष्णभेदाल्लेश्याः षट् च भवन्ति। पारिणामिकस्य जीवस्य जीवत्वपारिणामिकः, भव्यत्वपारिणामिकः, अभव्यत्वपारिणामिकः, इति त्रिभेदाः। अथायं जीवत्वपरिणामिकभावो भव्याभव्यानां सदृशः भव्यत्वपारिणामिकभावो भव्यानामेव भवति, अभव्यत्वपारिणामिकभावो भव्यानामेव भवति। इति पंचभावप्रपंचः।

पंचानां भावानां मध्ये क्षयिकभावः? कार्यसमयसाररूपः स त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थकरत्वोपार्ज्जितसकल - विकलकेवलाव-

वोधनाथतीर्थनाथस्य भगवतः सिद्धस्य वा भवति । औदयिकौ-पशमिकक्षायोयशमिकभावाः संसारिणामेव भवन्ति न मुक्तानाम् ।। पूर्वोक्तभावचतुष्टयं सावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणाम् । त्रिकालनिरूपाधिस्वरूपनिरंजननिज परम पंचमभाव-भावनया पंचमगतिं मुमुक्षुवा यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति ।

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः ।
संचितपचाचाराः किंचन भावं प्रपंचपरिहीणाः ।।

सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलम् ।
त्यजतु परमतत्वाभ्यासनिष्णातचित्तः ।
उभयसमयसारः सारतत्वस्वरूपम् ।
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ।।

फिर भी कहते हैं :—

सामान्यार्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकाय के न तो क्षायिक-भाव के स्थान हैं, न क्षयोपशमभाव के स्थान हैं, न औदयिक भाव के स्थान है और न उपशम भाव के स्थान हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथा में चार विभाव स्वभावों के कथन के द्वारा पंचम भाव का व्याख्यान है । कर्मों के क्षय से जो भाव उत्पन्न हो सा क्षायिक भाव है, जैसे सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त होता है व चारित्र मोहिनी के नाश से क्षायिक चरित्र होता है । कर्मों के क्षयोपशम से जो पैदा हो वह क्षयो-पशमिक भाव है अर्थात् सर्व घाती के उदयाभावरूप क्षय से तथा सर्व घाती के उपशम से तथा देश घाती के उदय से जो भाव हो सो क्षयोपशम भाव है, जैसे छः प्रकृतियों के उपशम तथा सम्यक्त मोहनी के देश घाती स्पर्धकों के उदय से क्षयो-

पशम सम्यक्त होता है। जो भाव कर्मों के उदय से होता है सो औदयिक भाव है, जैसे नर्क गति के उदय से नारकी। कर्मों के उपशम से जो भाव हो सो औपशमिक भाव है, जैसे सात प्रकृतियों के उप शम से उपशम सम्यक होता है। सर्व कर्म रूपी उपाधि से रहित जो भाव आत्मा के स्वाभाविक परिणाम में हो सो पारिणामिक भाव है। इन पांच भावों में औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षायिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औदयिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है। औपशमिक भावों के दो भेद हैं, एक उपशम सम्यक्त दूसरा उपशम चारित्र। क्षायिक भाव नौ प्रकार के हैं, क्षायिक सम्यक्त क्षायिक चारित्र अर्थात् यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान और केवल दर्शन तथा अन्तराय कर्म के नाश होने से पैदा होने वाले अनन्तदान अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य है। क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद यह हैं :—मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय ऐसे ज्ञान ४ कुमति, कुश्रुत और विभग अवधि ऐसे अज्ञान तीन। चक्षु, अचक्षु, अवधि ऐसे तीन दर्शन। काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पांच लब्धिया अर्थात काल लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते है, दूसरो उपशम अर्थात् विशुद्धि लब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देशना लब्धि, चौथी प्रायाग्य लब्धि, पंचमी करण लब्धि, क्षयोपशम सम्यक्त और क्षयोपशम चारित्र तथा संयमासंयम परिणित ये १८ भेद क्षयोपशम भाव हैं। औदयिक भाव २१ प्रकार इस भाति है ?—नारक, तिर्यच, मनुष्य, देव ऐसे चार गति, क्रोध मान माया लोभ ऐसे ४ कषाय, स्त्री, पुलिंग, नपुंसक ऐसे तीन लिंग सामान्य सग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्या दर्शन एक, अज्ञान, एक, असंयम एक,

असिद्धत्व एक, शुक्ल, पद्म, पीत, कापोत, नील, कृष्ण ऐसे छः लेश्या। पारिणामिक भाव ३ प्रकार है जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारिणामिक। इनमें जीवत्व पारिणामिकभाव भव्य अभव्य दोनों के होता है। भव्यत्व भाव भव्यो ही के और अभव्यत्व अभव्य के ही होता है। इस प्रकार पांच प्रकार भावों के ५३ भाव हैं। इन पांच भावों के बीच में क्षायिक भाव तो काय समयसार स्वरूप है। यह कार्य रूप भाव तीर्थंकर उपलक्षण से सामान्य केवली अथवा सिद्ध के होता है। कैसे हैं तीर्थंकर, तीन लोक के प्रक्षोभ के कारण भूत तीर्थंकरपने के द्वारा सम्पूर्ण प्रकार निर्मल केवल ज्ञान जिनको प्राप्त हुआ है। औदयिक, औपशयिक और क्षयोपशयिक, ये भाव ससारियों ही के होते है। मुक्त जावों के ये भाव नहीं होते। परन्तु वे चारों ही भाव कर्मो के आवरण की अपेक्षा से होते हैं। इसलिए ये चारों ही मुक्ति के कारण नही हैं। तीनों काल में जिसको किसी प्रकार की उपाधि नहीं है ऐसा निरुपाधि निरजन रूप जो अपना ही शुद्ध पारिणामिक पचम भाव है उस ही को भावना करने से मुमुक्षु जीव मोक्ष रूप पचम गति में जाते हैं, जायेंगे और गए हैं।

भावार्थ—यहां शुद्ध निश्चय नय का अपेक्षा से कथन है। जब मुमुक्षु अपने निर्विकल्प शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता है तब ही कर्म बध शिथिल होते हैं तथा उनकी निर्जरा होती है। और आत्मा की मोक्ष होने की अवस्था निकट आती जाती है। टीकाकार कहते हैं कि "दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और वीर्य ऐसे पाँच आचारों को आचरणों वाले विद्वान लोग सर्व प्रपंच को त्याग कर एक पंचम भाव ही को मोक्ष प्राप्त करने के लिए स्मरण करते हैं और किसी भाव का मनन नहीं करते। सर्व पुण्य कर्म को भी भोगी जीवों के लिए भोगों का मूल समझकर

परम तत्वाभ्यासी मुनि छोड़ देते हैं और परम समयसार रूप सारभूत अपने तत्व स्वरूप को संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए भजते हैं इसमें कौनसा दोष है। अर्थात् वही निर्दोष कार्य है।"

भावार्थ—मुनीश शुभ पुण्य को भी हेय समझते हैं और शुद्ध स्वरूप की सारभूत भावना में लवलीन रहते है। यही भावना शुद्ध स्वभाव के प्रगट होने के लिए परम साक्षात् कारण है। इसलिए मोक्ष पद इच्छुकों को स्वस्वरूप भावना ही कर्तव्य है।

इह हि शुद्धनिश्चनयेन शुद्धजीवस्य समस्तसंसारविकारसमये न शमस्तीत्युक्तं :—

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोयसोका य।
कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणा जीवस्स णो संति ॥४२॥

चतुर्गतिभवसंभ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च।
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो संति ॥४२॥

द्रव्यभागकर्मस्वीकाराभावाच्चतसृणां नारकतिर्यन्चमनुष्य-देवत्वलक्षणानां गतीनां परिभ्रमणं न भवति। नित्यशुद्धचिदा-नन्दरूपस्य कारण परमात्मस्वरूपस्य द्रव्यभावकर्मग्रहणे योग्यविभावपरिणतेरभावान्न जातिजरामरणरोगशोकश्च। चतुर्गतिजीवानां कुलयोनिविकल्प इह नास्ति इत्युच्यते। तद्यथा-पृथ्वीकायिक जीवानां द्वाविंशतिलक्षकोटिकुलानि। अपकायिक-जोवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, तेजस्कायिकजीवानां त्रिलक्षकोटिकुलानि, वायुकायिकजीवाना सप्तलक्षकोटिकुलानि, वनस्पतिकायिकजीवानाम् अष्टोत्तरविंशतिलक्षकोटिकुलानि। द्वीन्द्रियजीवानां सप्तलक्षकोटिकुलानि, त्रीन्द्रियजीवानां अष्टलक्षकोटिकुलानि, चतुरिन्द्रियजीवानां नवलक्षकोटिकुलानि।

पंचेन्द्रिययेषु, जलचराणां सार्द्धद्वादशलक्षकोटिकुलानि । आकाशचरजीवानां द्वादशलक्षकोटिकुलानि, चतुष्पदजीवानां दशलक्षकोटिकुलानि । सरीसृपानां नवलक्षकोटिकुलानि, नारकाणां पचविंशतिलक्षकोटिकुलानि । मनुष्याणां द्वादशलक्ष-कोटिकुलानि देवानां षठ्त्रिंशतिलक्षकोटिकुलानि । सर्वाणि सार्द्धसप्तवनत्यग्रशतकोटिलक्षाणि १९७५०००००००००००।

पृथ्वीकायिकजीवाना सप्तलक्षयोनिमुखानि । अप्कायिक-जीवानाम् सप्तलक्षयोनिमुखानि, तेजस्कायिकजीवानां सप्त-लक्षयोनिमुखानि, वायुकायिकजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, नित्यनिगोदिजीवानां सप्तलक्षयोनिमुखानि, चतुर्गतिनिगोदि-जीवानां सप्तलक्षयोनि, मुखानि वनस्पतिकायिक जीवानां दशलक्षयोनिमुखानि, द्वीन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, त्रीन्द्रियजीवाना द्विलक्षयोनिमुखानि, चतुरिन्द्रियजीवानां द्विलक्षयोनिमुखानि, देवानां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, नारकाणां चतुर्लक्षयोनिमुखानि, तिर्यग्जीवानां चतुलक्षयोनिमुखानि, मनुष्याणां चतुदशलक्षयोनिमुखानि ।

स्थूलसूक्ष्मैकेन्द्रियसञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिपंचेन्द्रियद्वीन्द्रियचतुरिन्द्रियपर्य्या-प्तापर्य्याप्तकभेदसनाथचतुर्दशजीवस्थानि । गतीन्द्रियकाययोग-वेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्याभव्यसंज्ञ्याहारविकल्पक्षणानि मार्गणास्थानानि । एतानि सर्वाणि च तस्य भगवतः परमात्मनः शुद्धनिश्चयनयबलेन न सन्तीति भगवतां सूत्रकृतामभिप्रायः । तथाचोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

सकलपि विहायाह्नायचिच्छक्तिरिक्तिम्
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्य, सारो जीव इवानयः
अतोऽतिरिक्तास्ते सर्वे भावाः पौद्गलिका इमे ।।

तथाहि ।

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा
व्रजति स च विकल्पं संसृतेर्घोररूप ।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधि.
परपरणति दूर याति सन्मात्र एषः ।।

इत्थ बुद्ध.पदेश जननमृतिहर य जरानाशहेतु
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटमद्रत्नमालाचिताघ्रेः ।।
वीरात्तीर्थाधिनाथात् दुरितमघकुलध्वातविध्वसदक्ष
एते सतो भवाब्धेरपरतटममा याति सच्छीलपोताः ।।

सामान्यार्थ—इस शुद्ध जीव के चार गति मे भ्रमण नही है, न इसके जन्म, जरा, मरण और शाक है · तथा इसके कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणा स्थान भी नही है ।

विशेषार्थ इस गाथा में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा यह कथन है कि इस शुद्ध जीव के समस्त ससार के विकार नही है । यह शुद्ध जीवास्तिकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्म को स्वीकार नही करता इस कारण नरक, तिर्यच मनुष्य और देव ऐसी चार गतियों में भ्रमण नहीं करता । यह आत्मा नित्य शुद्ध चिदानन्द रूप है कारण परमात्मस्वरूप है अर्थात् इसी के ही ध्यान करने से परमात्मा होता है । न इस जीव के द्रव्य कर्म भावकर्म के ग्रहण योग्य विभावपरिणति होती है इसलिए इसके जन्म, जरा, मरण रोग और शोक नहीं है । न इसके चार गति सम्बन्धी जीवों के योग्य कुल और योनि के विकल्प हैं । कुल और योनि

के भेद कहते हैं—पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख कोड़कुल है। जलकायिक जीवों के सात लाख कोड़कुल है। तेजकायिक जीवों के तीन लाख कोड़ कुल है वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख कोड़ कुल है। द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख कोड़ कुल है, तेन्द्रिय जीवों के आठ लाख कोड कुल हैं। चौन्द्रिय जीवों के नौ लाख कोड़ कुल है पचेन्द्रियों में जलचर जीवों के साढे बारह लाख कोड़ कुल है आकाशचारी पक्षियों के बारह लाख कोड़ कुल है। चार पैरवाले पशुओं के दश लाख कोड कुल है, सरीसर्पों के नौ लाख कोड कुल है, नारकियो के पच्चीस लाख कोड़ कुल है। मनुष्य के बारह लाख कोड़ कुल है, देवों के छब्बीस लाख कोड़ कुल है। सब मिल के एक सौ साढे सत्तानवे लाख कोड़ कुल है (१९७५०००००००००००)। अब योनियों के भेद कहते हैं—पृथ्वीकायिक जीवो के सात लाख योनिमुख है। जलकायिक जोवों के सात लाख योनिमुख हैं। तेजकायिक जीवों सात लाख योनिमुख है। वायुकायिक जीवों के सात लाख योनि मुख है। नित्य निगोद जीवो के सात लाख योनिमुख हैं। चतुर्गति निगोद जीवों के सात लाख योनिमुख है। वनस्पति-कायिक जीवों के दश लाख योनिमुख है। द्विन्द्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख है। तेन्द्रिय जोवो के दो लाख योनिमुख हैं। चौइंद्रिय जीवों के दो लाख योनिमुख हैं. देवों के चार लाख योनिमुख हैं। नारकियों के चार लाख योनिमुख हैं। तिर्यंच पचेन्द्रियो के चार लाख योनिमुख है। मनुष्यों के चौदह लाख योनिमुख हैं। स्थूल एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, संज्ञी पचेन्द्री, असज्ञी, पंचेन्द्री, द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइंद्रिय, यह सात प्रकार के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चौदह प्रकार के होते है। इन

ही को १४ जीव ममास कहते हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, इन समास मार्गणा-स्थान आदि स्वरूप श्रीगोमट्टसार से जानना योग्य है। श्री भगवान् सूत्रकार श्रीकुंदकुंदाचार्य जी का यह अभिप्राय है कि शुद्ध निश्चय नय करके उस भगवान् परमात्मा अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकाय के यह कुल योनि, समास, मार्गणा आदि कोई स्थान नहीं है। ऐसा ही श्री अमृचंद सूरि ने कहा है। सर्व हो चैतन्य शक्ति से खाली जो पदार्थ है उनको इस समय त्याग कर तथा प्रगट रूप अपनी चैतन्य मात्र शक्ति में प्रवेश करके जगत के साक्षात् ऊपर ऊपर रहने वाले अन्त रहित आत्मा को अपने आत्मा के विष यह परमात्मा अर्थात् महान् आत्मा अनुभव करे। चैतन्य शक्ति से व्याप्त सर्व का सारभूत यह आत्मा है, यह इतना ही है इसके सिवाय अन्य सर्व ही भाव पुद्गल सम्बन्धी है।

भावार्थ—चैतन्य शक्ति का पुंज यह आत्मा ही है जगत में रहते हुए भी जगत के पदार्थों से भिन्न है। इसलिए इस शुद्ध आत्मा का अनुभव कार्यकारी है। टीकाकार कहते हैं कि "यह आत्मा जो निरन्तर ऐसी भावना करे कि मैं अखण्ड ज्ञान रूप हूं तो भयानक संसार सम्बन्धी विकल्प को दूर करता है। आर निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करके सत्ता मात्र रहकर पर परणमन से दूर तुलना रहित और पापवर्जित अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्रीवीरनाथ तीर्थङ्कर से पाप कुल रूपी अंधकार का घात करने को प्रवीण तथा जन्म जरा मरण का नाशक ऐसा उपदेश समझ कर सत्य और शील के जहाज जो सन्त पुरुष सो ससार समुद्र के अगले तट को पहुंच जाते हैं। कैसे हैं वीरनाथस्वामी, जिनके चरणारविन्द भक्ति से भरे इन्द्रों

के मुकुटों को सत् रत्नमालाओं से पूजनीक हैं।

भावार्थ—श्रीवर्द्धमान स्वामी का यही उपदेश है जो संसार के विकल्प दूर कर आत्मानुभव करो—इस उपदेश को मानकर चलने वाले जीव अवश्य मुक्ति के भोगी होते हैं।

इह हि शुद्धात्मनः समस्तविभावाभावत्वमुक्तं :—

णिद्दंडो णिद्दंद्दो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥४३॥

निर्दण्डः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निःकलः निरालंबः।
नीरागो निर्दोषो निर्मूढो निर्भयः आत्मा ॥४३॥

मनोदण्डो वचनदण्डः कायदण्डश्चेत्येतेषां योग्यद्रव्यभावकर्मणामभावान्निदण्डः। निश्चयेन परमपदार्थव्यतिरिक्तसमस्तपदार्थसार्थाभावान्निद्वन्द्वः। प्रशस्ताप्रशस्तसमस्त मोहरागद्वेषाभावन्निर्ममः। निश्चयेनोदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणाभिधानपंचशरीरप्रपंचाभावान्निःकलः। निश्चयेन परमात्मनः परद्व्यनिखलम्बत्वात् निरालंबः मिथ्यात्ववेदरागद्वेषहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साक्रोधमानमायालोभाभिधानाभ्यन्तरचतुर्दशपरिग्रहाभावान्नीरागः। निश्चयेन निखिलदुरितमलकलंकपंकनिर्न्निक्तसमर्थसहजपरमवीतरागसुखसमुद्रमध्यनिर्मग्नस्फुटितसहजावस्थात्मसहजज्ञानगात्रपवित्रत्वान्निर्दोषः। सहजनिश्चयनयबलेन सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखाद्यनेकपरमधर्माधारनिजपरमतत्त्वपरिच्छेदनसमर्थत्वान्निर्मूढः। अथवा साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारनयबलेन। त्रिकालत्रिलोकवर्तिस्थावरजंगमात्मकनिखिलद्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानावस्थ-

त्वात् निर्मूढश्चनिखिलदुरितवीरवैरिवाहिनी दुःप्रवेशनिजशुद्धा-न्तस्तत्वमहादुर्गनिलयत्शन्निभंयमात्मा ह्यु पादेयः इति ।

तथा चोक्ताममृतशीतौ –

'स्वरनिकरविसर्गव्यंजनाक्षरैर्यद्रहिततहान
शाश्वत मुक्तसख्य ।
अरसतिमिररूपस्पशगन्धाम्बु ायुक्षितिपवन-
सखाणुस्थूलदिक्चक्रवालम् ॥"

तथाहि—

दुरघवनकुठारः प्राप्तदु.कर्मपारः
परपरणतिदूरः प्रास्तरागाब्धिपूर ।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः
सपदि समयसारः पातु मामस्मारः ॥
जयति परमतत्व तत्त निष्णातपद्म–
प्रभुमुनिहृदयाब्जे सस्थित निर्विकारम् ।
हतविविधविकल्प कल्पनामात्ररम्याद्
भवभवसुखदुःखान्मुक्तमुक्त बुधैर्यत् ॥
अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा
सहजगुणमणीनामाकरं तत्त्वसारम् ।
निजपरणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेन
भजतु भवविमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः ॥
भवभोगपराङ्मुख हे यते
पदमिद भवहेतुविनाशनम् ।
भज भजात्मनिमग्नमते पुन-
स्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ॥

समयसारमनाकुलमच्युतम्
जननमृत्युरुजादिविवर्जितम् ।
सहजनिर्मलशर्म्म सुधामयम्
समरसेन सदा परिपूजये ॥
इत्थं निजज्ञेन निजात्मतत्त्व-
मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम् ।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्य-
स्तद् भावयाम्युत्तमशर्मणेऽहम् ॥
आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्त्वं
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालतरं प्रबोधम् ।
तद्भावनापरिणता भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयान्ति भवसंभवदुःखदूरे ॥

सामान्यअर्थ—वह शुद्ध आत्मा दंड रहित है, द्वन्द्व रहित है, ममकार रहित है, शरीर रहित है, आलम्ब रहित है, राग रहित है, द्वेष रहित है, मूढ़ता रहित है तथा भय रहित है, निश्चय-करके ऐसा जाना।

विशेषअर्थ—इस गाथामें कहते हैं कि शुद्ध आत्माके समस्त विभावभावों का अभाव है। मनदंड, वचनदंड, और कायदंड अर्थात् मन वचन कायकी क्रिया और इनके योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म होनेके अभावसे यह शुद्धआत्मा निर्दंड है। निश्चयकरके यह शुद्ध आत्मा ही परमपदार्थ है सर्व अन्य पदार्थोंसे रहित है, इसकारण निर्द्वन्द्व है। न इस आत्माके शुभ तथा अशुभ समस्त मोह रागद्वेष हैं, इनके अभाव होने से यह आत्मा ममकार रहित निर्मम है। निश्चयकरके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण इन पाँच शरीरोंसे रहित होनेसे यह आत्मा निःकल

अर्थात् अशरीर है। निश्चयकरके उस परमात्माके परद्रव्यका कोई आलम्ब अर्थात् सहारा नहीं है इसलिये वह निरालम्ब है। मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध मान, माया, लोभ इसप्रकार चौदह प्रकारका अभ्यंतरपरिग्रह उस प्रभुके नहीं है। इसलिये वह शुद्ध आत्मा नीराग है। निश्चयकरके सम्पूर्ण पाप मलकलंकरूपा कीचडसे रहित सामर्थवान् स्वाभाविक परमवीतरागरूप सुख समुद्रके मध्य डूबी हुई प्रगट सहज आत्माकी अवस्था होनेके कारण वह शुद्ध आत्मा स्वाभाविक ज्ञानरूप शरीर के धारनेसे पवित्र है इसलिये वह आत्मा निर्दोष है। स्वाभाविक निश्चयनयके बलसे स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चरित्र तथा स्वाभाविक परमवीतराग सुख आदि अनेक परमधर्मोको धारण करनेवाला ऐसा जो निज उत्कृष्ट तत्व उसके जाननेको शक्तिमान है इस कारण वह शुद्ध आत्मा निमूंढ अर्थात मूढता रहित है। अथवा निमूंढ के स्थान में निर्गूढ शब्द भी है इसलिए कहते हैं कि आदि सहित परतु अतरहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावरूप होने से शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय के बलसे वह आत्या भूतभविष्य वतमान त्रिकाल सम्बन्धी तीनलोकवर्ती समस्त त्रस स्थावर जीवोंको, म चर अचर पदार्थो को तथा उनके सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंको एक ही समय में जानने को शक्तिमान जो सम्पूर्णतया निर्मल केवल ज्ञानरूप अवस्था उनका धारण करने वाला है, इस कारण वह शुद्ध आत्मा निर्गूढ अर्थात कोई बात जिससे छिपी नहीं है ऐसा है। तथा जो आत्मा सर्वपाप रूप वैरियों की सेना से किसी प्रकार भी योग्य नहीं है, ऐसे शुद्ध निज आत्म तत्त्वरूप महान दुर्ग अर्थात् किले में बसने के कारण निर्भय अर्थात् भय रहित है। भावार्थ—जो दुःप्रवेश दुर्ग में बसे जहाँ कोई शत्रु

घुस नहीं सके उसको किस बात का भय। ऊपर कहे हुए विशेषणों सहित जो शुद्ध आत्मा है सो ही उपादेय है—अनुभव करने के योग्य है। ऐसा ही श्रीअमृतशीति नाम ग्रन्थ में कहा है:—"वह शुद्ध आत्मा अ आ आदि स्वर समूह व विसर्ग व क ख आदि व्यंजन ऐसे अक्षरो से रहित है, स्वहित हानि से रहित अविनाशी मुक्तरूप है, उसके पचरस, अधकार, रूप, स्पर्श, गध, जल, वायु, पृथ्वी अग्नि आदि के अणु और स्थूल रूप तथा दिशाओं के चक्र नहीं है।" टीकाकार कहते हैं वह समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा शीघ्र ही हमारी रक्षा करे। कैसा है वह समयसार, जो पापरूपी बनके काटने लिये कुठार के समान है। जो दुष्ट कर्मों की विजय को प्राप्त कर चुका है, पररूप परिणमन करने से दूर है। राग रूपी समुद्र को जिसने सोख लिया है। नाना प्रकार के विकार अर्थात् विभावभाव उनको जिसने नाश कर डाले हैं, जो सत्य आनन्दरूपी समुद्र है तथा जिसने कामदेव को अस्त कर दिया है। वह परमतत्त्व जयवन्त हो। जो आत्मतत्त्व में तल्लीन पद्मप्रभमुनि के हृदय कमल में विराजित है। जो विकार रहित है, नाना प्रकार विकल्पों का नाश करने वाला है तथा जो कल्पनामात्र अर्थात् देखनेमात्र सुन्दर ऐसे भवभव के सुख दुखों से रहित है, बुद्धिमान आचार्यों ने जिस परमतत्त्व का ऐसा ही स्वरूप कहा है। हे भव्यजीव यदि भव्यतारूपी भाव ने तुझको प्रेरित किया है तो तू संसार से मुक्ति प्राप्त करने के लिये ऐसे ही आत्मा का भजन कर, जो रात्रिदिन अपने अनंत ज्ञान के अधीन है। जो स्वाभाविक गुण रूपी रत्नों की खानि है, जो सवतत्त्वों में सार है तथा आत्मीक परिणति से उत्पन्न सुखरूपी समुद्र में मग्न है। हे यती जो तू संसार और भोगों से उदास है तथा निज आत्मा

में अपनी बुद्धि धारने वाला है तो तू ससार के कारण कर्मबंध को नाश करने वाला जो यह आत्मीक पद है उसी का भजन कर। विनाश होने वालो वस्तु की चिंता करने से तुझको क्या लाभ होगा ? मैं उस समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा को समतारसरूपी जल से सदा पूजता हूं, जो समयसार परमात्मा आकुलतारहित है, अपने गुणों से अच्युत अर्थात् दृढ़ है, जन्म मरण रोगादि से रहित है तथा स्वाभाविक निर्मल आनन्दरूपी अमृत का घर है। पूर्व सूत्रकार आचार्यों ने जैसा आत्मतत्वका वर्णन किया है ऐसा ही निज आत्म तत्व को अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा विशुद्ध रूप जान करके तथा अनुभव करके जो कोई भव्यजीव मुक्तिको प्राप्त करता है उस शुद्ध आत्माका मैं उत्तम सुखकी प्राप्ति के लिए निरन्तर भाता हूं, अर्थात् मनन करता हू। जो भव्यजीव इस लोक में परमात्मतत्वकी भावना में अपने आत्मा को परिणमन करता है वह भव भव के दुःखों से दूर होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करना है। कैसा है वह परमात्मतत्व, जो आदि अंतरहित, पापमुक्त, निर्द्वंद्व अक्षय अत्यंत विशाल और ज्ञानवान है। भावार्थ—सब भावोंको मेटकर एक शुद्ध स्वभाव की भावना ही कार्यकारी है।

अत्रापि शुद्धजीवस्वरूपमुक्तम् :—

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥४४॥

निर्ग्रन्थो नीरागो निःशल्यः सकलदोषनिर्मुक्तः।
निःकामो निःक्रोधो निर्मानो निर्मदः आत्मा ॥४४॥

बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशतिपरिग्रहपरित्यागलक्षणत्वान्निर्ग्रन्थः। सकलमोहरागद्वेषात्मकचेतनकर्माभावान्नीरागः। निदानमाया-

मिथ्याशल्यत्रयाभावान्निःशल्यः । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवास्तिकायस्य द्रव्यभावनोकर्म्माभावात् सकलदोषनिर्मुक्तः । शुद्धनिश्चयनयेन निजपरमतत्त्वेऽपिवाञ्छाभावान्निःकामः । निश्चयनयेन प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तपरद्रव्यपरिणतेरभावान्निःक्रोधः । निश्चयनयेन सदा परमसमरसीभावात्मकत्वान्निर्मानः । निश्चययेन निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वान्निर्मदः उक्तप्रकारविशुद्धसहजसिद्धनित्यनिरावरण निजकरणसमयसारस्वरूपमुपादेयमिति । तथाचोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि :—

'इत्याच्छेदात् परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेद—
भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वं ।
सच्चिन्मात्रे महति विशदे मूर्छितश्चेतनोय
स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्तये मे ॥

तथाहि—

ज्ञानज्योतिः प्रहतदुरितः ध्वान्तसंघातकात्मा
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः ।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलम्
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम् ॥

फिर भी उसी का स्वरूप कहते हैं ।

सामान्य अर्थ—वह शुद्ध जीवास्तिकाय निर्ग्रन्थ है वीतराग है । निःशल्य है, सर्व दोषरहित है, कामरहित, क्रोधरहित तथा मान और मदरहित है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें भी शुद्ध जीवका स्वरूप कहा है । यह आत्मा बाह्य और अभ्यंतर २४ प्रकारके परिग्रहरहित है इससे निर्ग्रन्थ है, सम्पूर्ण मोह रागद्वेषमयी चेतनकर्मके अभावसे

नीराग है, निदान, माया, और मिथ्यात्व ऐसे तीन शल्यरहित निःशल्य है, शुद्ध निश्चयकरके शुद्ध जीवास्तिकायके द्रव्यकर्म और नोकर्म नहीं हैं इससे सर्व दोषोंसे रहित है। शुद्ध निश्चयकरके अपने परम तत्त्वमें भी वांछाके न होनेसे निःकाम है। निश्चयकरके शुभ अशुभ सर्व परद्रव्यकी परिणतिके न होनेसे निःक्रोध है, क्योंकि परद्रव्यका सम्बन्ध ही क्रोधका कारण है। निश्चयकरके सदा परम समतारसमयी है इससे मानका अभावरूप निर्मान है। निश्चयकरके अपने आत्मभावमें पूर्णपने लीन होनेके कारण मदरहित निर्मद है। इस प्रकार विशेषकरके शुद्ध सहजसिद्ध अविनाशी निज कारणसमयसारका स्वरूप कहा है अर्थात् जिस स्वरूपके मनन करनेसे समयसारता प्राप्त होती है इसकारण वही स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है। ऐसाही श्रीअमृतचंद्रसूरिने कहा है :—सुचिर कालसे पर परिणतिके छेदसे तथा कर्त्ता कर्म आदि भेदकी भ्रांतिके नाश होनेसे जिसने शुद्धात्मतत्त्वको प्राप्त किया है तथा जो चेतन सत्य चिन्मात्र प्रत्यक्ष ज्योतिमें मूर्छित है उसकी स्वाभाविक उदयरूपमहिमा सर्वदा मेरेको मुक्त करनेकेलिये स्थित रहे अर्थात् कायम रहे। टीकाकार कहते हैं कि जिसने ज्ञान ज्योतिके द्वारा पाप-अंधकारके समूहको नाश कर डाला है, जो नित्य आनंद आदि अतुल महिमाका धारी है, जो सदा ही मूर्त्तिकरके रहित है, जो अपने स्वभावमें निश्चल रहनेके कारण अपने शुद्ध स्वभावका मूल है, जो भवभयको हरनेवाला मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वामी है उसको मैं वंदना करता हूं।

इह हि परमस्वभावस्य कारणपरमात्मस्वरूपस्य समस्तपौद्गलिकविकारजातं न समस्तीत्युक्तम् :—

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणओसयादिपज्जाया ।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति ।।४५।।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाणअलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।४६।।

जुम्मं

वर्णरसगंधस्पर्शाः स्त्रीपुंनपुंसकादिपर्य्यायाः ।
संस्थानानि सहननानि सर्वे जीवस्य नो संति ।।४५।।

अरसमरूपगंधं अव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थाम् ।।४६।। युग्मं ।

निश्चयेन वर्णपंचकम्, रसपंचकं गन्धद्वितयम् स्पर्शाष्टकम्, स्त्रीपुंनपुंसकादिविजातीयविभावव्यंजनपर्य्यायाः कुब्जादिसंस्थानानि वज्रवृषभनाराचादिसंहननानि न विद्यन्ते । पुद्गलानामेव न जीवानाम् । संसारावस्थाया संसारिणो जीवस्य स्थावरनामकर्मसंयुक्तस्य कर्मफलचेतना भवति त्रसनामकर्मसनाथस्य कार्ययुतकर्मफलचेतना भवति । कार्यपरमात्मनः कारणपरमात्मनश्च शुद्धज्ञानचेतना भवति । अत एव कार्यसमयसारस्य वा कारणसमयसारस्य वा शुद्धज्ञानचेतना सहजफलरूपा वा भवति अतः सहजशुद्धज्ञानचेतनात्मानं निजकारणपरमात्मानं संसारावस्थायाम् मुक्तावस्थायां वा सर्वदैकरूपत्वादुपेयमिति हे शिष्य त्वं जानीहि इति । तथाचोक्तमेकत्वसप्ततौ—

"आत्मा भिन्नस्तदनुगतवत् कर्मभिन्नं तयोर्या
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।

कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत् तच्च भिन्नं मतं ये
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ।।"

तथाहि—

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्
रहितमखिलमूर्त्तद्रव्यजालं विचित्रम् ।
इतिजिनपतिवाक्य वक्ति शुद्ध बुधानाँ
भुवनविदितमेतद् भव्य जानीहि नित्यम् ।।

आगे कहते हैं कि कारण परमात्मा के पुद्गल द्रव्य सबंधी कोई विकार नहीं है।

सामान्यार्थ—उस शुद्ध जीवास्तिकाय के वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुसक पर्याय छः संस्थान छः संहनन नहीं हैं। वह आत्मा रस रहित, रूप रहित, गंध रहित है।— इन्द्रियों द्वारा प्रगट नहीं है, चेतना गुणवान है, शब्द रहित है किसी चिन्ह व आकार से ग्रहण व निर्देश करने योग्य नही है।

विशेषार्थ — इन दो गाथाओं में कहा है कि परम स्वभावधारी कारण परमात्मा के पुद्गलद्रव्य सबंधी कोई भी विकार नहीं है। निश्चय नय करके उस शुद्ध आत्मा के पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, स्त्री, पुरुष नपुंसक, विभावरूप विजातीय व व्यंजन पर्याय, कुब्जक आदि छः संस्थान वज्र वृषभ नाराच आदि छ सहनन नही है यह सर्व पुद्गलों के ही होते हैं जीवों के नहीं। ससारी अवस्था में ससारी जीव के स्थावर नामा नाम कर्म के उदय से एकेन्द्रियों के कर्मफल चेतना होती है। त्रस नामा नाम कर्म के उदय से त्रस जीवो के कार्य सहित कर्म चेतना होती है। कार्य रूप परमात्मा तथा कारण रूप परमात्मा के शुद्ध ज्ञान से चेतना होती। इस कारण कार्य समयसार वा कारण समयसार के जो शुद्धज्ञान चेतना होती

है वह स्वभावरूप तथा स्वाभाविक फलरूप है । अतएव हे शिष्य; तुम सहज शुद्धज्ञान चेतनारूप आत्माको अर्थात् निज कारण परमात्मा को ससार अवस्था वा मुक्तरूप अवस्था में सर्वदा एकरूप उपादेय है, ऐसा जानो । भावार्थ—कर्मफल चेतना, और कर्म चेतना के भावों को त्याग कर शुद्ध ज्ञान चेतना के ही भाव सदा कर्तव्य हैं । ऐसा ही एकत्वसप्तति में कहा है :—"आत्मा भिन्न है वैसे ही उसके साथ रही हुई नोकर्म देह भिन्न है तथा द्रव्यकर्म भिन्न है, कर्म और आत्मा की निकटता से जो विकार होता है वह विकार भी शुद्ध आत्मा से भिन्न है । काल, क्षेत्र आदि जो कुछ परद्रव्य हैं सो सर्व मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न हैं । सर्व ही द्रव्य अपने अपने गुण कला से शोभित रह करके भिन्न ही भिन्न रहते हैं ।" टीकाकार कहते हैं कि "आत्मा के साथ बध होवे व न होवे शुद्ध जीव के स्वरूप से समस्त ही मूर्तीक द्रव्योंका विचित्र जाल भिन्न है पृथक है । यह श्री जिनेन्द्र का शुद्ध वचन है । आचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है । यही इस भुवन में प्रगट भी है । हेतू भव्य नित्य ऐसा ही समझ" । भावार्थ—सर्व परद्रव्यजनित विकारों को अपने शुद्ध स्वरूप से अलग अनुभव कर, परमात्मस्वभाव के मनन करने का अभ्यास करना योग्य है ।

शुद्धद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण संसारिजीवाना मुक्तजीवानां विशेष्येभावोपन्यासोयम्—

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जोव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

यादृशा: सिद्धात्मानो भवमालीना जीवास्तादृशा भवन्ति ।
जरामरणजन्ममुक्ता अष्टगुणालंकृता येन ॥४७॥

ये केचिद् अत्यासन्नभव्यजीवाः ते पूर्व संसारावस्थायां संसारक्लेशायासचिताः सतः सहजवैराग्यपरायणाः द्रव्यभाव-लिंगधराः परमगुरुप्रसादितपरमागमाभ्यासेन सिद्धक्षेत्रं परिप्राप्य निर्व्याबाधकसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलसुखकेवल - शक्तियुक्ताः सिद्धात्मानः कार्यसमयसाररूपाः कार्यशुद्धास्ते यादृशा-स्तादृशा एव भविनः शुद्धनिश्चयेन येन कारणेन तादृशेन जरा-मरणजन्ममुक्ताः सम्यक्त्वाद्यष्टगुणपुष्टितुष्टाश्चेति ।

प्रागेव शुद्धता येषाम् सुधियां कुधियामपि ।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम् ॥

आगे संसारी और मुक्त जीवों की समानता बताते हैं :—

सामान्यार्थ—जैसे सिद्ध आत्मा हैं वैसे ही ससार में लीन जीव हैं । कैसे है सिद्ध, जरा मरण और जन्म से रहित है तथा अष्टगुण से शोभायमान हैं ।

विशेषार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से संसारी और मुक्त जीवों में कोई अतर नही है यह बात इस गाथा में कहते हैं । जो कोई अत्यन्त निकट भव्य जीव है वे प्रथम ससार अवस्था में संसार के क्लेशो से सचेत हुए और फिर स्वभाव से ही वैराग्य में लीन हुए तथा द्रव्य लिग धार भाव लिगी मुनि हो के जिन्होंने परमगुरु के प्रसाद से परमागम का अभ्यास किया और ध्यान के बल से कर्मों का नाश कर सिद्धक्षेत्र को प्राप्त किया और वाधा-रहित सम्पूर्ण प्रकार से निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख, केवल वीर्य से युक्त होकर सिद्धात्मा अर्थात् कार्यसमयसार रूप हो गए अर्थात् कार्य शुद्ध भए । शुद्ध परमात्मा ध्यान अवस्था में कारण समयसार है वही ध्यान के फल में कार्य रूप समयसार होता है ।

भावार्थ—ज्ञानी जीव उसी के ध्यान के बल से उस सदृश हो जाता है। यह सिद्ध जैसे शुद्ध हैं वैसे ही शुद्ध निश्चय नय करके भव्य जीव भी शुद्ध हैं। जैसे सिद्ध जन्म जरा मरण करके रहित हैं और सम्यक्दर्शन अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, सूक्ष्मत्व अवगाहना, अगुरुलघु, अव्यावाध ऐसे आठ गुण से सहित हैं ऐसे ही शुद्ध निश्चय करके ये भव्य जीव भो है शुद्ध निश्चय नय पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को प्रतिपादन करने वाला हैं। इस लिए इसकी अपेक्षा से मोक्ष प्राप्त और मुक्त होने योग्य संसारी भव्यात्माओं के मध्य में कोई अन्तर नहीं है।

भावार्थ—ज्ञानी को निज स्वरूप ही को शुद्ध सदृश ध्यान करना योग्य है। टोकाकार कहते हैं कि "जिन सिद्ध और ससारी भव्य जोवों में पूर्व हो से शुद्धता विद्यमान है तब हम किस नय से उनके भेद को जाने।" भावार्थ—शुद्ध निश्चय नय से दोनो का स्वरूप एक है, यद्यपि व्यवहार नय से भेद है।

अय च कार्यकारणसमयसारयोर्विशेषभावोपन्यासः—

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिद्धि णेया ॥४८॥

अशरीरा अविनाशा अतीन्द्रिया निर्मला विशुद्धात्मानः।
यथा लोकाग्रे सिद्धास्तथा जीवाः संसृतौ ज्ञेयाः ॥४८॥

निश्चयेन पचशरीरप्रपंचाभावादशरीराः। निश्चयेन नरनारकादिपर्यायपरित्यागस्वीकाराभावदविनाशाः। युगपत-परमतत्वस्थितसहजदर्शनादिकारणशुद्धस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थ-सहजज्ञानज्योतिपहस्तितसमस्तसंशयस्वरूपत्वादतीन्द्रियाः।

मलजनकक्षायोपशमिकादिविभावस्वभावानामभावन्निर्मला: । द्रव्यभावकर्माभावाद् विशुद्धात्मान: यथैव लोकाग्रे भगवन्त: सिद्धपरमेष्ठिनस्तिष्ठन्ति तथैव संसृतावपि अमी केचिन्नयबलेन संसारिजीवा: शुद्धा इति ।

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहम्
शुद्ध कारणकार्यतत्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम् ।
इत्थं य: परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयम्
सारासारविचारचारुधिषणा बन्दामहे तं वयम् ।।

फिर भी अभेदभाव को दिखाते हैं :—

सामान्यार्थ—जैसे श्रीसिद्ध महाराज शरीर रहित अविनाशी, निर्मल, विशुद्ध स्वरूपवान होकर इस लोक के अग्रभाग में विराजमान हैं वैसे ही इस ससार में सर्व जीवों को निश्चय करके जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—इस गाथा में कार्य समयसार और कारण समयसार के भेद के अभाव को दिखलाया है । निश्चय करके जैसे सिद्ध भगवान औदारिक आदि पांच शरीरों से रहित अशरीर हैं, नरनारक आदि पर्याय के त्याग और ग्रहण के अभाव से अविनाशी हैं एक समय में भी परम आत्मीक तत्व के स्थिर भूत ऐसे स्वाभाविक दर्शन आदि तथा कारणमई शुद्ध स्वरूप के जानने में समर्थ ऐसी स्वाभाविक ज्ञान ज्योति करके सर्व संशयों को हटा देने से अतीन्द्र हैं अर्थात् इन्द्रियों के अवलम्बन रहित हैं । मल अर्थात् अतीचार उनको उत्पन्न करने वाले क्षयोपशम आदि विभाव स्वभावों के अभाव से निर्मल हैं, तथा द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादिक और भाव कर्म रागद्वेषादिक इनके

अभाव से विशुद्धात्मा है, ऐसे सिद्ध भगवान् परमेष्ठी लोक के अग्रभाग तनुवातबलय में विराजमान हैं। वैसे ही इस संसार में शुद्ध निश्चय से समस्त संसारी जीव शुद्ध रूप अवस्था में शोभायमान हैं।

भावार्थ—जब तक यह जीव वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं पहचानता तब तक वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिए स्वहित वांछक जीव को शुद्ध निश्चय से सदा ही अपने शुद्ध रूप का मनन करना चाहिए। टीकाकार कहते हैं 'कि जो जीव नित्य शुद्ध अशुद्ध विकल्पों में लवलीन है वह मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यदृष्टि के नित्य यह श्रद्धा है कि कारण और कार्य दोनों ही तत्वशुद्ध हैं। अर्थात् जिसके ध्यान करने से स्वरूप शुद्धी रूप साध्य की सिद्धि करना है वह साधन भी शुद्ध परमात्मा का भाव है तथा उसका साध्य भी शुद्ध परमात्मा है क्योंकि उपादान कारण सदृश ही कार्य होता है तथा जो कोई सार और असार के विचार करने में सुन्दर ऐसी अपनी बुद्धि करके इस अतुल अनुपम परमागम के अर्थ को समझता है वही सम्यग्दृष्टि है। हम उसको वन्दना करते हैं।

निश्चयव्यवहारनययोरुपादेयत्वप्रद्योतनमेतत:—

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदो जीवा ॥४९॥

एते सर्वे भावा: व्यवहारनयं प्रतीत्य भणिता खलु।
सर्वे सिद्धस्वभावा: शुद्धनयात् संसृतौ जीवा: ॥४९॥

ये पूर्वं न विद्यन्ते इति प्रतिपादितास्ते सर्वे विभावपर्याया: खलु व्यवहारनयादेशेन विद्यन्ते। संसृतावपि ये विभावभावैः-

चतुर्भिः परिणताः सन्तस्तिष्ठन्ति, अपि च। ते सर्वे भगवतां सिद्धानाम् शुद्धगुणपर्यायैः सदृशाः शुद्धनयादेशादिति।

तथाचोक्तम् श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

व्यवहरणनयः स्याद् यद्यपि प्राक्पदव्य -
मिह निहितपदानां हत हस्ताव-म्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित्॥

तथाहि।

शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ, संसृतावपि च नास्ति विशेषः।
एवमेव खलु तत्वविचारे, शुद्धतत्वरसिकाः प्रवदन्ति॥

आगे दोनों नयों की सफलता कहते हैं :—

सामान्यार्थ –ये सर्व ही भाव व्यवहार नय से कहे गए हैं। शुद्ध निश्चय से इस ससार के अन्दर के सर्व ही जीव सिद्ध भगवान के समान शुद्ध हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में निश्चय नय और व्यवहार नय की उपयोगिता बतलाते हैं। जो पूर्व गाथा में वर्णन किया है वे सब भाव शुद्ध नय से संसारी जीवों के नही हैं परन्तु वे ही सर्व विभाव भाव और विभाव पर्याय व्यवहार नय से जीवों के विद्यमान है। परन्तु शुद्ध नय के द्वारा ऐसा कहा जायगा कि जो औदयिक आदि चार भाव संसार अवस्था में जीवों के हैं वे ही भाव उन संसारी जीवों के नही हैं वे ससारी जीव भी भगवान सिद्धों के शुद्ध गुण और पर्यायों समान शुद्ध गुण और

पर्यायधारी हैं। ऐसा हो श्रीअमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है यद्यपि प्रथम अ॰॰थामें चलने वाले जीवोंके लिए यह व्यवहार नय हस्तावलम्बन है अर्थात् हाथसे सहारा दिए जानेके समान है तथासम्पूर्ण रूप पर पदार्थों से रहित चैतन्य के चमत्कार मात्र अपने उत्कृष्ट पदार्थ को अपने अन्तरंग में देखने वालों के लिए यह व्यवहार नय कोई चीज नहीं है। टीकाकार कहते हैं "निश्चय करके शुद्ध तत्व के रसिक लोग तत्व विचार के भीतर ऐसा कहते हैं कि शुद्ध निश्चय नय करके मुक्त और ससारी जीवों में कोई भी विशेष अर्थात् भेद नहीं है।

हेयोपादेयत्यागोपादानलक्षणकथनमिदम् :—

पुव्वुत्तसयतभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥ ५० ॥

पूर्वोक्तसकलभावाः परद्रव्यं परस्वभावा इति हेयाः।
स्वद्रव्यमुपादेयं अन्तस्तत्त्वं भवेदात्मा ॥ ५० ॥

ये केचिद् विभावगुणपर्यायास्ते पूर्वं व्यवहारनयादेशादुपादेयत्वेनोक्ताः शुद्धनिश्चयबलेन हेया भवन्ति। कुतः, परस्वभावत्वात् अतएव परद्रव्यं भवति। सकलविभावगुणपर्य्यायनिर्मुक्तं शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपम् स्वद्रव्यमुपादेयम्। अस्य खलु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्याधारः सहजपरमपारिणामिकभावलक्षणकारणसमयसार इति। तथाचोक्तम् श्रीमदमृतचन्द्र सूरिभि :—

सिद्धान्तोऽयमुदात्त चित्त चरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम्।
शुद्धं चिन्तयमेकमेव परम ज्योतिस्सदैवास्म्यहम्।

ऐते ये तु समुल्लसन्ति विविधाभावाः पृथग्लक्षणाः
तेऽहं नास्मियतोऽत्रते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ।।

तथाहि—

नह्यग्माकं शुद्धजोवास्तिकायादन्ये सव पुद्गलद्रव्यभावाः ।
इत्थंव्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदि सिद्धः सोययाति तामत्यपूर्वं ।

सामान्य अर्थ—पहले कहे गए सम्पूर्ण ही भाव परद्रव्य हैं और पर स्वभाव हैं, इस कारण त्यागने योग्य हैं तथा अंतरग जो अपना द्रव्य आत्मा सो उपादेय है ।

विशेषार्थ- इस गाथा में हेय उपादेय का कथन है । जो कोई विभाव गुण और विभाव पर्य्याय पहले कहीं है सो व्यवहार से उपादेय हैं परन्तु शुद्ध निश्चय नयके बलसे सर्व हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं । क्योंकि वे परस्वभाव हैं, अतएव पर, द्रव्य हैं आत्माका स्वद्रव्य नहीं हैं । तथा सब विभाव गुण और पर्यायों से रहित जो शुद्ध अंतरंग तत्व स्वरूप जो अपना आत्म द्रव्य है सो ही ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि यह आत्मा निश्चय से स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक दर्शन स्वाभाविक चारित्र और स्वाभाविक घर में वीतरागसुखमई शुद्ध अंतरंग तत्व रचना का आधार है । और यही स्वाभाविक परम पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसा कारण समयसार है ।

ऐसा ही श्री अमृतचंद्र सूरि ने कहा है :—निर्मल भाव में चलने वाले मोक्ष चाहने वाले पुरुषों को इसी सिद्धान्त की सेवा भक्ति करनी चाहिए कि मैं सदा शुद्ध चैतन्यरूप एक परम ज्यति स्वरूप हूं । तथा जो ये नाना प्रकार के भाव दिखलाई पड़ते हैं वे मुझसे भिन्न लक्षण के धारी हैं । न मैं उन रूप हूं और न वे मेरे स्वरूप हैं क्योंकि वे सर्व ही पर द्रव्य हैं । टीका

कार कहते हैं कि "जो तत्ववेदी प्रगटरूप से ऐसा कहता है कि मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूं तथा अन्य सब भाव पुद्गल द्रव्य के भाव हैं वही अपूर्व सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।"

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत्:—

विवरीयाभिणिवेस—विवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥ ५१ ॥

चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
अधिगमभावे णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ॥ ५२॥

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥

सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुख चरणं ।
ववहारणिच्छएणदु तह्मा चरणं पवक्खामि ॥ ५४ ॥

ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्तो तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

पंचयं ।

विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
संसहविमोहविभ्रमविर्जितं भवति संज्ञानम् ॥ ५१ ॥

चलमलिनम गाढत्वविवर्जितश्रद्धानमेव सम्यक्त्वम् ।
अधिगमभावो ज्ञानं हेयोपादेयतत्वानाम् ॥५२ ॥

सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्यज्ञानकाः पुरुषाः ।
अन्तर्हेतवेभणिनाः दर्शनमोहस्य क्षमप्रभृतेः ।। ५३ ।।

सम्यक्त्वं संज्ञानं विद्यते मोक्षस्य भवति शृणु चरणम् ।
व्यवहारनिश्चयेन तु तस्माच्चरणं प्रवक्ष्यामि ।। ५४ ।।

व्यवहारनयचरित्रे व्यवहारनयस्य भवति तपश्चरणं ।
निश्चयनयचारित्रे तपश्चरणं भवति निश्चयतः ।।५५।।

पचकं ।

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जित-श्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरपराहेतुभूतानां पचपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढविवर्ज्जितसमुपजनितानिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव । विपरीते हिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । सज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव । तत्र सशयः तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्यादि-प्रोक्ते वस्तुनि निश्चयस्वरूप । चलमलिनादिविवर्ज्जितश्रद्धान-मेव अभेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्व-परिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्' अस्य परिणामस्य बाह्यसहकारि-कारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादन-समर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति । ये मुमुक्षवः तेप्यूपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः । दर्शन मोहिनीयक-मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति अभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणतेर्ज्जो-वस्य टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजपरमतत्त्वश्रद्धानेन, तत्प-रिच्छित्तिमात्रांतर्मुखपरमबोधेन, तद्रूपाविचलस्थितिरूपसहज-चारित्रेण, अभूतपूर्वः सिद्धपर्यायो भवति । यः परमजिनयोगी श्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्तिरूपव्यवहारनयचरित्रे तिष्ठति, तस्य खलु व्यवहारनयगोचर तपश्चरणं भवति । सहजनिश्चय-

नयात्मकपरमस्वभावात्मपरमात्मनि प्रतपनं तप., स्वस्वरूपा-
विचलस्थितिरूपं सहजनिश्चयचारित्रम् अनेन तपसा भवतीति ।
तथाचोक्तमेकत्वसप्ततौ—

"दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ।।"

तथा च—

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम् ।

अघ कुलमलपंकानीक निर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ।।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्य-वृत्तौ शुद्धभावाधिकारस्तृतीयः श्रुतस्कन्ध ।। ३ ।।

सामान्यअर्थ—उलटे अभिप्राय से रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक्त है । जो संशय, विमोह, विभ्रम से रहित है वही सम्यग्ज्ञान है चल, मलिन, अगाढ दोषों से रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक्त है । हेय त्यागने योग्य तथा उपादेय ग्रहण करने योग्य तत्त्वों का जानना सो ज्ञान है । सम्यक्त का निमित्त जिन सूत्र है अर्थात् जैन शास्त्रों के द्वारा जो भाव ज्ञान होता है वही सम्यक्त होने का निमित्त है जिन सूत्र के ज्ञायक पुरुषों को सम्यक्त होने में अतरंग कारण दर्शन मोहिनी का क्षय, क्षयोपशम् तथा उपशम है । सम्यक्त और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्चारित्र भी मोक्ष का कारण है इसलिये व्यवहार निश्चयरूप

चारित्र को आगे कहूंगा। व्यवहारनयसे व्यवहार चारित्र और तप होता है।

विशेषार्थ—इन गाथाओं में रत्नत्रय के स्वरूप का वर्णन है। भेदोपचाररूप व्यवहार रत्नत्रय में प्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन विपरीत अभिप्राय रहित जीवादि सात तत्वों का श्रद्धान रूप है। कैसा है यह श्रद्धान, जो श्रद्धान मोक्ष के परम्परा कारण भगवत श्रीअरहतसिद्ध, आचार्य्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठी की निश्चल दृढ़ भक्ति सहित है। कैसी है दृढ़भक्ति, जिसमें चल, मल, अगाढ़ ये तीन दोष नही हैं–इस श्रद्धान में पंचपरमेष्ठी से विपरीत हरिहरादिक द्वारा प्ररूपण किये पदार्थो में श्रद्धा का अभाव है अर्थात् अन्य एकान्त धर्मों के तत्वो को एकान्त रूप अर्थात् अनेकान्त भूतार्थ पदार्थोंसे उलटा जो श्रद्धान करना तथा मोक्ष में कारणभूत पदार्थों को सच्चा यथार्थ करना सो सम्यक्त है। व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी संशय, विमोह विभ्रम से रहित है। देव जिनेन्द्र होने चाहिये या शिव होने चाहिये ऐसा जो शंकारूप ज्ञान सो संशय है। शाक्य आदि के कहे हुए पदार्थों में श्रद्धा होनी सो विमोह है। कुछ भी निश्चय करने की आकांक्षा का न होना सो विभ्रम है। इन दोषों से रहित सम्यग्ज्ञान आदरणीय है। तहां जिनेन्द्र प्रणीत जो हेय और उपादेयतत्त्व हैं उनका यथार्थ ज्ञान सो ही सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यक्त परिणाम का बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञ के मुखकमल से उदय रूप सर्व पदार्थों के बतलाने को समर्थ द्रव्यश्रुत रूप ही तत्वज्ञान है। क्योंकि उपचार से पदार्थों के निर्णय का कारण है। सम्यग्दर्शन के होने में अंतरंग कारण दर्शन मोहनी कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम है। तथा भेदरहित और उपचाररहित निश्चय रत्नत्रय में जो जीव परिणमन कर रहा है उस जीव के टंको-

त्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव में अपने आत्मीकतत्व की जो श्रद्धा सो निश्चय सम्यक्त है। उसी आत्मीक तत्व के ज्ञानरूप अंतरंग में जो परम बोध है सो हो निश्चय सम्यग्ज्ञान है उस ही अपने आत्मस्वरूप में जो निश्चय स्थितिरूप है सो निश्चय स्वाभाविक चारित्र है—इन तीन अभेद रत्नत्रय के द्वारा ही जो अब तक प्राप्त नहीं हुई ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय उत्पन्न होती है। जो परम जिन जितेन्द्री योगीश्वर मुनि प्रथम ही पापक्रियाओं से हटाने वाले व्यवहारनय से जानने योग्य ऐसे व्यवहार चारित्र में ठहरते हैं अर्थात् व्यवहार चारित्र का आचरण करते हैं। ऐसे ही योगी के व्यवहारनय से जानने योग्य व्यवहार रूप तपश्चरण भी होता है पश्चात् निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के अवसर में निश्चय तप होता है। सहज निश्चयनय के आश्रित परमस्वभाव-मई परमात्मा में प्रतपन अर्थात् तपना अर्थात् दृढ़ता से तन्मय होना सो निश्चय तप है। इस तप के द्वारा हो अपने आत्मा के स्वरूप में निश्चल स्थितिरूप स्वाभाविक निश्चय चारित्र भी होता है ऐसा हो एकत्वसप्तति में कहा है 'कि अपने आत्मस्वरूप में निश्चय सो ही सम्यग्दर्शन है, अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान सो ही सम्यग्ज्ञान है अपने स्वरूप में स्थिति अर्थात् ठहरना हो सम्यक् चारित्र है। यही तीनों की योगरूप अवस्था मोक्षपद को कारण है" टीकाकार कहते हैः—जय हो उस सहज आत्म-ज्ञान की। सम्यग्दृष्टि भो इसी आत्मज्ञानरूप ही है तथा निर्मल चारित्र भी नित्य इसो आत्मा के ज्ञान में क्रियारूप है। वह चैतन्य आत्मा की चेतना समस्त प्रकार के मलसमूह से रहित मूर्तिवती और स्वाभाविक आत्मीक तत्व में स्थितिरूप है॥ भावार्थ—शुद्धस्वरूप की शुद्ध चेतना परद्रव्य, परगुण और पर पर्य्यायों से रहित है तथा निजरूप में निश्चलता स्वरूप है।

उसी शुद्ध चेतना का निश्चय श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र निश्चय तीन रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का परमबीज है। मोक्षार्थी भव्यजीवों को उचित है कि अपने आत्मा को परम शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा निरंजन निर्विकार अटूट अविनाशी सम्पूर्ण पर औपाधिक भावों से रहित अनुभव करे। यह शुद्धभाव का अधिकार आत्मा की शुद्धि का परम अद्भुत निमित्त कारण है।

इस प्रकार सुकवियों रूप कमलों के लिये सूर्य्य पचेन्द्रिय के व्यापार से रहित शरीरमात्र परिग्रह के धारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा कथित श्री नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नाम व्याख्या में शुद्धभावअधिकार नाम का तृतीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ ॥३॥

अथेदानीं व्यवहारचारित्राधिकार उच्यते।

अहिंसाव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् :—

कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तण—परिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

कुलयोनिजीवमार्गणास्थानादिषु ज्ञात्वा जीवानाम्।
तस्यारम्भनिवृत्ति परिणामो भवति प्रथमव्रतम् ॥५६॥

कुलविकल्पो योनिविकल्पश्च जीवमार्गणास्थानविकल्पाश्च प्रागेव प्रतिपादिताः। तत्रैव तेषां भेदान् बुद्ध्वा तद्रक्षापरणतिरेव भवत्यहिंसा। तेषां मृतिर्भवतु वा न वा, प्रयत्नपरिणाममन्तरेण सावद्यपरिहारो न भवति। अतएव प्रयत्नपरेऽहिंसाव्रतं भवतीति। तथाचोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।

ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभय
भवानेवात्याक्षीन्न हि विकृतिवेषाप धरतः ॥"

तथाहि—

त्रसहतिपरिणामध्वांतविध्वसहेतुः
सकलभुवनजावग्रामसोख्यप्रदा यः।
स जयति जिनधमः स्थावरैकेन्द्रियाणाम्
विविधबधविदूरश्चारुशर्म्मा ब्धपूरः ॥

सामान्यार्थ—कुल स्थान, योनि स्थान जोवसमासस्थान मार्गणास्थान इत्यादि जीवो के ठिकानो का जान करके उनमें आरम्भ करने से हटने का जो परिणाम है वही प्रथम अहिसा व्रत है।

विशेष अर्थ—इस गाथा में अहिंसा व्रत के स्वरूप का कथन है ॥ कुल योनि आदिस्थानों को पूव कह चुके हैं। इनके भेदों को भले प्रकार जानकर जीवों की रक्ष करने का जो भाव सो अहिसा है। जीवों की मृत्यु होती है व नही होती है ऐसे विचार की कोसिस में लगे हुए परिणाम के किये विना पापरूप हिसा मई क्रिया का त्याग नही हो सकता। अतएव इस रक्षा के प्रयत्न में रहना हो अहिसा व्रत है। ऐसा ही समन्तभद्र वामी जो ने कहा है अर्थात् श्री समन्तभद्र स्वामी अपने वृहत्स्वभूम्तोत्रमें श्री मुनिसुव्रत नाथ स्वामी की स्तुति करते हुए कहते है कि जगत मे यह बात सव को प्रगट है कि यह अहिसा ही परमब्रह्म स्वरूप है अर्थात् आत्मा की वीतरागता ही अहिसा है जहां ऐसी वीतरागता है वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। जिस आश्रम के चारित्र में अणुमात्र अर्थात् किंचित् भी आरंभ नहीं है वहीं यह अहिसा प्राप्त होती है। भावार्थ—मुनियों का २८

मूलगुण रूप व १३ प्रकार चारित्र रूप जो आचरण है वही अहिंसा है। इसलिए परमदयावान आपने हे प्रभु इसी अहिंसा की सिद्धि के लिए अंतरंग और बाह्य २४ प्रकार के परिग्रह को बिलकुल त्याग दिया। आप विकारी भेष और परिग्रह में रत नहीं हो। भावार्थ—नग्न दिगम्बर रूप ही सच्चा अहिंसा मार्ग का वेष है। इसके सिवाय अन्यवेष विकारवान दोषो हैं। जहां परिग्रह में सर्वथा मूर्छा का अभाव है वहीं अहिंसा धर्म है।। टीकाकार कहते हैं–इस जिन धर्म की जय हो जिनमें ऐसी अहिंसा का पालन है, जो अहिंसा त्रस जीव द्वेन्द्रियादिक को घात करने वाले परिणामों को जड़ मूल से हटाने का कारण है तथा जो पंचकाय रूप एकेन्द्री स्थावर जीवों के नाना प्रकार होने वाले बध से बिलकुल दूर है—जो अहिंसा सम्पूर्ण लोक के जीव समूह को सुख देने वाली है तथा जो सुन्दर सुख से भरपूर समुद्र के समान अगाध है।

तस्यैव सत्यव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् :—

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया विदियवयं होइ तस्सेव ॥५७॥

रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा मृषाभाषा परिणामं।
यः प्रजहाति साधुः सदा द्वित यव्रत भवति त यैत्र ॥५७॥

अत्र मृषापरिणामः सत्मप्रतिपक्षः, स च रागेण वा द्वेषेण वामोहेन जायते। तदा यः साधुः आसन्नभव्यजीवः तं परिणाम परित्यजति तस्य द्वितीयं व्रतं भवति इति।

व्यक्तिव्यक्तं सत्यमुच्चैर्जपन् यः
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्।

अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सवसद्भिः
सत्यात्सत्यं चान्यदस्ति व्रत किन्।

आगे द्वितीय सत्यव्रत को कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—जो साधु सज्जन पुरुष राग से, द्वेष से व मोह से झूठ बोलने के परिणाम को जब छोड़ता है तब ही दूसरा सत्य व्रत होता है।

विशेष अर्थ—इस गाथा में सत्य व्रत के स्वरूप का वर्णन है—मृषा अर्थात् असत्य बोलने का जो परिणाम अर्थात् भाव है सो भाव सत्य भाव से उल्टा है विरोधी है। यह असत्य भाव राग भाव से, द्वेष भाव से अथवा मोह भाव के निमित्त से जीव के पैदा होता है—अर्थात् यह मनुष्य इष्ट पदार्थों में व विषयों में रागकर के उनकी प्राप्ति व रक्षा के लिये असत्य कहता है व अनिष्ट पदार्थों में व विषयों में द्वेष करके उनके दूर होने के लिये व उनका सम्बन्ध न पाने के लिये असत्य कहता है अथवा मिथ्याबुद्धि से संसार में मोह के कारण उस मिथ्या भाव की रक्षा के अर्थ असत्य बोलता है। जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इस प्रकार के असत्य बोलने रूप परिणाम को त्यागता है उसी के ही यह सत्यव्रत होता है। टीकाकार कहते हैं—जो कोई अतिशय करके सत्य भाव को अंतरंग में जपता हुआ प्रगटपने सत्य ही बोलता है वह मनुष्य परलोक में स्वर्ग की स्त्रियों के घने भोगों को भोगने वाला होता है और इस लोक में सदा सर्व सज्जनों के द्वारा पूजनीय अर्थात् आदरणीय होता है। इसलिये इस सत्य से बढ़कर दूसरा कोई व्रत नहीं है यह बात सर्वथा सत्य है॥

तृतीयव्रतस्वरूपाख्यानमेतत् :—

गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेछिऊण परमत्थं।
जो मुचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव ॥५८॥

ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा प्रेक्षयित्वा परमार्थम्।
यो मुंचति ग्रहणभावं तृतीयव्रत भवति तस्यैव ॥५८।

वृत्यवृत्तो ग्रामः तस्मिन्। वा चतुर्भिर्गोपुरैर्भासुरं नगर तस्मिन्। वा मनुष्यसंचारशून्यं वनस्पतिजातवल्लीगुल्मप्रभृतिभिः परिपूर्ण अरण्यम् तस्मिन्। वा परेण वा विसृष्टं निहितं पतितं वा विस्मृतं वा परद्रव्य दृष्ट्वा स्वीकारपरिणाम यः परित्यजति, तस्य हि तृतीयव्रत भवति।

आकर्षति रत्नानां संचयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।
स्वर्गस्त्रीसुखमूल क्रमेण मुक्त्यगनायाश्च ॥

आगे तीसरे व्रत को कहते हैं :—

सामान्यार्थ—जो कोई ग्राम में, नगर में वा जंगल में दूसरे की वस्तु को पड़ी देखकर उसके उठा लेने के परिणाम को त्याग देता है उसी सज्जन के ही यह तीसरा अचौर्य्य व्रत होता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में तीसरे अचौर्य व्रत का वर्णन है। वृक्ष आदि की वाढ करके जो वेढा हो उसको गाव कहते हैं। चार दिशाओं के चार दरवाजों से जो शोभायमान हो उसका नाम नगर है। जहां मनुष्यों का गमनागमन नहीं हो तथा वृक्ष वेल गुच्छों करके परिपूण हो उसका नाम अरण्य अथात् बन है। ऐसे गांव वा नगर वा बन में दूसरे के द्वारा रक्खी हुई पड़ी हुई, वा भूली हुई परद्रव्य को देखकर उसको स्वीकार करने के भावको

जो त्यागता है उसके ही यह तीसरा अचौर्य व्रत होता है। जो वस्तु अपने परिश्रम से किसी का कुछ काम करके मिले व दूसरा सन्मान व दया करके देवै वह वस्तु ग्राह्य है—इसके सिवाय कही की कोई चीज को भी लेना चोरी है। सूनसान स्थान में मिला हुई वस्तुओं पर उस हो का अधिकार है जिनकी वह भूमि है ॥ टीकाकार कहते हैं कि यह अचौर्य्य व्रत अपूर्व बल का दाता है। इसके पालन कर्ता को पुण्य के उदय से अतिशयरूप रत्नों का ढेर प्राप्त हो जाता है। स्वर्गरूप स्त्री के सुख का मूलभूत यह व्रत है और क्रम क्रम करके मुक्ति रूपी स्त्री का सगम कराने वाला है।

चतुर्थव्रतस्वरूपकथनमिदम् :—

दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ॥५६॥

दृष्ट्वा स्त्रीरूपं वांच्छाभावः निवर्तते तासु।
मैथुनसज्ञाविवर्जितपरिणामोऽथवा तुरीयव्रतम् ॥५६॥

कमनीयकामिनीनां तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणद्वारेण समुपजनितकौतूहलचित्तवांच्छापरित्यागेन, अथवा स्ववेदोदयाभिधाननोकषायतीव्रोदयेन संजातमैथुनसंज्ञापरित्यागलक्षणशुभपरिणामेन च ब्रह्मचर्यव्रत भवति इति।

भवति तनुविभूतिः कामिनीनां विभूतिं
स्मरसि मनसि कामिस्त्वं तदा मद्वचः किम्।

सहज परमतत्त्वं स्वस्वरूपं विहाय
व्रजासे विपुलमोहं हेतुना केन चित्तम् ॥

आगे चौथे व्रत को कहते हैं :—

सामान्यार्थ—जो स्त्री के रूप को देखकर ही उसके भीतर अपनी इच्छा होने रूप भाव को हटाता है तथा मैथुन संज्ञा से रहित अपने परिणामों को करता है उसी के ही यह चौथा व्रत मैथुन संज्ञात्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य्य व्रत होता ।

विशेषार्थ—इस गाथा में ब्रह्मचर्य्य व्रत का स्वरूप है । सुन्दर स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने के कारण जो उनसे क्रीड़ा करने की चित्त में इच्छा का होना उसको त्याग करने से अथवा वेद नाम नोकषाय के तीव्र उदय से मैथुन सेवन की इच्छा का होना उसको छोड़ने से यह ब्रह्मचर्य्य व्रत होता है । टीकाकार कहते हैं कि हे कामी पुरुष तू क्यों सहज परम तत्त्व रूप जो अपना स्वरूप है उसको छोड़कर सुन्दर स्त्रियों की शरीर आदि बिभूति को मन में याद करता है और किस कारण से तू उनमें अत्यन्त मोह को प्राप्त होता है । ऐसा करने से मेरा वचन अर्थात् उपदेश तेरे लिये किस काम का होगा ?

इह हि पंचमव्रतस्वरूपमुक्तम् :—

सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ॥६०॥

सर्वेषां ग्रन्थानां त्यागो निरपेक्षभावनापूर्वम्
पचमव्रतमिति भ णत चारिभर बहतः ॥६०॥

सकलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिजकारणपरमात्मस्वरूपाव - स्थितानां परमसयमिनां परमजिनयोगीश्वराणां सदैव निश्चय-व्यवहारात्मकचारुचारित्रभरं वहतां, बाह्याभ्यन्तरचतुर्विंशति-

परिग्रहपरित्याग एव परंपरया पंचमगतिहेतुभूतं पंचमव्रतमिति ।
तथा चोक्तं समयसारे—

मज्झं परिग्गहो जदि तदोहमज्जीवदंतु गच्छेज्ज ।
णादेव अहंजम्हा तम्हाण परिग्गहो मज्झं ।।

तथाहि—

त्यजतु भवभीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहम्
निरुपमसुखावासप्राप्त्यै करोतु निजात्मनि ।
स्थितिमविचलां शर्म्माकारां जगज्जनदुर्लभां
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सतामसतामिदम् ।

आगे पंचम व्रत को कहते हैं :—

सामान्यार्थ—जो वांछा रहित भावना के साथ सर्व ही परिग्रहों को त्यागना है सो चारित्र के भार को सदा वहने वाले साधुओं का पंचम व्रत है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में परिग्रहत्याग व्रत का स्वरूप है—जो सम्पूर्ण अंतरंग और बाह्य परिग्रह से रहित है लक्षण जिस का ऐसे कारण रूप परमात्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थित हैं ऐसे परम संजमी परम जिन योगीश्वर जो हैं तथा जो सदा ही निश्चय व्यवहार रूप उत्तम चारित्र के भार को वहन वाले हैं उनके अंतरंग और बाह्य २४ प्रकार के परिग्रह का त्याग करना ही पंचम व्रत है । कैसा है यह परिग्रह त्याग व्रत, यही परंपरा करके पंचम गति जो मोक्ष तिसका कारण है ।

ऐसा ही श्री समयसार जी में कहा है । "कि ज्ञानी ऐसा जानते हैं जो मेरे परद्रव्य परिग्रह होय तो मैं भी अजीवपने को

प्राप्त हो जाऊं क्योंकि मैं तो ज्ञाता ही हूं। इससे मेरे परिग्रह नहीं है"।

टीकाकार कहते हैं। भव्य जीव को उचित है कि संसार से भय करके परिग्रह रूपी विग्रह जो आपत्ति उसको त्यागै और उपमारहित सुख के स्थान की प्राप्ति के लिये अपने आत्मा में स्थिति को करे। कैसी स्थिति करै, जो स्थिति चलायमान न हो सुख की खान हो और जगत के जनों को दुर्लभ हो अर्थात् आत्म स्वभाव में लीन होना सुलभ नहीं किन्तु कठिन है तथापि साधु पुरुषों के लिये ऐसी स्थिति को प्राप्त करना कोई बड़े आश्चर्य की बात नही है किन्तु जो साधु विवेकी नही हैं ऐसे असन्त पुरुषों के लिये ही अद्भुतता का कारण है।

अत्रेर्य्यासमितिस्वरूपमुक्तम्:—

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरिया समिदी हवे तस्स ॥६१॥

प्रासुकमार्गेण दिवा अवलोकयन् युगप्रमाणं खलु।
गच्छति पुरतः श्रमणः ईर्य्या समितिर्भवेत्तस्य ॥६१॥

यः परमसंयमी गुरुदेवयात्रादिप्रशस्तप्रयोजनमुद्दिश्यैकयुग-प्रमाणं मार्गम् अवलोकयन् स्थावरजगमप्राणिपरिरक्षार्थं यदैव गच्छति तस्य खलु परमश्रमणस्येर्य्यासमितिर्भवति। व्यवहार-समितिस्वरूपमुक्तम्। इदानी निश्चयसमितिस्वरूपमुच्यते—

अभेदानुपचाररत्नत्रयमार्गेण परमधर्मेण स्वात्मनि सम्यग् इता परणतिः समितिः। अथवा निजपरमतत्त्वनिरतसहजपरम-

बोधादिपरमधर्माणां संहतिः समितिः । इति निश्चयव्यवहार-समितिभेदं बुद्ध्वा तत्र परमनिश्चयसमिति मुपपाद्यानुभव्य इति ।

इत्थं बुद्ध परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो
मुक्त्वा संगं भवभयकरं हेमरामात्मकं च ।
स्थित्त्वापूर्वे सहज विलसच्चिच्चमत्कारमात्रे
भेदाभावे समयति च यः सर्वदा मुक्त एव ॥

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनाम्
त्रसहतिपरिदूरा स्थावराणां हतेर्वा ।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला
सकलसमितिमुख्यानेकसन्तोषदायी ॥

नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्
समितिविरतिकानां कामरोगातुराणाम् ।
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनोगेहमध्ये
ह्यपवरकममुख्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः ॥

शममयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः ।
स हि न च लभतेऽपायात् ससारमहार्णवे भ्रमति ॥

अब समिति को कहे हैं :—

सामान्यार्थ—जो साधु प्रासुक मार्ग से दिन में एक युग प्रमाण आगे पृथ्वी को देखता हुआ गमन करता है उस साधु के ईर्य्या समिति होती है ।

विशेषार्थ—इस गाथा में ईर्य्या समिति का स्वरूप कहते जो कोई परम संयम का धारी मुनि अपने गुरु के पास जाने के

अर्थ व तीर्थ यात्रा आदि शुभ अभिप्राय को मन में धारकर एक युग अर्थात् चार हाथ प्रमाण आगे मार्ग को देखता हुआ दिन के विषें जीवजतु रहित व दूसरों के द्वारा रौंदे हुए ऐसे प्रासुक मार्ग में स्थावर त्रस प्राणियों की रक्षा के अर्थ जब गमन करता है तब उस परम श्रमण अर्थात् साधु के ईर्य्या समिति होती है। इस प्रकार व्यवहार समिति का स्वरूप कहा। अब निश्चय समिति के स्वरूप को कहते हैं। अभेद उपचार रहित जो रत्नत्रय का मार्ग उस मार्ग रूप परम धर्म के द्वारा अपने आत्मस्वरूप में सम् अर्थात् सम्यक् यानीं भले प्रकार से इता अर्थात् गमन तथा परिणमन सो समिति है। अथवा अपने आत्मा के परम तत्व में लीन स्वाभाविक परम ज्ञान आदि परम धर्मों की एकता सो समिति है। इस प्रकार निश्चय व्यवहार समिति के भेदों को जानकर उस परम निश्चय समिति को प्राप्त करके बारम्बार भावना करनी योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि इस प्रकार मुक्ती रूपी स्त्री की सखी जो परम समिति है उसको जान करके जो कोई ससार के भय को पैदा करने वाले सुवर्ण स्त्री आदिक परिग्रह को त्यागता है तथा ध्रुव स्वभाव से ही शोभायमान चैतन्य के चमत्कार मात्र स्वरूप में जो तिष्ठता है सो ही अभेदरूप भाव में एकता को सम्यक् प्रकार प्राप्त करता है और सदा परस्वरूप से अलग ही रहता है॥ यह ईर्य्या समिति जयवन्त होहु। कैसी है यह समिति, मुनीश्वरों का मूल गुण है। त्रस जीवों के तथा स्थावर जीवों के घात से दूर है, संसार रूप अग्नि की तपत से पैदा होने वाले क्लेशों को शांत करने के लिए मेघमाला है, सर्व समितियों में मुख्य है तथा अनेक प्रकार से संतोष को देने वाली है॥ इस संसार रूपी समुद्र में जो समिति पालने से विरक्त हैं

तथा कामरूपी रोग से आतुर हैं. उनको निश्चय करके यह संसार ही है अर्थात् वे संसार ही में भ्रमण करने वाले हैं। इस लिए हे मुनि प्रधान ! तू मुख के बिना सुन्दर मुक्ति रूपी स्त्री के स्थान को अपने मन रूपी घर में धारण कर अर्थात् मुक्ति अवस्था ही का मनन कर। जो कोई शम अर्थात् शांतमई समिति को पालता है वही मुक्ति प्राप्त करके मोक्षरूप होता है। उसी समिति का जो नाश करते हैं वे मोक्ष को नहीं पाते तथा समाररूपी महासमुद्र में भ्रमण करते है।

अत्र भाषासमितस्वरूपमुक्तम्:—

पेसुण्णहासकक्कसपरणिदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥६२॥

पैशू यहास्यकर्कशपरनिंदात्मप्रशंसित वचनम् ॥
परित्यक्त्वा स्वपरहित भाषासमितिर्वदत: ॥ ६२ ॥

कर्णजपमुखविनिगत नृपतिकर्णाभ्यर्णमर्ति चैकपुरुषस्य एक कुटुंबस्य एक ग्रामस्य वा महद्विद्रषत्कारणं वच: पैशून्यम्। क्वचित् कदाचित् किंचित् परजन वकाररूपमवलाक्य त्वाकर्ण्य च हास्याभिधाननोकषायसमुपजनितम् ईषच्छुभमिश्रितिमप्यशुभ-कर्णकारणं पुरुषमुखविकारजतिन हास्यकर्म। कर्णशष्कुलिविव-राभ्यर्णगोचर मात्रण परेषामप्रीतिजननम् हि कर्कशवच:। परेषा भूताभूतदूषणपुरस्सरवाक्यं परनिन्दा। स्वस्य भूताभूतगुण स्तु-तिरात्मप्रशंसा। एतत्सर्वमप्रशस्तवच: परित्यज्य स्वस्य च परस्य चशुभं शुद्धपरिणतिकारण वचा भाषा समितिरिति।

तथाचोक्त श्रीगुणभद्रस्वामिभि:—

"समधिगतसमस्ता: सर्वसावद्यदूरा:
स्वहितनिहितचित्ता: शांतसर्वप्रचारा:।

स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिव न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः"

तथा च—

परब्रह्मण्यनुष्ठाननिरतानां मनीषिणाम् ।
अन्तरैरप्यरं जल्पैः बहिर्ज्जल्पैश्च किं पुनः ॥

आगे भाषा समिति को कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—दुष्टता के, हास्य के, कठोर तथा पर की निन्दा तथा आत्मप्रशसा के वचनो को त्यागकर जो अपने और दूसरे को हित रूप बचन कहते हैं ऐसे मुनि के भाषा समिति होती है ॥

बिशेष अर्थ—इस गाथा में भाषा समिति का स्वरूप है। चुगलखोर के मुख से निकले वचन, राजा के कानों में पहुंचाए गए, तथा एक पुरुष, एक कुटुम्ब वा एक ग्राम के साथ महान् द्वेष के कारण कहे गए जो वचन हैं सो पैशून्य हैं। कहीं कभी किसी के विकारी रूप व कार्य्य को देख करके वा सुन करके हास्य नाम नोकषाय से पैदा हुए कुछ शुभ से मिले हुए होने पर भी अशुभ कर्म्मबंध के कारण पुरुष के मुख को विकारी करने वाले जो वचन हैं सो हास्य कर्म्म वचन हैं—अर्थात् अपने अंतरंग में कुछ शुभ कर्म का उदय होने पर भी किसी मनुष्य के विपरीत व हास्यजनक कार्य्य वा स्वरूप की ऐसी हंसी प्रकट करना जिससे अपना मुख भी विकारी हो जाय और सुनने वालों का मुख भी विकारी हो जाय सो वचन हास्य कर्म्म के वचन हैं। कर्ण के छिद्र के भीतर प्रवेश करते ही जो वचन सुनने वालों को अप्रीति अर्थात् अरति पैदा करें सुहावै नहीं सो कर्कश वचन हैं। दूसरा

दूसरा के सच्चे झूठे दोषों को प्रगट करने वाले वचनों को कहना सो पर निन्दा है। अपने होते न होते गुणों की स्तुति करना सो आत्म प्रशंसा है। ये सर्व प्रकार के वचन अप्रशस्त अर्थात् अशुभ हैं ऐसे वचनों को छोड़कर अपने को और पर को कल्याणकारी शुद्ध भाव के कारण जो वचन कहना सो भाषा समिति है। ऐसा ही श्री गुणभद्रस्वामी जी ने कहा है कि जो सर्व प्राणियों को समता करने वाले हों, सर्व पापों से दूर हों, अपने आत्महित में अपने चित्त को धारण करन वाले हों, सर्व में शांति को फैलाने वाले हों, स्वपर को हितकारी ऐसे वचनों को कहने वाले हों, सर्व रागद्वेष सकल्प से रहित हों, ऐसे वीतरागी मुनि मोक्ष पाने के पात्र क्यों न होंगे अर्थात् अवश्य होगे। टीकाकार कहते हैं जो महान् पुरुष पर ब्रह्म स्वरूप चारित्र में लीन हैं उनको अपने अतरग में भी जल्प करना अर्थात् वचन बोलना इष्ट नहीं है तो फिर बाह्य वचनों की प्रवृत्ति से क्या प्रयोजन ? भावार्थ—मुनि निरतर अपने आत्मस्वभाव से ही सन्मुख होकर वचन रहित जो वार्तालाप करते हैं वही कार्य्यकारी है अन्य स्वपर हितकारी वचन भी निश्चयनय करके उपादेय नहीं है।

अत्रैषणासमितिस्वरूपमुक्तम् :—

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥

कृतकारितानुमोदनरहितं तथा प्राशुकं प्रशस्तं च।
दत्तं परेण भक्तं संभुक्तिः एषणासमितिः ॥ ६३ ॥

तद्यथा—मनोवाक्कायानां प्रत्येकं कृतकारितानुमोदनैः कृत्वा नव विकल्पा भवन्ति, न तैः संयुक्तमन्नं नवकोटिविशुद्ध

मित्युक्त । अतिप्रशस्त मनोहरं हरितकायात्मकं सूक्ष्मप्राणि-सचारागोचरप्रामुकमित्यभिहितम् । प्रतिग्रहोच्चस्थानपादक्षाल-नार्चनप्रणामयोगशुद्धिभिक्षाशुद्धिनामधेयैर्नवविधिपुण्यैः प्रतिपत्ति कृत्वा श्रद्धाशक्तिअलुब्धताभक्तिज्ञानदयाक्षमाभिधानसप्तगुण-समाहितेन शुद्धेन योग्याचारेणोपासकेन दत्तं भक्तं भुंजन् (भुजमानः) तिष्ठिति यः परमतपोधनः तस्यैषणासमितिर्भवति इति व्यवहारसमितिक्रमः अथ निश्चय समितिक्रम नास्ति शुद्ध जीवस्य, षट्प्रकारमशनं । व्यवहारतः ससारिणामेव भवति । तथाचोक्त समयसारे—

"णोकम्मकम्माहारो लेप्पाहारो य कवलमाहारो ।
उज्जमणो वियकमसो आहारो छव्हिो णेयो ।।"

जस्स अणेसणमप्पा तंपि तवो त पढिच्छगा समणा
अण्ण भिक्खमणेसण मण्णते समणा णाहारा ।"

तथाचोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

"यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकपी ।
विहितहितमितासीत् क्लेशजाल समूल
दहति निहितनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ।।"

तथाहि -

भुक्त्वा भक्त भक्तहस्ताग्रदत्त, ध्यात्वात्मान पूर्णबोधप्रकाश ।
तप्त्वाच्चैव सत्तपः सत्तपस्वी प्राप्नोतीद्धा मुक्तिवारांगनां सः ।।
आगे तीसरी समिति को कहते है :—

सामान्य अर्थ—जो कृत, कारित, अनुमोदना इनको त्याग कर प्राशुक, शुभ और श्रावक द्वारा भक्ति से दिये हुए आहार को समभाव से भोजन करें ऐसे मुनि के एषणा समिति होती है।

विशेषार्थ—मन वचन काय द्वारा करना, मन वचन काय द्वारा कराना, मन वचन काय द्वारा सराहना करनी ऐसे नौ विकल्पों करके रहित जो अन्न है सो नौकोटि शुद्ध कहा जाता है अर्थात् जिसमें मुनि कुछ भी अपना संकल्प न करं। अति प्रशस्त भोजन से प्रयोजन यह है कि जो मन को हरनें वाला रोगादि व्यथा व निद्रा आलस्य को पैदा न करे। हरित कायमई सचित्तरूप सूक्ष्म प्राणियों के संचार से अगोचर सो प्रासुक है अर्थात् जिसमें सचित्तपना व सचित्त का सम्बन्ध न हो। मुनि को प्रतिग्रह करना "आहार पानी शुद्ध अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ" ऐसा कहकर पड़ गाहना, ऊंचे स्थान पर स्थित करना, चरण धोने, पूजन करना, प्रणाम करना, मन वचन और काय को शुद्ध रखना तथा भिक्षा अर्थात् आहार की शुद्धता ऐसे नऊ प्रकार भक्ति करके सहित जो श्रावक है तथा जिस श्रावक में श्रद्धा, शक्ति, लोभ का अभाव, भक्ति, ज्ञान, दया, क्षमा ऐसे सात दातार के गुण विराजमान हो ऐसे योग्य आचरणधारी उपासक श्रावक से प्रदान किया हुआ जो भोजन उसको जो परम तपोधन अर्थात् मुनि ग्रहण करते हैं उनके एषणा समिति होती है। यह व्यवहार एषणा समिति को कहा। निश्चय करके शुद्ध जीव के इस समिति का प्रवेश नही है क्योंकि संसारी जीवों के छः प्रकार का भोजन व्यवहार नय करके ही होता है। जैसा कि श्री समय सारजी में कहा है—

कि आहार छः प्रकार के है नोकर्म आहार जैसे केवली के, कर्म्म आहार जैसे नारकियों के, लेप आहार जैसे एकेन्द्रियों के, कवल आहार जैसे छद्मस्थ मनुष्यों के, ओजाहार जैसे अंडों के, मानसिक आहार जैसे देवों के।

श्री गुणभद्राचार्य्य जी ने कहा है कि—जो मुनि यम और नियम में लीन है, जिनका आत्मा अंतरग और बाह्य शांत है, जो समाधि में परिणमन कर रहे है, जो सर्व प्राणीमात्र पर दया करने वाले है, जिन्होने अपना हित किया है जो मर्यादा रूप आहार करने वाले है जो निद्रा को हटाने वाले हैं तथा जो अध्यात्मीक तत्व के निश्चय करने वाले है ऐसे ही मुनि जड़मूल से क्लेशों के समूह को जला देते है। टीकाकार कहते हैं :—जो भक्त श्रावक द्वारा हाथ के अग्रभाग में प्रदान किये हुए आहार का ग्रहण करके पूर्ण ज्ञान से प्रकाशमान ऐसे आत्मा का ध्यान करते है तथा जो तत्व में ही सम्यक् तप को तपने वाले है वे ही तपस्वी है तथा वे ही सुन्दर मुक्ति रूपी स्त्री को प्राप्त करते है।

अत्रादाननिक्षेपणसमितिस्वरूपमुक्त .—

पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावणणिक्खेवण समिदि होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥६४॥

पुस्तककमण्डलादि ग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः।
आदाननिक्षेपणा समितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥६४॥

अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम्। उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलु-

प्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः। अभ्यन्तरोपकरणनिजपरमतत्त्वप्रकाश-दक्ष निरुपाधिस्वरूपसहजज्ञानमन्तरेण किमप्युपादेयमस्ति। अपहृतसंयमधराणां परमागमार्थस्य पुनः पुनः प्रत्यभिज्ञान-कारण पुस्तक ज्ञानोपकरणमिति यावत्। शौचोपकरणं च कार्यविशुद्धिहेतुः कमण्डलुः। सयमोपकरणहेतुः पिच्छः एतेषा ग्रहणविसर्गयोः समयसमुद्भवप्रयत्नपरिणामविशुद्धिरेव हि आदाननिक्षेपणासमितिरिति निर्दिष्टयति।

समितिषु समितीय राजते सोत्तमाना
परमजिनमुनीनां सहतौ क्षातिमैत्री।
त्वमपि कुरु मनःपकेरुहे भव्य नित्यम्
भवसि हि परमश्रीकामिनीकातकातः॥

आगे चौथी समिति को कहते है :—

सामान्यार्थ—पुस्तक कमंडल पीछी आदि के उठाने धरने मे जो यत्न करने रूप परिणाम सो आदाननिक्षेपणा समिति है ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—इस गाथा में अपहृत सयमियों के द्वारा सयम का उपकरण पीछी कमण्डल तथा ज्ञान का उपकरण शास्त्र आदिको के उठाते धरते समय जो समिति करी जाती है उस समिति का वर्णन है। उपेक्षा संयमधारी मुनि के पुस्तक कमडल आदि नहीं होते हैं वे उपेक्षा सयमधारी मुनि परम जितेन्द्री एकांतवासी बिलकुल बेचाह होते हैं निरन्तर आत्मध्यान मे लीन रहते हैं इसलिये उनको बाहर के शास्त्रादि उपकरणों की

जरूरत नहीं होती। ऐसे संयमी साधु अभ्यंतर उपकरण जो आपका निज परम तत्त्व उसके ही प्रकाश करने में चतुर होते हैं उनके सर्व उपाधि रहित स्वरूप स्वाभाविक आत्मज्ञान के सिवाय और कोई भी वस्तु ग्रहण योग्य नहीं होती। परन्तु अपहृत संयमी मुनियों के लिये परमागम जो शास्त्र उसके अर्थ को बार बार ज्ञान कराने का कारण ऐसी जो पुस्तक तथा शौच करने का कारण तथा शरीर को विशुद्धता का कारण जो कमंडल तथा सयम अर्थात् प्राणी रक्षा का कारण जो पीछी सो होती हैं। इनके उठाने धरने में उसी समय जीवरक्षा के निमित्त से पैदा होने वाला जो प्रयत्न तिसमें लवलीन जो आत्मा के परिणामों की विशुद्धता सो ही आदाननिक्षेपण समिति कही गई है। टीकाकार कहते हैं कि उत्तम परम जिन मुनियों के सर्व समितियों के अन्दर यही वड़ी समिति शोभायमान है जिससे उनको सर्व प्राणिमात्र पर क्षमा और मैत्री भाव होता है। हे भव्य जीव तू भी अपने मनरूपी कमल मे इस समिति को धारण कर जिससे तू परम लक्ष्मी रूप मुक्ति स्त्री का स्वामी हो जावे। भावार्थ—सर्व जीवों पर क्षमा और सर्व का हित चिंतन यही इस समिति के पालने का अभिप्राय है।

मुनीनां कायमलादित्यागस्थानशुद्धिकथनमिदम् :—

पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइठा समिदी हवे तस्स ॥६५॥

प्रासुकभूमिप्रदेशे गूढे रहिते परोपरोधेन।
उच्चारादित्यागः प्रतिष्ठा समितिर्भवेत्तस्य ॥६५॥

शुद्धनिश्चयतो जीवस्य देहाभावान्न चान्नग्रहणपरिणतिः, व्यवहारतो देहः विद्यते तस्यैव हि देहे सति ह्याहारग्रहणं भवति आहारग्रहणान्मलमूत्रादयः संभवन्त्येव अत एव संयमिनां मल-मूत्र विसर्गस्थानं निर्जन्तुकं परेषामुपरोधेन विरहितं तत्र स्थाने शरीर धर्मं कृत्वा पश्चात्तस्मात्स्थानादुत्तरेण कतिचित् पदानि गत्वा ह्युदङ्मुखः स्थित्वा चोत्सृज्य कायकर्माणि संसारकारणं परिश्रमं घटमानश्च ससृतेर्निमित्तं स्वात्मानमव्यग्रो भूत्वा ध्यायति यः परमसंयमी मुहुर्मुहुः कलेवरस्याप्यशुचित्वं वा परिभावयति, तस्य खलु प्रतिष्ठापनसमितिरिति नान्येषां स्वैरवृत्तीना यतिनामधारिणां काचित् समितिरिति ।

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलम्
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम् ।
मधुमखनिशितास्त्रव्रातसभिन्नचेतः—
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात ।
समितिसमिर्ति बुद्ध्वा मुक्त्यङ्गनाभिमतामिमाम्
भव भवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम् ।
मुनिप तव सद्दीक्षां कान्तसखीमधुना मुदा
जिनमततपःसिद्धं पायाः फल किमपि ध्रुवं ॥

समितिसंहतितः फलमुत्तमं सपदि याति मुनिः परमार्थतः ।
न च मनोवचसामपि गोचरः, किमपि केवलसौख्यसुधामयम् ॥

आगे पाँचमी समिति को कहते हैं :—

सामान्य अर्थ—जो मुनि जीवजंतु रहित प्रासुक जमीन में जो गूढ़ हो अन्य द्वारा रोकने योग्य न हो ऐसे स्थान में मल-

मूत्रादि का त्याग करते है उन ही के यह पाँचमी प्रतिष्ठापना समिति होती है।

विशेषार्थ—इस गाथा में मुनीश्वरों के लिये शरीर का मलादि त्याग करने के लिये जो स्थान की शुद्धता चाहिए उसका वर्णन है। शुद्ध निश्चय करके जीव के देह ही नहीं है, देह के अभाव मे अन्नादि का लेना भी नहीं है। व्यवहार करके आत्मा के देह है उस देह के होतेसंते आहार ग्रहण होता है। आहार लेने से सामान्य मुनियों के मलमूत्रादि होते ही है इस लिये संयमियों के लिये मलमूत्र क्षेपन का स्थान जीवरहित तथा दूसरो के द्वारा रोके जाने के अयोग्य होना चाहिए। ऐसे स्थान में शरीर का धर्म्म करके पीछे उस स्थान से कुछ पद उधर जाकर उत्तर मुख कायोत्सर्ग खड़े होकर समस्त काय की क्रियाओंको त्याग कर ससार का कारण ऐसा जो परिश्रम तिस को होने हुए ससार के त्याग के निमित्त अपने आत्मा को धीर होकर ध्याते हैं तथा जो परम सयमी इस शरीर का अपवित्रपना भी बार बार विचार करते है उन मुनियो के निश्चय करके यह प्रतिष्ठापना समिति होती है, अन्य यतीनामधारी स्वैरवृत्ती शिथिलाचारीनि के कोई भी समिति नही होती है। टीकाकार कहते हैं यह समिति इस लोक में मुनीश्वरों के लिए मोक्षरूपी राज्य का मूल कारण है। कैसे है मुनि, जो जैन मत में चतुर है और अपने आत्मा की चिन्ता मे लवलीन हैं। परन्तु जिन मुनियो का चित्त सहत लपेटी तलवार की धार में आसक्त हो चचल हो रहा है भावार्थ—जो विषय सुख उस सहत के समान है जो तलवार की धार में लिपटा हो, उस सुख के लोलुपी जो मुनि है उनके यह समिति नही है। जो अतिन्द्रिय सुख के अभिलाषी है उन ही के समिति होती है। हे मुनिप्रधान! भले

प्रकार इस समिति को जाने। कैसी है समिति, जो मुक्ति रूपी स्त्री को प्यारी है, भवभव का भयरूपी अंधकार उसको नाश करने के लिये चन्द्रमा की प्रभा के समान है, तथा तेरी सम्यक् जो मुनि पद की दीक्षा उसके लिये सुन्दर सखी है। प्रसन्न चित्त हो अब इसका ऐसा अभ्यास करो जो तुमको जिन धम के तप से सिद्ध होने वाला अविनाशी ही कोई ऐसे फल की प्राप्ति हो। निश्चय करके मुनि इस समिति की संगति से शीघ्र ही किसी उत्तम फल को प्राप्त करते हैं जो फल मन से चिन्तवने योग्य तथा वचन से कहने योग्य नही है तथा जो केवल सुखमई अमृत रूप है। भावार्थ—समिति के पालते हुए हो मुनि शिव सुख को पा सकते हैं।

व्यवहारमनोगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत्:—

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥

कालुष्यमोहसंज्ञारागद्वेषाद्यशुभभावानाम् ।
परिहारो मनोगुप्तिः व्यवहारनयेन परिकथिता ॥६६॥

क्रोधमानमायालोभाभिधानैश्चतुर्भिः कषायैः क्षुभित चित्त कालुष्यम्। मोहो दर्शनचारित्रभेदाद्द्विधा। संज्ञा आहारभय-मैथुनपरिग्रहाणां भेदाच्चतुर्द्धा। रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः। असह्यजनेषु वापि चासह्यपदार्थसार्थेषु वा वैरस्य परिणामो द्वेषः। इत्याद्यशुभपरिणामप्रत्ययानां परिहार एव व्यवहारनयाभिप्रायेण मनोगुप्तिरिति।

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-
चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य।

बाह्यान्तरङ्गपरिषङ्गविवर्जितस्य
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य ॥

आगे मन गुप्ति को कहे हैं :—

सामान्यार्थ—कलुषपना, मोह, अभिलाषा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावो का जो त्याग करना उसे ही व्यवहारनय से मनो गुप्ति कहते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में व्यवहार मनो गुप्ति के स्वभाव का वर्णन है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से क्षोभित आकुलित भया जो चित्त उसको कालुष्य कहते हैं। मोह दो भेद रूप है एक दर्शन मोहनी दूसरे चारित्र मोहनी। सज्ञा के चार भेद हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह हैं। राग दो प्रकार का है एक अशुभ दूसरा शुभ। जिन मनुष्यों का सम्बन्ध अपने को न सुहावे अथवा जो वस्तुएं मन को नही रुचे उन सबसे वैरमई परिणाम सो द्वेष है। इत्यादि सर्व अशुभ परिणामों के कारणो को त्यागना ही व्यवहारनय करके मन गुप्ति है। टीकाकार कहते हैं जो अपने मन को सदा परमागम के अर्थ की चिता में लवलीन रखते है। जो जितेन्द्रि हैं, जो बाह्य और अभ्यतर परिग्रह करके रहित है तथा जो श्रीमान जिनेन्द्र ने चरणों के स्मरण में दत्तचित्त है उन हो के यह मन गुप्ति होती है।

इह वाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम :—

थी राजचोर भत्त कहादिवयणस्यपावहेउस्स।
परिहारो वचगुत्ती अलीयादि णियत्तिवयणं वा ॥६७॥

स्त्रीराजचौरभक्तकथादिवचनस्य पापहेतोः ।
परिहारो वाग्गुप्तिरलीकादिनिवृत्तिवचनं वा ॥६७॥

अतिवृद्धकालैः कामुकजनैः स्त्रीणां संयोगविप्रलंभजनितविविध वचनरचना कर्तव्या श्रोतव्या सैव स्त्री कथा। राज्ञां युद्धहेतूपन्यासो राजकथाप्रपंचः। चौराणां चौरप्रयोगकथन चौरकथाविधानम् । अतिप्रवृद्धभोजनप्रीत्या विचित्रमंडकावलीखंडदधिखडशिताशनपानप्रशंसा भक्त कथा । आसामपि कथानां परिहारो वाग्गुप्तिः । अलीकनिवृत्तिश्च वाग्गुप्तिः । अन्येषां अप्रशस्तवचसां निवृत्तिरेव वा वाग्गुप्तिः ।

तथाचोक्तं पूज्यपादस्वामिभिः—

"एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तर्विशेषतः ।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥

तथाहि—

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्ताम्
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकं ।
पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं ताम्
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहततवरितध्वातसंघातरूपः ॥

आगे वचन गुप्ति को कहते हैं:—

सामान्यार्थ—पाप बंध की कारण स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा, तथा भोजन कथा इन ४ विकथा रूप वचनों का जो त्याग करना सो वचनगुप्ति है इसी को अलीकनिवृत्ति वचन भी कहते हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथा में वचनगुप्ति का स्वरूप है। अति वृद्ध पुरुषो के व कामी पुरुषों के मुख द्वारा जो स्त्रियों के संयोग तथा वियोग से पैदा हुई अनेक प्रकार कीव चन रचना रूप कथा तिनका किया जाना तथा तिनका सुना जाना सो ही स्त्री कथा है। राजाओं के युद्ध के कारणो का जो उपन्यास सो राज कथा प्रपच है। चोरो की चोरी करने की रीतियो का जो कथन सो चोर कथा विधान है। अत्यन्त बढी हुई भोजन की प्रीति करके नाना प्रकार भोजन के समूह खांड दही दूध आदि भोजन पान की प्रशसा करनी सो भक्तकथा है। इन चारो ही प्रकार की कथाओ का जो त्याग है सो वचन गुप्ति है। इसी को अलीक वचन से निवृत्ति भी कहते है और भी अन्य सम्पूर्ण अशुभ वचनो का त्यागना सो वचन गुप्ति है। ऐसी ही भाति श्री पूज्यपाद स्वामी ने भी कहा है।

भावार्थ इस प्रकार बाहर में वचन की प्रवृत्ति को त्याग कर अन्तरग में विशेष रूप से अन्तर्जल्प अर्थात् भीतर भीतर ही वचन कहना उसको भी दूर करने से योग अर्थात् ध्यान होता है यही ध्यान परमात्मा को प्रदीप्त अर्थात् प्रकाश करने वाला है। टीकाकार कहते है—जो भव्य जीव ससार के भय को करने वाली सर्व ही वचन की रचना को त्याग कर सहज विलास रूप चैतन्य का चमत्कार रूप एक शुद्ध आत्मा को ध्याता है वह जीव शीघ्र ही कर्म अंधकार के समूह को अतिशय करके विध्वस कर स्वभाव की महिमा का आनन्द ऐसे सुख की खान मुक्ति को प्राप्त करता है।

अत्र कायगुप्तिस्वरूपमुक्तम्:—

वंधणछेदणमारणआकुंचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्तित्ति ॥६८॥

बधनछेदनमारणाकुंचनानि तथा प्रसारणादीनि ।
कायक्रियानिवृत्तिः निर्दिष्टा कायगुप्तिरिति ॥६८॥

कस्यापि नरस्य तस्यान्तरंगनिमित्तं, कर्म बंधनस्य बहिरंगं हेतुः कस्यापि कायव्यापारः छेदनस्याभ्यन्तरगकारण कर्मोदयः, बहिरंगकारणं प्रमत्तस्य कायक्रिया । मारणस्याभ्यन्तरंगहेतु-रांतर्य्यक्षयकारि, बहिरंगकारणं कस्यापि कायविकायविकृतिः । आकुंचनप्रसारणादिहेतुः संहरणविसर्पणसप्तसमुद्धात. । एतासां कायक्रियाणां निवृत्तिः कायगुप्तिरिति ।

मुक्त्वा कायविकार यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः ।
संभावयसि तस्यैव सफल जन्म समृतौ ॥

अवकाय गुप्ति को कहते हैं:—

सामान्यार्थ—बधन, छेदन, मारन, सकोचन विस्तारन आदि शरीर की क्रियाओं को न करना सो कायगुप्ति कही गई है ।

विशेषार्थ—किसो का बंधन होना इसमें अन्तरंग निमित्त कर्म का उदय तथा बाह्य कारण किसी के काय का व्यापार है । छेदन में भी अन्तरंग कर्म का उदय और बाह्य कारण कषाय सहित जीव के शरीर की क्रिया है । मारन का भी अंत-रग कारण कर्म का उदय बाह्य कारण क्षय करने वाले बाह्य

किसी के काय आदि की चेष्टा है। संकोच विस्तार एक ही पर्याय में समुद्घात की अपेक्षा होता है जिसमें आत्मा के प्रदेश आत्मा को न त्याग कर कुछ देर के लिए फैल जाते हैं और फिर सिकुड जाते है इत्यादि बधनादि रूप जो काय की क्रिया उनसे अलग रहना सो कायगुप्ति है। टीकाकार कहते हैं जो मुनि काय के विकारों को त्याग कर बार-बार शुद्धात्मा की भावना करता है उसी का ही जन्म मैं इस संसार में सफल समझता हूं।

निश्चयनयेन मनोवाग्गुप्तिसूचनेयम्:—

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती।
अलियादिणियत्ति वा मोणं वा होइ वदिगुत्ती ॥६९॥

या रागादिनिवृत्तिर्म्मनसो जानीहि तां मनोगुप्तिम्।
अलीकादिनिवृत्तिर्वा मौनं वा भवति वाग्गुप्तिः ॥६९॥

सकलमोहरागद्वेषाभावादखण्डाद्वैतपरमचिद्रूपे सम्यगवस्थितिरेव निश्चयमनो गुप्ति. हे शिष्य त्वं तावन्न चलितां मनोगुप्तिमितिजानीहि। निखिलानृतभाषापरिहृतिर्वा मौनव्रत च, किच मूर्तस्य चेतनाभावाद् अमूर्तद्रव्यमिद्रिज्ञानगोचरत्वादुभयत्र वाकप्रवृत्तिर्न भवति, इति निश्चयवाग्गुप्तिस्वरूपमुक्तम्।

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदय त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः
शुद्धाशुद्धानयातिरिक्तमनघ चिन्मात्रचिन्तामणिम्।
प्राप्यानतचतुष्टयात्मकतया सार्द्ध स्थितां सर्वदा
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावक. ॥

अब निश्चय नय से मनोगुप्ति का स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो मन से रागादि भावों का दूर करना सो मनगुप्ति हैं तथा असत्य आदि वचन का न कहना मौन रखना सो वाग्गुप्ति है।

विशेषार्थ—जो मुनि सब मोह रागद्वेष को दूर करके खण्ड-रहित अद्वैत परम चैतन्य रूप में भले प्रकार स्थित होता है। उसी के ही निश्चय मनोगुप्ति होती है। हु शिष्य! तुम जब तक इस स्थिरता से चलायमान न हो तब तक मनो गुप्ति जानो। सम्पूर्ण असत्य भाषा का त्यागना अथवा मौनव्रत का रखना ऐसा कि चेतना जिसमें नहीं ऐसे मूर्तिक द्रव्य में इन्द्रिय ज्ञान अगोचर ऐसे अमूर्तिक द्रव्य में व दोनों में वचन की प्रवृत्ति न करना सो निश्चय वचन गुप्ति कहीं जाती है। टीकाकार कहते है जो मुनि आत्मा में भले प्रकार लीन हो शुभ तथा अशुभ मन वचन को क्रिया का त्यागता है, तथा शुद्ध वा अशुद्ध नय विकल्पो से रहित पापरहित चैतन्यमात्र चिन्तामणि रत्न को प्राप्त करता है सो मुनि पापरूपी वनों के लिए अग्नि समान हो योगियो में शिरोमणि होता हुआ अनन्त चतुष्टय का लाभ कर उसमें स्थित रह सदा ही जीवन्मुक्ति अवस्था का भोगो होता है।

निश्चयशरीरगुप्तिस्वरूपाख्यानमेतत्:—

कायकारियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥७०॥

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीर के गुप्तिः।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिरीति निर्दिष्टता ॥७०॥

सर्वेषां जनानां कायेषु बह वयः क्रिया 'वद्यन्ते तासां 'नवृत्तः कायोत्सर्गः स एव गुप्तिर्भवति । पचस्थावराणां त्रसाणा च हिंसानिवृत्तिः कायगुप्तिर्वा परमजिनयोगीश्वरः यः स्वकीय वपुः स्वस्य वपुषा विवेकेन तस्याप्यपरमूर्तिरेव निश्चयकायगुप्तिरिति । तथाचोक्तम् तत्वानुशासने ।

उत्सर्ग्य कायकर्माणि भावे च भवकारणम् ।
स्वात्मावस्थानमव्यग्र कायोत्सर्वः स उच्यते ।।

तथाहि—

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः ।
व्यवहाराद्भवेन्मे तस्त्यजामि विकृति तनोः ।।

अब निश्चय कायगुप्ति को कहते हैं—

सामान्यार्थ—काय की सम्पूर्ण क्रियाओं को त्यागना काय मे ममत्त भाव को छोडना सो शरीर गुप्ति है अथवा सर्व हिसा मे दूर रहना सो काय गुप्ति है ऐसा कहा गया है ।

विशेषार्थ – सर्व ही मनुष्यों के शरीरों में बहुत सी क्रियाए हुआ करती है । उन सर्व क्रियाओ को छोडकर कायोत्सर्ग करना सो काय गुप्ति है । तथा पच प्रकार थावर जीव और सर्व त्रस जीवो को हिसा न करनी सो काय गुप्ति है । तथा परम सयम के धारी परम जिन योगीश्वर जब अपने आत्मा के चतन्यमई शरीर से इस शरीर का भेद ज्ञान करते है तब उनके अतरंग में अपने आत्मा की उत्कृष्ट मूर्ति का निश्चय का होना सो काय गुप्ति है । ऐसा ही श्री तत्वानुशासन में कहा है कि शरीर की सम्पूर्ण चेष्टाओं को तथा संसार के कारण राग-

द्वेषादि भावों को छोड़कर स्थिर हो अपने आत्म स्वरूप में लीन हो जाना सो कायोत्सर्ग कहा जाता है टीकाकार कहते हैं :— आत्मा अपरिस्पंद रूप अर्थात् हलन-चलन क्रिया से रहित है, परन्तु शरीर परिस्पन्दरूप हलन-चलन क्रिया सहित है। व्यवहार से यह हलन-चलन मेरे आत्मा में होता है इसलिए मैं शरीर की विकार रूप क्रियाओं का त्याग करता हूं।

भगवतोऽर्हत्परमेश्वरस्य स्वरूपाख्यानमेतत् :—

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।

चोत्तिसअदिसअजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

घनघातिकर्मरहिताः केवलज्ञानादिपरमगुणसहिताः।
चतुस्त्रिंशदतिशययुक्ता अर्हन्त ईदृशा भवन्ति ॥ ७१ ॥

आत्मगुणघातकानि घातिकर्माणि, घनरूपाणि सान्द्रीभूतात्मकानि ज्ञानदर्शनावरणान्तरायमोहनीयानि तैर्विरहितास्तथोक्ताः। प्रागुक्तघातिचतुष्कप्रध्वसनासादितत्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूतसकलविमलकेवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलशक्तिकेवलसुखसहिताश्च निःस्वेदनिर्मलादिचतुस्त्रिंशदतिशयगुणनिलयाः। ईदृशा भवन्ति भगवन्तोऽर्हन्त इति।

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः।
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः।
मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः।
सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥
स्मरकरिमृगराजः पुण्यकञ्जाह्निराजः
सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः ॥
स जयति जितराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः

पदनुतसुरराजस्त्यक्तससारभूजः ।।
जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः
परिणतिसुखरूपः पापकीनाशरूपः ।।
हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ।
जयति विदितमोक्षः पद्मपद्मायताक्षः
प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः ।
पदयुगनतयक्षः तत्वविज्ञानदक्षः ।
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्व्वाणदीक्षः ।।
मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः ।
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपक्षः ।।
दुरघवनहुताशः कीर्तिसपूरिताशः ।
जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ।।

अब श्री अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप कहते है ।

सामान्यार्थ—जो सम्पूर्ण घातिया कर्मों से रहित है केवल ज्ञानादि परम गुण के धारी हैं चौतीस अतिशय विराजमान हैं सो ही अरहंत कहलाते हैं ।

विशेषार्थ—आत्मा के गुणो को घातने वाले कर्मों को घातिया कहते हैं । घनरूप अर्थात् आत्मा से जो एक में एक हो रहे हैं ऐसे ज्ञानावरणी दर्शनावरणी अन्तराय और मोहनी इनसे जो अर्हन्त परमेष्ठी रहित है । इन घातियाकर्मों के नाश से समस्त लोक को आनंद का कारण सर्वथा निर्मल ऐसा इसकेवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल वीर्य और केवल सुख इन चार चतुष्टय करके जो अर्हन्त भगवान युक्त हैं तथा आगम में प्रसिद्ध ३४ अतिशय के जो धारी है वे ही भगवान अर्हत होते हैं । टीकाकार कहते हैं—वे

सुसीमाजी के पुत्र श्रीपदमप्रभु जयवन्त हों जिनका शरीर परमौदारिक है जिसमें पद्मरंग प्रसिद्ध है, जिनके नेत्र प्रफुल्लित कमल के समान हैं, जो पुण्य समूह रूप तीर्थंकर गोत्र के धारी हैं, जो पंडित जनरूपी कमलों को प्रसन्न करने के लिए सूर्य के समान हैं, जो मुनिजन रूपी वनों की शोभा को बढ़ाने के लिए चैत्र मास अर्थात् बसंत ऋतु है, जो कर्म रूपी सेना के नाश करने को शत्रु है, तथा जिनका चारित्र सर्व प्राणियों का हित करने वाला है। जो कामदेव रूपी हाथी के नाश के लिए सिंह के समान हैं, जो पुण्य रूपी कमल के खिलाने को सूर्य हैं, जो सम्पूर्ण गुणों के समाज हैं, जो सर्व को इच्छित सुखदाता कल्प-वृक्ष है। जो दुष्ट कर्मों के बीज को जलाने वाले है, जो संसार के पदार्थ को छोड़ चुके हैं, तथा जिनके चरणों को इन्द्र नम-स्कार करते है ऐसे श्री जिनेन्द्र देव जयवन्त होहु। जिन्होंने कामदेव के धनुष को जीत लिया है, जो सर्व विद्याओं के प्रगट-कर्ता है, जिनकी परिणति सुखरूप है, जो पाप समूह के लिए यमराज के समान है जिन्होंने ससार के ताप को शान्त कर दिया है, जिनके परमलक्ष्मी संयुक्त पदों को राजाधिराज नमन करते हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है तथा विद्वानों के समूह जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे श्री जिनेन्द्र जयवन्त होहु। यहां पर टीकाकार ने पद्मप्रभु अरहन्त भगवान की एक स्तुति मनोहर श्लोकों में लिखी है। कहे हुए प्रथम श्लोक में सर्व समास शब्दों के अन्त में 'त्र' अक्षर आया है, दूसरे श्लोक में 'ज' अक्षर तीसरे में 'प' अक्षर आया है। अब चौथे श्लोक का अर्थ कहते हैं—जिसके समास पदों के अत में 'क्ष' अक्षर आया है—अर्थात् जिन्होंने मोक्ष को प्रगट किया है, जिनके नेत्र पद्म कमल के समान विस्तार युक्त हैं, जिन्होंने पाप की सेना को

जीत लिया है, कामदेव की पक्ष को खंडित किया है जिनके युगल चरणों को यक्ष नमन करते हैं, जो तत्व विज्ञान में दक्ष अर्थात् चतुर है, जिन्होंने वुद्धिमान भव्य जीवों को शिक्षा प्रदान की है जिन्होने निर्वाण का कारण मुनि दीक्षा का स्वरूप कहा है ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभु जयवन्त होहु । आगे के श्लोक के पदों के अन्त में 'श' अक्षर है :—जो कामदेव धरणेन्द्र देवों के ईश है, जिनका शरीर का प्रदेश कांतमान शोभायमान हैं, जिनके चरणों को यमीश अर्थात् मुनियों के ईश नमस्कार करते हैं, जिन्होने यमराज के पक्ष को नष्ट कर दिया है, जो पाप रूपी बन के जलाने के लिए अग्नि के समान है, जिनका सुयश सर्व दिशाओं में फैला हुआ है, जो जगत् के ईश है, ऐसे मनोहर श्रीपद्म प्रभु स्वामी जयवन्त होहु ।

भगवता सिद्धि परंपराहेतुभूतानां स्वरूपमत्रोक्तम् :—

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा जे ऐरिया होंति ॥७२॥

नष्टाष्टकर्मबन्धा अष्टमहागुणसमन्विताः परमाः ।
लोकाग्रस्थिता नित्याः सिद्धास्ते ईदृशा भवन्ति ॥ ७२ ॥

निरवशेषेणान्तर्मखाहारध्यानध्येय विकल्पविरहित निश्चय परम शुद्धध्यानबलेन नष्टाष्टकर्मबंधाः । क्षायिकसम्यक्त्वा-द्यष्टपुष्टितुष्टाश्च । त्रितत्वस्वरूपेषु विशिष्टगुणाधारत्वात् परमाः । त्रिभुवनशिखरात् परतो गतिहेतोरभावात् लोकाग्रस्थिताः व्यवहारतोऽ भूतपूर्वपर्यायप्रच्यवनाभावान्नित्याः । ईदृशस्ते भगवन्तः सिद्धपरमेष्टिनः इति ।

व्यवहारणनयने ज्ञानपुंजश्च सिद्धः
त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूड़ामणिः स्यात् ।
सहजपरमचिच्चिन्तामणौनित्यशुद्धे ।
निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः ॥
नीत्वा तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्धौ निरूपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान् ॥
सिद्धान्नष्टाष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान्नित्यशुद्धाननन्तान्
अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान् ॥
स्वस्वरूपस्थितान् सिद्धान् प्राप्ताष्टगुणसपदः ।
नष्टाष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् बंदे पुनः पुनः ॥

आगे श्री सिद्ध भगवान का स्वरूप कहते है :—

सामान्यार्थ—जिन्होने अष्ट कर्मों के बन्धनों को नाश कर दिया है, जो आठ महागुण करके सहित परम अर्थात् बड़े हैं, जो लोक के अग्रभाग में स्थित है, जो नित्य अर्थात् अविनाशी हैं वे सिद्ध होते है ।

विशेषार्थ - इस गाथा में मोक्ष प्राप्त करने के परम्परा कारणभूत ऐसे जो भगवान् सिद्ध परमेष्ठी है उनके स्वरूप को कहते है । सम्पूर्णपने अन्तरग के सम्मुख होकर ध्यान और ध्येय के विकल्पो के दूरवर्ती ऐसा जो परम शुद्ध शुक्ल ध्यान उसके बल से जिन्होंने ज्ञानावरणी आदि आठ प्रकार के कर्म बन्धो को नष्ट कर दिया है तथा क्षायक सम्यक आदि आठ गुणों से पुष्ट और तुष्ट अर्थात् संतोषित हैं तथा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ऐसे तीनों तत्वों के विशेष गुणाधाररूप होने से परम है, अर्थात् तीनों तत्वों की जहाँ

पूर्णता है, तथा जो व्यवहार से तीन लोक के शिखर के आगे गमन का कारण धर्म, द्रव्य न होने से लोक के अग्र भाग में ही तनुबालबलय में विराजमान है, तथा जो अपनी इस अभूतपूर्व पर्याय से कभी अन्य पर्याय रूप न होगे अर्थात् सिद्ध पर्याय न त्यागेगे इस कारण नित्य हैं। ऐसे श्री सिद्ध परमष्ठी होते हैं। टीकाकार कहते हैं कि ज्ञान के पुन्ज ऐसे जो श्री भगवान हैं सो व्यवहार नय करके तीन भवन के शिखर के अग्रभाग के चूड़ामणि हैं परन्तु निश्चय करके श्री सिद्ध देव स्वाभाविक परम चैतन्य चिन्तामणि स्वरूप अपने अविनाशी शुद्ध निज रूप में ही विराजते है। जिन्होंने सर्व दोषो को अस्त कर दिया है, जो देह से मुक्त होकर तीन भवन के शिखर पर विराजित हैं, जो सिद्ध अवस्था के उपमा रहित प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन शक्ति से युक्त हैं, जिन्होंने अष्ट कर्म प्रकृति के समुदायो को नष्ट कर दिया है और अष्ट महागुणो को सिद्ध किया है, जो अन्त रहित अव्याबाध हैं, जो तीन भवन के शिरोमणि और सिद्धि रूपी स्त्री के स्वामी है ऐसे नित्य शुद्ध सर्व सिद्धो को मै नमस्कार करता हूं, जिन्होंने आठ गुण की सम्पदा को प्राप्त किया है और आठ कर्म के समूह को नष्ट किया है ऐसे सिद्ध महाराजो को मैं बारम्बार नमस्कार करता हू।

अत्राचार्यस्वरूपमुक्तम् :—

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगम्भीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

पचाचारसमग्राः पंचेन्द्रियदंतिदर्पनिर्दलनाः।
धीरा गुणगम्भीरा आचार्य्या ईदृशा भवन्ति ॥७३॥

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याभिधानैः पंचभिः आचारैः समग्राः, स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्राभिधानैः पंचेन्द्रियमदान्धसिंधुरदर्प्प-निर्दलनदक्षाः निखिलघोरोपसर्गविजयोपार्जितधीर गुणगम्भी-राः । एवं लक्षणलक्षितास्ते भगवन्तो ह्याचार्या इति । तथा चोक्तं श्री वादिराजदेवैः—

"पंचाचारपरान्नकिंचनपतीन्नष्टकषायाश्रमान् ।
चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहो पंचास्तिकायस्थितान्।।
स्फाराचचलयोगचंचुरधियः सूरीनुदचद्गुणान् ।
अंचामो भवदुःखसचयभिदे भक्तिक्रियाचंचवः ।

तथाहि—

सकलकरणाग्रामालबाद्विमुक्तमनाकुल ।
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्व्वाणकारणकारणं ।।
शमदममावास मैत्रीदयादममंदिरम् ।
निरुपममिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ।।

आगे श्री आचार्य के स्वरूप को कहते हैं :—

सामान्यार्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य ऐसे पांचों आचारों से परिपूर्ण है, जो पंचेन्द्रिय रूपी हाथियों के मद को दलन करने वाले हैं, जो धीर हैं, और गुणों में गम्भीर हैं । वे ही आचार्य होते है ।

विशेषार्थ—जो ज्ञानादि पांचों आचरणों में परिपूर्ण हैं जो स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांचों इन्द्रियों रूप मदान्ध हस्तियों का मद दलने में दक्ष है, तथा जो सम्पूर्ण प्रकार के घोर उपसर्गों को विजय करके धीरता गुण के कारण

गम्भीर हैं। ऐसे लक्षणो ही से जानने योग्य श्री भगवान आचार्य जी हैं। ऐसा ही श्री वादिराजदेव ने कहा है–कि जो पच आचार में लीन हैं, अकिचन अर्थात् निर्ग्रन्थता के जो स्वामी हैं, कषाय चोरों के स्थानों को जिन्होंने नष्ट किया है, प्रकट ज्ञान के बल से परम तेज को जिन्होंने प्राप्त किया है। जो पंचास्तिकाय के स्वरूप ज्ञान में लवलीन है, जो प्रगट स्थिर योगाभ्यास में प्रवीण बुद्धिशाली हैं, जो गुणो करके उदय रूप हैं ऐसे श्री आचार्य महाराजो को हम भक्ति रूपी क्रिया के अभिलाषी अपने ससार सम्बन्धी दुख समूह को काटने के लिए पूजन करते है।

टीकाकार कहते है—जिन श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का मन सम्पूर्ण इन्द्रियो के ग्रामो के आलबन से रहित है, जो आकुलता रहित अपने आत्म कल्याण मे तन्मय है जो शुद्ध है और निर्वाण का कारण जो शुक्ल ध्यान उसकी प्राप्ति का कारण है, जो समता और इन्द्रिय दमनता का मन्दिर है, जो मैत्री, दया और दम अर्थात् जितेन्द्रिय का घर है, जो उपमा रहित है, ऐसा श्रीगुरु का मन मेरे द्वारा वदनीक है।

अध्यापकाभिधानपरमगुरुस्वरूपाख्यानमेतत्:—

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥७४॥

रत्नत्रयसंयुक्ताः जिनकथितपदार्थदेशका सूराः ।
निःकाक्षभावसहिताः उपाध्याया ईदृशा भवंति ॥७४॥

अविचलताऽ खडाद्वैतपरमचिद्रूपश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्ध-निश्चयस्वभावरत्नत्रयजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतजीवादिसमस्त-

पदार्थसार्थोपदेशशूराः, निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणा निरंजन-निजपरमात्मतत्वभावनोत्पन्नपरमवीतरागसुखामृतपानेनोन्मुखास्त एव निष्कांक्षाभावनासनाथाः एवंभूतलक्षणलक्षितास्ते जैनानुमुपाध्याया इति ।

रत्नत्रयमयान शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान् ।
उपदेष्टहनुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः ॥

आगे श्रीउपाध्याय महाराज का स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो रत्नत्रय से युक्त है, जिनेन्द्र भगवान प्रणीत पदार्थो के उपदेशक हैं जो इच्छा रहित ऐसे भाव सहित है ऐसे उपाध्याय कहे जाते हैं ।

विशेषार्थ—इस गाथा में अध्यापक स्वरूप परम गुरुओं के स्वरूप का वर्णन है :—जो निश्चलखण्ड रहित अद्वैत परम चैतन्य रूप के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मे शुद्ध निश्चय स्वभाव रत्नत्रय के धारी है, जो जिनेन्द्र के मुखारबिन्दु से प्रगट हुए जीवादि समस्त पदार्थो को अर्थ सहित व्याख्यान करने वाले है, जो सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग है लक्षण जिसका तथा कर्मांजन रहित ऐसा जो निज परमात्म तत्व उसकी भावना से पैदा होने वाले परम वीतराग सुख रूपी अमृत के पीने में अनुरागी है इसलिए इच्छा रहित परम भावना के स्वामी हैं । ऐसे लक्षणों करके पहचानने योग्य जैनियों के उपाध्याय महाराज होते हैं । टीकाकार कहते हैं—मैं रत्नत्रयमई, शुद्ध भव्य कमलों के लिए सूर्य ऐसे उपदेश दाता उपाध्यायों को नित्य बार बार बंदना करता हूं ।

निरन्तराखंडितपरमतपश्चरणनिरतसर्वसाधुस्वरूपाख्यान-
मेतत :—

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥७५॥

व्यापारविप्रमुक्ताः चतुर्विधाराधनासदारक्ताः ।
निर्ग्रन्था निर्मोहाः साधवः एतादृशा भवति ॥७५॥

ये महान्त. परमसंयमिनः त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरम-
पंचमभावभावनापरिणताः, अत एव समस्तबाह्यव्यापारविप्र-
मुक्ताः, ज्ञानदर्शनचारित्रपरमतपश्चरणाभिधानचतुर्विधाराधना-
सपदानुरक्ताः । बाह्यभ्यन्तरसमस्तपरिग्रहविनिर्मुक्तत्वान्नि-
र्ग्रन्थाः । सदा निरजननिजकारणसमयसारस्वरूपसम्यक्श्र
द्धानपरिज्ञानाचरणप्रतिपक्षमिथ्यादर्शनज्ञानचा रत्राभावान्नि-
र्मोहाः । इत्थभूतपरमनिर्वाणसीमतिनीचारुसीमतसीमाशोभाना-
मसृणरजः पुंजपिजरि तवर्णालंकारावलबनकौतूहलबुद्धियोपि ते
सर्वेपि साधवः इति ।

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषंगसम्बंधात् ।
मक्षु विमक्ष्व निजात्मनि बद्य नस्तन्मनः साधोः ॥

आगे निरतर अखडित परम तपश्चरण में लीन ऐसे सर्व
साधु के स्वरूप को कहते है ।

सामान्यार्थ—जो सर्व व्यापार से रहित हैं, चार प्रकार
आराधना में सदा लवलीन है, जो निर्ग्रन्थ और मोह रहित हैं
वे साधु होते ह ।

विशेषार्थ—जो महान पुरुष परम संयम के धारी हैं तथा जो पंचम भाव जो पारणामिक भाव उसकी भावना में परिणमन करते हैं—कैसा है पंचमभाव, जो तीन काल में आवरण रहित तथा सर्व मलरूप अजन से रहित है शुद्ध है। वे मुनि इसी कारण सर्व बाह्य व्यापार से रहित हैं। तथा ज्ञान दर्शन चारित्र परम तपश्चरण ऐसी चार प्रकार की आराधना रूपी संपदा उनमें जो अनुरक्त हैं अर्थात् तन्मय हैं। बाह्य अभ्यन्तर सर्व परिग्रह के हठ से रहित हैं इसलिए निर्ग्रन्थ हैं। सदा कर्म रूपी अंजन से रहित निज परमात्मस्वरूप जो कारण समयसार-स्वरूप उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरण उनके विरोधी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र इनके अभाव से जो मुनि निर्मोह अर्थात् मोह रहित हैं। तथा जो मुनि परम निर्वाण रूप स्त्री उसका सुन्दर केशों का जूड़ा उसकी शोभा तथा उसके सचिक्कण केसर का रज पुंज उससे शोभायमान नाना प्रकार वर्णो का अलकार उसके आलम्बन में कौतूहल बुद्धि है अर्थात् मुक्ति स्त्री के प्रेमी हैं ऐसे सर्व साधु होते हैं। टीकाकार कहते हैं कि साधु का मन ससारी जीवों के ऐसे सुखो से रहित है सर्व परिग्रह के सम्बन्ध से दूरवर्ती है हम लोगों से नमस्कार करने योग्य है। हे साधु ऐसे मन को अपने आत्मा ही में शीघ्र डुबाओ।

व्यवहारचारित्रधिकारव्याख्यानोपसहारनिश्चयचारित्रसूचनोपन्यासोयम् :—

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥७६॥

ईदृग्भावनायां व्यवहारनयस्य भवति चारित्रम् ।
निश्चयनयस्य चरणं एतदूर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ॥७६॥

इत्थंभूताया प्रागुक्तपचमहाव्रतपंचसमितिनिश्चयव्यवहार-त्रिगुप्तिपचपरमेष्ठिध्यानसंयुक्तायां अतिप्रशस्तशुभभावनायां व्यवहारनयाभिप्रायेण परमचारित्रं भवति, वक्ष्यमाणपचमाधिकारे परमपचमभावनिरतपचमगतिहेतुभूतशुद्धनिश्चयात्मपचमचारित्र द्रष्टव्य भवतीति । तथाचोक्त मार्गप्रकाशे—

"कुशीलगर्भस्थितिबीजसोदर
भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम् ।
तदेव देवासुरमानवस्तुतम्
नमामि जैन चरण पुनः पुन." ॥

तथाहि –

शीलमपवर्गयोषिदनगमुखस्यापि मूलमाचार्या ।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परो हेतुः ॥

इतिसुकविजनपयोजमित्रपचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमल धारिदेवविरचिताया नियमसारव्याख्यायाम् तात्पर्यवृत्तौ व्यवहारचारित्रधिकार चतुर्थ श्रुतस्कन्ध. ॥४॥

आगे इस अधिकार को मकोचते है

सामान्यार्थ—इन ऊपर लिखित भावनाओ में व्यवहार नय की अपेक्षा से चारित्र का कथन किया है । निश्चय नय अपेक्षा चारित्र को आगे कहेगे ।

विशेषार्थ—इस प्रकार पहले कहे पाच महाव्रत, पांच समिति निश्चय व्यवहार तीन गुप्ति तथा पाच परमेष्ठी का

स्वरूप—इनके द्वारा अत्यन्त शुभ भावना की प्राप्ति होती है यह सर्व व्यवहार नय के अभिप्राय से परम चारित्र होता है। आगे कहने योग्य पांचवें अधिकार में परम पंचम भाव जो भाव जो परिणामिक भाव उसमें लीन तथा जो पंचमगति अर्थात् मोक्ष उसका कारण रूप ऐसा शुद्ध निश्चय नया के आधीन जो परम चारित्र है उसका स्वरूप दिखलाएँगे। ऐसा ही श्री मार्ग्गप्रकाश में कहा है कि जिस चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऊखल के भीतर पड़े हुए बीज के समान छिलके से तथा मैल से अलग नही है उस जैन के चारित्र को मै नमन करता हूं। इस चारित्र की स्तुति देव असुर, तथा मनुष्य सर्व करते है। टीकाकार कहते हैं कि मोक्ष रूपी स्त्री के अनग अर्थात् अतीन्द्रिय सुख का मूल यह परम निश्चय चारित्र है ऐसा आचार्यो ने कहा है तथा इस चारित्र का उत्कृष्ट साधना व्यवहार चारित्र भी है ऐसा वर्णन किया है।

इस प्रकार सुकबि कमलो के लिये सूर्य पचेन्द्रिय के विस्तार से रहित शरीर मात्र परिग्रह धारी श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नाम टीका मे व्यवहारचारित्र का अधिकार पूर्ण हुआ।

नमोऽस्तु ते सयमबोधमूर्तये
स्मरेभकुंभस्थलभेदनाय वं।
बिनेयपंकेरुहविकाशभानवे
विराजते माधवसेनसूरये ॥

अथ सकलव्यावहारिकचारित्रतत्फलप्राप्तिप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयनयात्मकपरमचारित्रप्रतिपादनपरायणपरमार्थप्रतिक्रमणाधि-

कारः कथ्यते । तद्यथा । पंचरत्नावतारः । अत्र शुद्धात्मनः सकलकर्तृत्वाभाव दर्शयतिः —

णाहं णारयभावोनिरियत्थोमणुवदेव पज्जा ओ ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७७॥

णाहं मग्गणठाणो णो गणठाणाजीव ठाणो ण ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७८॥

णाहं बालो बुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७९॥

णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेवकत्तीणं ॥८०॥

णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं ।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥८१॥

पंचयं

नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि वा ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥७७॥

नाहं नारकभावस्तिर्यङ्मानुषदेवपर्य्यायः ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥७८॥

नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥७९॥

नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमता नैव कर्तृणाम् ॥८०॥

नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम् ।
कर्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम् ॥८१॥

पंचकं

बह्वारंभपरिग्रहाभावादहं तावन्नारकपर्यायो न भवामि संसारिणो जीवस्य बह्वारंभपरिग्रहत्वं व्यवहारतो भवति अत एव तस्य नारकायुष्कहेतुभूतनिखिलमोहरागद्वेषा विद्यन्ते, न च मम शुद्धनिश्चयबलेन शुद्धजीवास्तिकायस्य तिर्यक् पर्यायः शुद्ध-निश्चयतो न समस्तीति । देवनामधेयाधारदेवपर्याययोग्यसुरस-सुगंधस्वभावात्मक पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाभावान्न मे देवपर्यायः इति । चतुर्दशभेदभिन्नानि मार्गणास्थानानि तथाविधभेदविभि-न्नानि जीवस्थानानि गुणस्थानानि वा शुद्धनिश्चयनयतः परम-भावस्वभावस्य न विद्यन्ते । मनुष्य तिर्यक्पर्यायकायनिकायवयः कृतविकारसमुपजनितबालयौवनस्थविरवृद्धावस्थाद्यनेकस्थूलकृ-शविविधभेदाः शुद्धनिश्चयनयाभिप्रायेण न मे सन्ति । सतताव-बोधपरमचैतन्यसुखानुभूतिनिरतविशिष्टात्मतत्वग्राहकशुद्धद्रव्या-र्थिकनयबलेन मे सकलमोहरागद्वेषा न विद्यन्ते । सहजनिश्चय-नयतः सदा निरावरणात्मकस्य शुद्धावबोधरूपस्य सहजचिच्छ-क्तिमयस्य सहजदृकस्फूर्तिपरिपूर्णमूर्तेः स्वरूपाविचलस्थितिरूप-सहजयथाख्यातचारित्रस्य न मे निखिलसंसृतिक्लेशहेतवः क्रोध-मानमायालोभाः स्युः । अथामीषां विविधविकल्पाकुलानां विभावपर्यायाणां निश्चयतो नाहं कर्ता, न कारयिता वा भवामि, न चानुमंता वा कर्तृणाम् पुद्गलकर्मणामिति । नाहं नारकपर्यायं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचितये नाहं तिर्य्यक्-

पर्याय कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । नाहं मनुष्यपर्यायं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । नाहं देवपर्यायं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । नाहं मिथ्यादृष्टयादिगुणस्थानभेदं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । नाहमेकेन्द्रियादिजीवस्थानभेदं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । नाहं शरीरगतबालाद्यवस्थानभेदं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । नाहं रागादिभेदभावकर्मभेदं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । नाहं भावकर्मात्मकषायचतुष्कं कुर्व्वे, सहजचिद्विलासात्मकमात्मानमेव संचिन्तये । इति पंचरत्नांचितोपन्यासप्रपंचनसकलविभावपर्यायसन्याससविधानमुक्तं भवतीति ।

भव्यः समस्तविषयाग्रहमुक्तचिन्तः
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः ।
मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नम्
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पंचरत्नात् ॥

निश्चयप्रतिक्रमणाधिकार

आगे आचार्य टीकाकार श्रीमाधवसेनाचार्य को नमस्कार करते है— जो संयम और ज्ञान की मूर्ति है तथा विनयवान जो शिष्य रूपी कमल उनके विकास करने के लिए सूर्य हैं तथा काम देव रूपी हाथी के कुम्भस्थल विदारने को सिंह के समान हैं ऐसे जो श्रीमाधवचन्द्र आचार्य सो शोभा को विस्तारते है । आगे सर्व व्यवहार चारित्र और उसके फल का लाभ उससे

प्रतिपक्षी जो शुद्ध निश्चय नय स्वरूप परम चारित्र उसको प्रतिपादन करने के अभिप्राय से निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार को आगे कहेंगे।

तिसमें प्रथम ही पंचरत्न का स्वरूप कहते हैं :—

सामान्यार्थ—न मैं नारकभाव धारी हूं, न मैं तिर्यंच। मनुष्य तथा देव पर्याय वाला नहीं हूं, न मैं इनका कर्ता हूं न, कराने वाला हूं और करने की अनुमोदना करने वाला हूं।

न तो में मार्गना स्थान हूं न गुणस्थान रूप हूं न जोवसमास स्थान रूप हूं न मैं इन भावों का कर्ता हूं न कराने वाला हूं न मैं कर्ताओं की अनुमोदना करने वाला हूं। न मैं बालक हूं न मैं बुड्ढा हूं न मैं जवान हूं, और इन अवस्थाओं के होने का हूं। न मैं इनका कर्ता हूं न कराने वाला हूं और न मैं इनके करने वालों को अनुमोदना करने वाला हूं। न मैं राग रूप हूं न द्वेष रूप हूं, न मोह रूप हूं, न इन भावों का कारण हूं, न मैं इनका कर्ता हूं न कराने वाला हूं और न अनुमोदना करने वाला हूं। न मैं क्रोध रूप हूं न मान रूप हूं न माया रूप हूं और न कभी लोभ रूप होता हूं। न मैं इनका कर्ता हूं न कराने वाला और न करने की अनुमोदना करने वाला हूं।

विशेषार्थ—इन गाथाओं में कहा है कि शुद्ध आत्मा के सर्व कर्तृत्व भाव का अभाव है। बहु आरम्भ और बहुत परिग्रह के अभाव से मैं कभी नारक पर्याय रूप नहीं होता हूं क्योंकि संसारी जीव के ही व्यवहार से बहु आरम्भ और बहु परिग्रह होते हैं और इसी कारण उस संसारी के नारकादि दुर्गति का कारण ऐसा पूर्ण मोह, राग द्वेष होता है। मै शुद्ध निश्चय के बल से शुद्ध जीवास्तिकाय हूं। मेरे नरक पर्याय के समान

तिर्यंच पर्याय भी नही है और न मनुष्य पर्याय है और न मेरे देव पर्याय हैं क्योंकि देव पर्याय के योग्य सुन्दर रस गंध तथा शुभ रूप ऐसे पुद्गल द्रव्य उनका सम्बन्ध मेरे साथ नहीं है। इसी प्रकार १४ प्रकार मार्गना के स्थान १४ जीव समास के के स्थान व १४ गुण स्थान ये कोई भी शुद्ध निश्चय करके मेरे नही है। कैसा हूं मैं, परम भाव जो शुद्ध परिणामिक भाव उसको धारण करने वाला हूं। मनुष्य तिर्यंच की काय की जाति में अवस्था के निमित्त जो विकार पैदा होते हैं वही विकार शरीर का बालक, बृद्ध, युवा शिथिल आदि अवस्था रूप होने से अनेक प्रकार है—सो इनमें का कोई भी विकार शुद्ध निश्चय नय के अभिप्राय से मेरे नहीं है। सत्ता, ज्ञान, परम चैतन्यमई सुख का अनुभव इनमें लीन जो उत्कृष्ट आत्मीक तत्व है उस तत्व को ग्रहण करने वाली जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उसके बल से मेरे मोह, राग, व द्वेष बिल्कुल नहीं है। मैं स्वभाविक निश्चय नय से सदा निरावरण हू कर्मों के आवरण से अलग हूं। शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूं सहज चैतन्यमई शक्ति का धारी हूं। सहज दर्शन गुण से प्रकाशमान और परिपूर्ण मेरी मूर्ति है, अपने स्वरूप में निश्चलता से ठहरा हू इस कारण स्वभाव से ही यथाख्यात चारित्र का धारी हूँ। इसलिए मेरे सम्पूर्ण ससार सम्बन्धी दुःखों के कारण ऐसे क्रोध मान, माया, लोभ नहीं है तथा न मै इन नाना प्रकार के आकुलता मई विभाव पर्यायों का निश्चय से कर्ता हूँ, न कराने वाला हूं और न पुद्गल कर्मों के कराने वालों का अनुमोदक हूं। न मैं नारक पर्याय को करता हूं, मैं तो स्वभाविक चैतन्य का विलास रूप आत्मा को ही अनुभव करता हूं। न मै पशु पर्याय को करता हूं। मैं तो सहज चित्त के विलास रूप आत्मा

ही का स्वाद लेता हूं। न मैं मनुष्य पर्याय को करता हूं, मैं स्वभाविक चैतन्य का बिलास रूप जो आत्मा उस ही का अनुभव करता हूं। न मैं देव पर्याय को करता हूं, मैं सहज चैतन्य के प्रकाश रूप आत्मा का ही मनन करता हूँ। न मैं मिथ्यादर्शन आदि गुण स्थानों के भेदों को करता हू। मैं स्वाभाविक चैतन्य का विलास रूप आत्मा का ही सचेतन करता हूं। न मैं एकेन्द्रिय आदिक जीव समास के भेदों को करता हू। मैं चैनन्य का प्रकाश रूप आत्मा का ही अनुभव करता हूं। न मैं शरीर सम्बन्धो बाल बृद्ध आदि भेद को करता हूं। न मैं राग, द्वेष आदि भाव कर्म के भेदों को करता हूं। मैं स्वाभाविक चैतन्य का विलास रूपआत्मा का ही स्वाद लेता हूं न मैं राग द्वेष रूप भाव कर्म के भेदों को करता हूं। मैं सहज चैतन्य के प्रकाश रूप आत्मा ही का मनन करता हूं। न मैं भाव कर्म रूप, क्रोधादि चार कषायों को करता हूं। मै स्वाभाविक चैतन्य का विलास रूप आत्मा का ही अनुभव करता हू। इस प्रकार पचरत्न मई ५ गाथाओं में गर्भित सक्षेप में यह कथन किया है कि सर्व विभाव पर्यायों को त्याग करने की भावना करना ही कार्यकारी है। टीकाकार कहते हैं—जो भव्य जीव इन पाँच रत्नमई पाँच गाथाओं के द्वारा अपने चित को सर्व इन्द्रिय विषयों के हठ से छुड़ाता है तथा अपने आत्मीक द्रव्य के गुण पर्यायों में अपने उपयोग को लीन करता हैं वह आत्मा अपने आत्मीक भाव से भिन्न सर्व बिभावों को त्याग कर शीघ्र ही मुक्ति का लाभ करता है।

अत्र भेदविज्ञानात् क्रमेण च निश्चयचारित्रं भवीतत्युक्तं :—

एरिसभेदब्भासे मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं ।

तं दिढकरणणिमित्तं पडिक्कमणादी पवक्खामि ॥८२॥

ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रं ।

तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादि प्रवक्ष्यामि ॥८२॥

पूर्वोक्तपंचरत्नाँचितार्थपरिज्ञानेन पंचमगतिप्राप्तिहेतु-भूते जीवकर्मपुद्गलयोर्भेदाभ्यासे सति, तस्मिन्नेव च ये मुमुक्षवः सर्वदा संस्थितास्ते ह्यत एव मध्यस्थाः तेन कारणेन तेषाँ परमसंयमिनां वा स्तवनं चारित्रं भवति । तस्य चारित्रविचल-स्थितिहेतोः प्रतिक्रमणादिति निश्चित्क्रिया निगद्यते । अतीतदोष-परिहारार्थं यत्प्रायश्चितं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् । आदिशब्देन प्रत्याख्यानादीनाँ संभवश्चोच्यते इति । तथाचोक्तं श्रीमदमृत-चन्द्रसूरिभिः

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सि द्धाये किलकेचन ।
अस्यैव भावतोबद्धा ब द्धाये किलकेचन ॥

तथाहि :—

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे ।
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः ॥
शमजलनिधिपूरक्षालिताँहः कलंकः ।
स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः ॥

आगे कहते हैं कि भेद विज्ञान से ही क्रम-क्रम से निश्चय चारित्र होता है ।

सामान्यार्थ—ऊपर कहे प्रमाण भेद विज्ञान के भीतर जो अभ्यास करते हैं वे मध्यस्त होते हैं—इसी भाव के द्वारा चारित्र का लाभ होता है। इसी चारित्र के दृढ़ करने के लिए प्रएिक्रमण आदि को कहेंगे ऐसी श्रीकुंदकुंदाचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

विशेषार्थ—पहले कही हुई पचरत्नमयी पाँच गाथों के द्वारा अर्थ का भाव जानने से मोक्ष का साधक ऐसा जीव और पुद्गलों का भेद विज्ञान होता है इस भेद विज्ञान का अभ्यास करते करते जो मुमुक्ष मोक्ष के इच्छुक इस भेद विज्ञान के भाव में सदा स्थिर रहते हैं वे ही मध्यस्थ अर्थात् वीतराग हो जाते हैं। इस कारण से ही उन परम सयमी मुनियों के ही वास्तव में चारित्र होता है—इसी चारित्र में निश्चल रूप से स्थिति करने का उपाय प्रतिक्रमण आदि नियम रूप क्रियाएँ कहीं गई हैं। अतीत अर्थात् गत काल में किये हुए दोषों को छुड़ाने के लिए जो प्रायश्चित किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं। आदि द्रव्य से प्रत्याख्यान आदि भी ग्रहण करने, आगे इन ही का स्वरूप कहेंगे।

ऐसा ही श्रीअमृतचन्द्र सूरी ने कहा है कि निश्चय करके जो-जो सिद्ध हुये हैं वे सर्व ही भेद विज्ञान का महिमा से हुए हैं और जो जो ससार में बन्धे हुए हैं वे सर्व ही भेद विज्ञान के अभाव से ही बंधे हुए हैं। टीकाकार कहते हैं कि श्री मुनिनाथ के चित्त में अतिशय करके भेद ज्ञान का भाव होने पर स्वय ही यह उपयोग मोह को छोड़ देता है तथा शान्त भाव रूप

ऐसा शमरूप समुन्द्र उससे समस्त पाप रूपी कलंक को धो डालता है—यह कोई निश्चय करके समयसार का ही एक भेद है।

इन इंन मुमुक्षुजनसस्तूय मानवाङमयप्रतिक्रमणनामधेय-समस्तपापक्षय हेतुभूतसूत्रसमुदयनिरासोयम :—

मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।

अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदिति पडिकमणं ॥८३॥

मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभाववारण कृत्वा।

आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणं ॥८३॥

यो हि परमतपश्चरणकारणसहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथस्य राकानिशीथिनीनाथ अप्रशस्तवचनपरिमुक्तो ऽपि प्रतिक्रमणसूत्र-विषमवचनरचना मुक्त्वा ससारलतामूलकंदानां निखिलमोहरा-गद्वेषभावानां निरावरणं कृत्वा ऽखंडानंदमयं निजकारणपरमा-त्मानं ध्यायति, तस्य खलु परमतत्वश्रद्धानावबोधानुष्ठानाभि-मुखसकलवाग्विषयव्यापारविरहितनिश्चयप्रतिक्रमणं भवतीति।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंदसूरिभि:।

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चिन्त्यतांनित्यमेक:।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥

तथाहि-

अतितीव्रमोहसंभवपूर्वार्जिततत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्त्तेहमात्मना तस्मिन् ॥

आगे प्रतिक्रमण का स्वरूप कहते हैं :—

सामान्यार्थ—वचन की रचना का छोड़ कर तथा राग द्वेषादि भावों को निरावरण करके जो कोई आत्मा को ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

विशेषार्थ—जो मोक्षार्थी जीव प्रतिदिन सर्व पापों के समूहों को क्षय करने के लिए वचनमई प्रतिक्रमण की स्तुति करता है। उसका इस गाथा में निराकरण है। जो कोई परम तपश्चरण का कारण स्वाभाविक वैराग्य रूपी अमृत का जो समुन्द्र उसके बढ़ाने के लिए पूर्ण चन्द्रमा के समान है उसके अशुभ वचनों को कहने का त्याग तो होता ही है तो भी वह प्रतिक्रमण सूत्र में गठन की हुई कठिन वचनों की रचना को छोड़ता है और संसार रूपी बेल के मूलकन्द जो सब मोह, राग द्वेष भाव इनको दूर करता है तथा खंड रहित आनदमयी निजकारण परमात्मा का ध्यान करता है। उसी मुमुक्ष जीव के निश्चय करके निश्चय प्रतिक्रमण होता है। कैसा है यह निश्चय प्रतिक्रमण, जहाँ परम आत्मीक तत्व का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और आचरण विद्यमान हैं। तथा जहाँ सम्पूर्ण वाग्विलास अर्थात् वचन, रचना, रूप, व्यापार का त्याग है। ऐसा ही श्रीमान् अमृतचन्द्र सूरी ने कहा है :—कि बहुत से खोटे विकल्प रूप वचन की रचना करने से कोई कार्य की सिद्धि नहीं है। परमार्थ बात यही है कि नित्य एक स्वरूप ही का अनुभव

करना ठीक है। क्योंकि अपने आत्मीक रस से भरपूर ऐसे पूर्ण ज्ञान का जहाँ प्रगटपना है, ऐसे समयसार के सिवाय और कोई कुछ अनुभव के योग्य नहीं है। टीकाकार कहते हैं—अत्यन्त तीव्र मोह से पैदा किये पूर्व में जो कर्म उनका प्रतिक्रमण करके मैं नित्य सम्यग्ज्ञान रूपी आत्मा में अपने आत्म स्वरूप के द्वारा बर्तन करता हूं।

अत्रात्माराधनायां वर्तमानस्य जन्तोरेव प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तं :—

आराहणाइ बट्टइ मोत्तूण बिराहणं विसेसेण ।
सोपडिकमणं उच्चइ पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥८४॥

आराधनायां बर्तते मुक्त्वा बिराधनं विशेषेण ।
तत् प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८४॥

यस्तु परमतत्वज्ञानी जीवः निरतराभिमुखतया ह्यतृद्यत्परिणामसंततया साक्षात् स्वभावस्थितावात्माराधनायाँ बर्तते अयं निरपराधः विगतात्माराधनः सापराधः अत एव निरवशेषणं बिराधनं मुक्त्वा बिगताराधा यस्य परिणामस्य स बिराधनः यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणमयः स जीवस्तत एव प्रतिक्रमणस्वरूपमुच्यते। तथा चोक्त समयसारे—

ससिद्धिराधसिद्धिसारितमाराधण च एकट्ठ ।
अपगयराधय जो खलु चेदा सो खलु होदि अविराहो ॥

उक्त हि समयसारव्याख्यायाम् च—

अनवरतमनतैर्बध्यते सापराधः ।
स्पृशति निरपराधो बधनं नैव जातु ।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो।
भवति निरपराधस्साधु शुद्धात्मसेवी।

तथाहि—

अपगतपरमात्मध्यानसंभावनात्मा।
नियतमिह भवासा (?) सापराध स्मृतः सन्।
अनवरतमखंडाद्वैतचिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मस न्यासदक्षः॥

आगे कहते हैं जो आत्मा की आराधना में ठहरा हुआ है उसी जीव के ही प्रतिक्रमण कहा जाता है —

सामान्यार्थ—जो कोई मोक्षार्थी विशेष करके सर्व विराधना अर्थात् अपराध उसको छोड़कर स्वरूप की आराधना में बर्तन करता है वह जीव प्रतिक्रमणमई होता है तथा वही जीव प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है।

विशेषार्थ—जो कोई परमतत्व ज्ञानी जीव निरन्तर आत्मसम्मुख हो बिना टूटे हुए अर्थात् लगातार परिणामों की परिपाठी से साक्षात् स्वभाव में ठहरकर आत्मा की आराधना में बर्तन करता है वही जीव निरपराध स्वभाव है। आत्मा की आराधना का विगत होना अर्थात् विराधना होना सो अपराध है। उस करके जो रहित वही भव्य निरपराध है। ऐसा भव्य जीव सम्पूर्ण प्रकार से विराधना को छोड़ देता है। जिसके परिणाम से आराधना चली गई है उस परिणाम को विराधना कहते हैं। ऐसा निरपराधी जीव ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप है। ऐसा कहा गया है। सो ही श्री समयसार जी

में कहा है। उस ही का समयसार की व्याख्या में श्लोक है-- जो अपराधी जीव है वह निरन्तर अनन्त कर्मों से बंधता है परन्तु जो निरपराधी है वह कभी भी बन्धन को स्पर्श नहीं करता है। क्योंकि सापराधी अपने आत्मा को नियत रूप से अशुद्ध ही भजता है परन्तु निरपराधी भले प्रकार अपने शुद्ध आत्मा का सेवक होता है। टीकाकार कहते है--जो परमात्म स्वरूप के ध्यान से रहित है ऐसी आत्मा निश्चय करके संसारी और अपराधी ही है क्योंकि अपने को अपराध सहित ही स्मरण करता है अर्थात् अशुद्ध भाव के मनन मे अशुद्ध ही रहता है। किन्तु जो निरन्तर खण्ड रहित एक अद्वैत चैतन्य के भाव में तल्लीन रहता है वही निरपराधी होता है तथा वही कर्मों के नाश करने में प्रवीण होता है।

अत्र निश्चयचरणात्मकस्य परमोपेक्षासयमधरस्य निश्चय-प्रतिक्रमणस्वरूप च भवतीत्युक्तम् :--

मोत्तूण अणायारं आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८५॥

मुक्त्वानाचार आचारे यस्तु करोति स्थिरभावम्।
स प्रतिक्रमण उच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८५॥

नियत परमोपेक्षासयमिनः शुद्धात्माराधनाव्यतिरिक्तः

सर्वोऽप्यनाचारः अतएव सर्वमनाचार मुक्त्वा ह्याचारे सहजचिद्विलासलक्षण-निरजने निजपरमात्मतत्वभावनास्वरूपे यः सहजवैराग्यभावनापरिणतः स्थिरभाव करोति, स परमतपोधन एव प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते। यस्मात् परमसमरसीभावना-परिणतः सहजनिश्चयप्रतिक्रमणामयो भवतीति।

अथ निजपरमानंदैकपीयूषसान्द्र-
स्फुरितसहजबोधात्मानमात्मानमात्मा ।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानंदभक्त्या
स्नपयतु वहुभि: किं लौकिकालापजालै: ।।
मुक्त्वानाचारमुच्चैर्ज्जननमृतकरं सर्वदोषप्रसंगं
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानंददृग्ज्ञप्तिशक्तौ
बाह्याचारप्रमुक्त: शमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूत:
सोयं पुण्य: पुराण: क्षपितमलकलीर्भाति लोकोद्यसाक्षी ।।
अत्रउन्मार्गपरित्याग: सर्वज्ञवीतरागमार्गस्वीक रश्चाक्त: ।

आगे कहते हैं कि जो निश्चय चारित्र के धारी परम उपेक्षा सँयम के पालने वाले हैं उन्हों के ही निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप होता है :—

सामान्यार्थ—जो भव्य अनाचार को त्यागकर स्वआचार में स्थिर भाव को करता है वही प्रतिक्रमणमई होता है तथा वही प्रतिक्रमण स्वरूप है।

बिशेषार्थ—नियत रूप से परमोपेक्षा संयमी मुनि के शुद्धात्मा की आराधना अर्थात् भक्ति उस सिवाय सर्व ही अनाचार है इसलिए सर्व ही अनाचार को त्याग कर जो स्वाभाविक चैतन्य का बिलास रूप ऐसा निरंजन अपना तत्व की भावना स्वरूप जो आचार उसमें जो कोई सहज वैराग्य की भावना में परिणमन करता हुआ अपने स्थिर भाव को करता है वही परम तपोधन मुनि प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है। क्योंकि वही भव्य परम समता रसमई भावना में परिणमन करता हुआ निश्चय प्रतिक्रमणमई होता है।

भावार्थ—वैराग्यमई भाव करता हुआ जो मुनि परमात्मा की भावना करता हैं उसी ही के निश्चयप्रतिक्रमण होता है। टीकाकार कहते हैं कि इस आत्मा को उचित है कि यह आत्मा निजपरम आनन्दमयी अमृत से भरे हुए तथा स्वाभाविक ज्ञान को प्रकट करने वाले अपने आत्मा को आत्मीक शान्तमयी जल से पूर्ण आनन्दमयी भक्ति पूर्वक स्नान करावै सांसारिक अनेक वचनों के समूह रूप जालों से कोई कार्य सिद्ध न होगा। जो भव्य आत्मा अतिशय करके जन्म मरणकारी तथा सर्व दोषों के प्रसग को कराने वाले अनाचार को त्याग कर तथा अपने आत्मा के द्वारा उपमारहित स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक ज्ञान तथा स्वाभाविक वीर्य के धारी आत्मा में स्थित होकर बाह्य आचार को छोड़ करके शान्ति समुद्र के शमरसमई जल बिन्दुओं के समूहों से पवित्र होता है वही आत्मा पुण्यवान है तथा वही समीचीन आत्मा मल समूह को नाश करके साक्षात् रूप होता हुआ प्रकाशमान होता है।

उम्मग्गं परिचत्ता जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८६॥

उन्मार्ग परित्यज्य जिनमार्गे यस्तु करोति स्थिरभाव।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात ॥८६॥

यस्तु शकाकाक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशसासंस्तवमलकलंकपकनिर्मुक्तः शुद्धनिश्चयसद्दृष्टिः बुद्धादिप्रणीतमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मार्गाभासमुन्मार्ग परित्यज्य व्यवहारेण महादेवाधिदेवपरमेश्वरसर्वज्ञवीतरागमार्गे पं महाव्रतपंचसमिति-

त्रिगुप्तिपंचेन्द्रियनिरोधषडावश्यकाद्यष्टाविंशतिमूलगुणात्मके स्थिरपरिणामं करोति, शुद्धनिश्चयनयेन सहजबोधादिशुद्धगुणालंकृते सहजपरमचित्सामान्यविशेषभासिनि निजपरमात्मद्रव्यं स्थिरभावं शुद्धचारित्रं करोति, स मुनिर्निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते. यस्मान्निश्चयप्रतिक्रमणं परमतत्वगतं तत एव स तपोधनः सदा शुद्ध इति । तथा चोक्तं प्रवचनव्याख्यायाम्—

इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरैः
उत्सर्गादपवादितश्च विचरद्बह्वीपृथग्भूमिकाः ।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वतः
चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिं ॥

तथाहि

विषय सुखविरक्ताः शुद्ध तत्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ताः शास्त्र सघातमत्ताः ।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृत बधूटी बल्लभा न स्फुरन्ते ॥

आगे कहते हैं कि उन्मार्ग को त्यागकर सर्वज्ञ वीतराग के मार्ग को स्वीकार करना चाहिये :—

सामान्यार्थ—उन्मार्ग को त्याग कर जो जीव निज मार्ग में अपना स्थिर भाव करता है वही प्रतिक्रमणरूप कहा गया है क्योंकि वही जीव प्रतिक्रमणमई होता है ।

विशेषार्थ—जो कोई शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टि शंका, कांक्षा विचिकित्सा अन्य दृष्टि प्रशंसा तथा अन्य दृष्टि संस्तव ऐसे

पांच मलरूपी कलंककी कीच से मुक्त होकर बुद्ध आदि एकान्त वादियों के कहे हुए मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्ररूपी मार्ग सारखे दीखे परन्तु धर्ममार्ग नहीं ऐसे उन्मार्गों को छोड़ता है और व्यवहार नयकरके महादेवाधिदेव परमेश्वर सर्वज्ञ वीतराग के द्वारा कहा गया जो व्यवहार चारित्ररूपी मार्ग अर्थात् पाँच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, पांच इन्द्रियों का निरोध, प्रतिक्रमण आदि छः आवश्यक आदि २८ मूल गुणों के आचरण में अपने परिणाम को स्थिर करता है तथा शुद्ध निश्चिय नयकरके स्वाभाविक ज्ञान आदि शुद्ध गुणों से शोभायमान तथा स्वाभाविक परम चैतन्य के सामान्य विशेष रूप प्रतिभासमान ऐसे अपने परमात्म द्रव्य में अपना स्थिर भाव करता है अर्थात् शुद्ध चारित्र में लीन होता है वही मुनि निश्चिय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है। क्योंकि निश्चिय प्रतिक्रमण परम आत्मीक तत्त्व में ही प्राप्त है इस कारण से ही वह तपोधन सदा ही शुद्ध है ॥ ऐसा ही श्री प्रवचनसार में कहा है- विशेष आदर के धारी पुराण पुरुषों के द्वारा यह चारित्र उत्सर्ग और अपवाद ऐसे दो भेदरूप सेवित किया जाता है उस चारित्र की स्पष्टपने अनेक भूमिकाओं को आचरण करके मुनि सर्व्व से अपनी अतुल निवृत्ति करके चैतन्य के सामान्य विशेषरूप अपने आत्मद्रव्य में तिष्टता है। ऐसा ही टीकाकार कहते है कि जो मुनि इन्द्रिय विषयों के सुख से विरक्त है, शुद्ध आत्मीक तत्त्व में लीन हैं। तप में अपने चित्त को अनुरागी किये हुये हैं, शास्त्र समूह की संगति में उन्मत्त हैं, गुणरूप मणियों की माला से युक्त हैं, तथा सर्व ससारिक संकल्पों से रहित हैं, ऐसे मुनि क्यों नहीं अमृतमई मोक्ष वधू के वल्लभ होकर स्फुरायमान होंगे अर्थात् अवश्य मुक्त प्राप्त करके प्रकाशमान होंगे। आगे कहते हैं कि

शल्य रहित भावों में परिणमन करनेवाला महातपोधन अर्थात् मुनि ही निश्चय प्रतिक्रमण रूप होता है।

इहहि निशल्यभाव परिणत महातयो
घन एव निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप इत्युक्तः।

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८७॥

मुक्त्वा शल्यभावं निःशल्ये यस्तु साधुः परिणमति।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८७॥

निश्चियतो निःशल्यस्वरूपस्य परमात्मनस्तावद व्यवहार-नयबलेन कमपकयुक्तत्वात् निदानमायामिथ्याशल्यत्रय विद्यत इत्युपचारतः, अत एव शल्यत्रयं परित्यज्य परमनिःशल्यस्वरूपेऽ-निष्टविषयोपरमयोगा स निश्चिय प्रतिक्रमणस्वरूप इत्युच्यते यस्मात् स्वरूपगतवास्तवप्रतिक्रमणमस्त्येवेति।

शल्यत्रय परित्यज्य नःशल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान् सदा शुद्धमात्मान भावयेत्स्फुटम् ॥
कषायकलिरंजितस्त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारण स्मरशराग्निदग्ध मुहुः।
स्वभावनियत सुख विधिवशादनासादितम्
भज त्वमलिनं यते प्रचलसंसृतेर्भीतितः ॥

सामान्यार्थः—जो मुनि उस शल्य भाव को त्यागकर शल्य रहित भाव में परिणमन करता है वह प्रतिक्रमणरूप कहा जाता है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है॥

विशेषार्थः—निश्चिय करके यह आत्मा सर्व शल्य से रहित स्वरूप परमात्मा है परन्तु व्यवहार नयके बल से कर्मरूपी कीचड़ से सहित है इस कारण से उपचार करके यह संसारी जीव माया मिथ्या, निदान ऐसे तीन शल्यों के साथ है। इस कारण इन तीनों शल्यों को छोड़कर जो कोई विषयों से विमुख परमयोगी परम निःशल्य स्वरूप परमात्मस्वभाव में लीन होता है वही मुनि निश्चिय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है। क्योंकि अपने आत्मस्वरूप में प्राप्त होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है। टीका-कार कहते हैं कि विद्वान् यती तीन शल्यों को त्यागकर शल्य-रहित परमात्मा में ठहरकर प्रगटपने सदा शुद्ध आत्माहीकी भावना करता है। हे मुनि! तू कषाय कालिमा से रजायमान होता हुआ बार-बार कामदेव के वाण से निकली जो अग्नि उस करके दग्ध हो चुका है सो अब तू भवभव में भ्रमण का कारण ऐसा जो मलीन चित्त उसको छोड़ और प्रबल संसार से भय को प्राप्त करके जिस निर्मल तथा स्वभाव में ही रहे हुये आनन्द को अनादि कर्म बध के बश से नही प्राप्त किया उसही आनन्द को भज ॥

त्रिगुप्तिगुप्तलक्षणपरमतपोधनस्य निश्चयचारित्राख्यानमेतत्:—

चत्ता ह्यगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू ।
सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥८८॥

त्यक्त्वा ह्यगुप्तिभाव त्रिगुप्तिगुप्तो भवेद्यः साधुः ।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात् ॥८८॥

यः परमतपश्चरणसरःसरसीरुहाकरचण्डरश्मिरत्यासन्नभव्यो

मुनीश्वरः बाह्यप्रपंचरूपम् अगुप्तिभावं त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षितम् अत्यपूर्व्वमात्मानं ध्यायति, यस्मात् प्रतिक्रमणमयः परमसंयमो अत एव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति ।

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंजमयीमिमाम् ।
भजतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत् ।।

आगे कहते हैं जो मुनि तपोधन मन, वचन, काय की गुप्तियो में गुप्त होता है उसी के ही निश्चय चारित्र होता है ।

सामान्यार्थः— जो साधु अगुप्ति भाव को त्याग निश्चयकरके तीन गुप्तियों में गुप्त होता है वही प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है ।

विशेषार्थः – जो कोई परम तपश्चरणरूप सरोवर के कमलों के लिये अत्यन्त तेजवान सूर्य्य के समान है ऐसा अत्यन्त निकट भव्य मुनीश्वर है सो बाह्य प्रपचरूप जो अगुप्तिभाव उसको त्यागकर त्रिगुप्ति में गुप्त अर्थात् लवलीन ऐसी विकल्प रहित परम समाधि सो ही है लक्षण जिसका ऐसे अति अपूर्व आत्मा को ध्याता है वही निश्चय प्रतिक्रमणमई परम सयमी है इसलिये उसी को ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है:— टीकाकार कहते हैं जो मुनि भव्यात्मा वचन कायके विकारों को सदा त्याग कर सम्यग्ज्ञानमई स्वाभाविक परम गुप्ति को शुद्धात्मा की भावना के साथ में भजन करता है वह मुनि त्रिगुप्तिमई होकर अपने प्रत्यक्ष स्वभावको प्राप्त होता है ।

ध्यानविकल्पस्वरूपाख्यानमेतत्:—

मोत्तूण अट्टरुद्दं झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा ।
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ।।८९।।

मुक्त्वार्तरौद्रं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुक्लं वा ।
स प्रतिक्रमणम् उच्यते जिनवरनिर्दिष्टसूत्रेषु ।।८९।।

स्वदेशत्यागातद्रव्यनाशात्मित्रजनविदेशगमनात्कमनीय कामिनी वियोगात् अनिष्टमयोगाद्वा समुपजातमार्तं ध्यानम् । चौरजातशात्रवजनबधबधननिबद्धमहद्वेषजनितरौद्रध्यानं च एतद्द्वितयम् अपरिमित स्वर्गापवर्जसुखप्रति पक्ष समार दुख- मूल- त्वनिरवशेषेणत्यक्त्वास्वर्गाहवगनि: — सीमसुखमूल स्वात्माश्रितनिश्चयपरमधर्मध्यानम्, ध्यानध्येयविविधविकल्प विरहितान्तर्मुखाकारसकलकरणग्रामातीतनिर्भे-दपरमकलास — नाथनिश्चयशुक्लध्यानं च. ध्यात्वा य: परमभावभावना- परिणत: भव्यवरपुंडरीक: निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप भवति परमजिनेन्द्रवदनारविन्दविनिर्गतद्रव्यश्रुतेषु विदितमिति, ध्यानेषु च चतुर्षु हेयमाद्य ध्यानद्वितय, त्रितय तावदुपादेय, सर्वदोपादेय च चतुर्थमिति ।

तथा चोक्तं —

"निष्क्रिय करणातीत ध्यानध्येयविवर्जित ।
अन्तर्मुख तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदु: ।।"

ध्यानावलोमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे ।

सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग—
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम् ।।
सद्बोधमडनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात् ।
नास्त्येष सर्व्वनयजातगतप्रपंचा
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता ।।

आगे ध्यान के भेदों को कहते है :—

सामान्यार्थः—जो कोई आर्त्त तथा रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म्म-ध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है उसी के ही जिनेन्द्र कथित सूत्रों में प्रतिक्रमण कहा गया है ।

विशेषार्थः—अपने देश के त्याग से, द्रव्य के नाश होने से, मित्र बन्धु जनों के विदेश जाने से, तथा सुन्दर स्त्री के वियोग से इष्ट वियोग जनित आर्त्तध्यान होता है । जो चेतन अचेतन पदार्थ अपने को इष्ट नहीं हैं उनका संयोग होते उनके वियोग की इच्छा से पैदा हुआ अनिष्ट संयोग आर्त्तध्यान होता है । शरीर में वेदना होते उसके दूर न होने तक बार बार उस पीडा को विचारकर दुख मानना सो पीड़ा चिन्तवन आर्त्तध्यान है । आगामी भव व काल में भोगों की इच्छा से बार २ उनको चिन्तवन सो निदान आर्त्तध्यान है । चोर, जार, शत्रु आदि को वध, बधन आदि चाहते हुए महाद्वेषरूप भाव के चिन्तवन से उत्पन्न हुआ हिंसानंद रौद्रध्यान है । चोरी करने कराने आदि में आनन्द का ध्यान सो चौर्यनंद रौद्रध्यान है । मृषावाद में आनद मृषानन्द रौद्रध्यान है । परिग्रह की बुद्धि में आनन्द मानना सो परिग्रहानंद रौद्रध्यान है । ये दोनों ही आर्त्त रौद्रध्यान स्वर्ग

और मोक्ष सुखके विरोधी है तथा ससार दु ख के मूल हैं। इन दोनों को सर्वथा त्यागकर जो कोई भव्य श्रेष्ठों में मुख्य परम भाव जो अपने आत्मा का शुद्ध भाव उसकी भावना में परिणमन करता हुआ धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान को ध्याता है वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है। कैसा है निश्चय धर्म ध्यान, जो स्वर्ग और मोक्ष के मर्यादा रहित सुख का मूल और अपने आत्मस्वरूप में निश्चित है। तथा कैसा है निश्चय शुक्लध्यान, जहां ध्यान और ध्येय का भेद नहीं है। जिसका ध्यान करने वाला अपने अंतरंग में अपनी परिणति करके सर्व ही इन्द्रिय ग्रामो से बाहर रह भेद रहित परम कलाका नाथ होता है ॥ यह कथन परम जिनेन्द्र श्री तीर्थकर देव के मुख कमल से प्रगट हुआ जो द्रव्यश्रुत उसमें प्रगट है। इस प्रकार ४ भेद स्वरूप ध्यानों में आदि के दो ध्यान आर्त और रौद्र हेय अर्थात् त्यागने योग्य है। प्रथम अवस्था में धर्मध्यान ग्रहण करने योग्य है। परन्तु चतुथ शुक्ल ध्यान सर्वदा ही उपादेय है–यही ध्यान मोक्ष का निकट कारण है ॥ ऐसा ही अन्य ग्रन्थ में कहा है जो ध्यान क्रियारहित, इन्द्रियबाह्य, ध्यान व ध्येय के विकल्प से रहित, अतरग लीनरूप है उसी को योगियों ने शुक्ल ध्यान कहा है ॥ टीकाकार कहते है:—शुद्ध नय ध्यान के भेद समूह को ही नही कथन करता है–शुद्ध नयसे यह आत्मा सदा शिवमई मोक्ष के आनन्द स्वरूप अपने परमात्म तत्त्व में व्यक्त अर्थात् प्रगट है। ध्यान और ध्यान के भेद हैं इस कथन का व्यवहार नय ही सदा कथन करता है। हे जिनेन्द्र आपका तत्त्व परम आश्चर्यकारी है मानों इन्द्र जाल ही है क्या ॥ भावार्थ— शुद्ध नय वस्तु के शुद्ध असल स्वरूप को ही कहनेवाला है ॥ व्यवहार नय अशुद्ध तथा भेद रूप कथन को कहनेवाला है। परम शुद्ध अवस्था में

ध्यान और ध्येय का विकल्प ही नही है। यह आत्मा स्वयं ही साध्यरूप कार्य्य को सिद्ध किये हुये शुद्ध हो जाता है, वही सिद्ध अवस्था इस आत्मा का असल स्वरूप है। उसको कहनेवाला जो शुद्ध नय सो अन्य अवस्था को नहीं कह सकता। इसकारण सिद्ध अवस्था के कारणरूप जो ध्यान वह सर्व व्यवहार और भेदरूप धर्म है इसी से व्यवहार नय ही का विषय है। इन्द्रजाल का दृष्टान्त कहने का प्रयाजन यह है कि जैसे इन्द्रजाल के खेल को समझना कठिन है ऐसे ही जिनवाणी के भेदों का जानना दुर्गम है ॥ फिर भी कहते हैं—जो यह परमात्मतत्त्व सम्यग्ज्ञान का मडन अर्थात् आभूषण है तथा चहूं ओर से समस्त विकल्पों के समूहों से मुक्त है उस तत्त्व में सव्वे नय सम्बन्धी कोई भी विकल्परूप प्रपच नही है तो फिर कहिये उस तत्व के स्वरूप में ध्यानावली कैसे उदय हो सकती है? अर्थात् ध्यानादि सर्व साधक अवस्था में है अत एव व्यवहार मार्ग है। शुद्ध निश्चय नय से ये सर्व विकल्प नही है।

आसन्नासन्नभव्यजीवे पूर्व्वापरपरिणामस्वरूपोपन्यासोऽयम्:—

मिच्छत्तपहुदिभावा पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा अभाविया होंति जीवेण ॥९०॥

मिथ्यात्वप्रभृतिभावा: पूर्व्वं जीवेन भाविता: सुचिरं।
सम्यक्त्वप्रभृतिभावा: आभाविता भवन्ति जीवेन ॥९०॥

मिथ्यात्वाव्रतकषाययोगपरिणामास्सामान्यप्रत्यया:, तेषां विकल्पास्त्रयोदश भवन्ति 'मिच्छादिट्ठिगुणट्ठाणादिसयोगिस्स चरिमत्तं, इति वचनात् मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिगुणस्था-

नचरमसमयस्थित इत्यर्थः । अत्यासन्नभव्यजीवेन निरजननिज-परमात्मतत्त्वश्रद्धानविकलेन पूर्व सुचिर भाविताः खलु सामान्य-प्रत्ययाः, तेन स्वरूपविकलेन बहिरात्मजोवेनानासादितपरम-नैष्कर्म्यचरित्रेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि न भावितानि भवन्तीति अस्य मिथ्यादृष्टेर्विपरीतगुणनिचयसपन्नोऽत्यासन्न-भव्यजीवः । अस्य सम्यग्ज्ञानभावनाकथमिति चेत्—

तथा चोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः—

"भावयामि भवावर्ते भावनाः प्रागभाविताः ।
भावयेद्भाविताननेति भवाभावाय भावनाः" ॥

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्व्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत् ।
तदपि भवभवेषु श्रूयते वाह्यते वा
न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम् ॥

आगे कहते हैं कि अत्यन्त निकट भव्य जीव के पूर्व अवस्था में कौन से परिणाम होते हैं तथा पश्चात् कोन से परिणाम होते हैं :—

सामान्यार्थः—पूर्व में जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्व आदि भावों को भाया है । तथा सम्यक्त आदि भावों को अनादि काल से कभी नहीं भाया है ।

विशेषार्थः—मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योगपरिणाम ऐसे चार सामान्यरूप से बंध के कारण भाव तथा इनके तेरह भेद (१३) गुणस्थान रूप हैं । जैसा कहा है—मिच्छादिट्ठिगुणट्ठाणादि सयोगिस्स चरिमंतं ॥ अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे चारों

को, अव्रतनाम चतुर्थ गुणस्थान में अव्रत आदि तीनों को, सासादन नाम द्वितीय गुणस्थान में भी अव्रत आदि तीनों को, मिश्रगुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व. तथा अव्रतादि तीनों को, देशविरत से ले दसवे सूक्ष्म सांपराय गुणस्थानतक कषाय और योग दोको तथा ११ वें उपशाँतमोह से १३ वें सयोगिकेवलीतक म.त्र योग ही को बंधका कारण कहा गया है ।। अत्यन्त निकट भव्य जीव ने पूर्व अवस्था में निरजन स्वरूप अपने परमात्म तत्व के श्रद्धान को न पाकर मिथ्यात्व आदि बंध के कारण भावों को अनादि काल से भाया है अर्थात् निजस्वरूप के ज्ञान से रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव ने परम नैष्कर्म्य चारित्र अर्थात् निश्चल स्वरूप में स्थितिरूप स्वरूपाचरण को न पाकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी मोक्ष के कारण भावों की भावना नही की है । मिथ्यादर्शन से विपरीत होकर सम्यग्दृष्टी अत्यन्त निकट भव्यजीव गुणसमूह से पूर्ण रह सम्यग्ज्ञान की ही भावना करता है । सो कैसे करता है इसके लिये श्री गुणभद्र स्वामी ने कहा है कि इस ससार के चक्र में मैं उन भावनाओं की भावना करता हूं जिनको मैने पहले नही भाया है । जो इन भावनाओं को भाते हैं उनके लिये ये भावनाएँ संसार को अभाव करने वाली हैं ।। टीकाकार कहते हैं:—इस संसाररूपी समुद्र में डूबे हुए जीव ने जो कोई भी निवृति अर्थात् मोक्ष का कारण भाव है उसको कभी भी नही भाया है यह बड़ कष्ट की बात है चाहे इसने भवभव में उस तत्त्व क वचन मात्र सुना व कहा है वह म.क्ष का कारण रूप भाव सर्वदा एक आत्म ज्ञान ही है ।

अत्र समग्दर्शनज्ञानचारित्राणा निरवशेषस्वीकारेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणां निरवशेषत्यागेन च परममुमुक्षोर्निश्चयप्रतिक्रमणं च भवति इत्युक्तम् :—

मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण ।

सम्मत्तणाणचरणं जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥९१॥

मिथ्यादर्शनज्ञानचरित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण ।

सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिक्रमणं ॥९१॥

भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धान मिथ्यादर्शन तत्रैव वस्तुनि वस्तुबुद्धिर्मिथ्याज्ञान, तन्मार्गाचरणं मिथ्याचारित्र च, एतत्त्रितयमपि निरवशेष त्यक्त्वा, अथवा स्वात्मश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूपविमुखत्वमेव मिथ्यादर्शनज्ञान-चारित्रात्मकरत्नत्रय एतदपि त्यक्त्वा त्रिकालनिरावरणनित्या-नदैकलक्षणनिरजननिजपरमचारित्रपारिणामिकभावात्मककार-णपरमात्मा ह्यात्मा, तत्स्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूप हि निश्चयरत्नत्रयम्, एव भगवत्परमात्मसुखाभिलाषी य: परम-पुरुषार्थपरायण: शुद्धरत्नत्रयात्मकं आत्मानं भावयति स परम-तपोधन एव निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप इत्युक्त: ।

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-

रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी ।

शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं

श्रद्धानमन्यदपर चरण प्रपेदे ॥

आगे कहते हैं कि परम मुमुक्षु जीव को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के सर्वथा स्वोकार करने और मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र के बिलकुल त्याग करने ही से निश्चय प्रतिक्रमण का लाभ होता है :—

सामान्यार्थ—जो कोई मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र को सर्वथा त्यागकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की भावना करता है वही प्रतिक्रमणरूप होता है ।

विशेषार्थ—भगवान अर्हत्परमेश्वर कथित जो धर्म का मार्ग उससे उल्टे मार्गाभास का श्रद्धान करना सो मिथ्यादर्शन है । उसी ही धर्म की वस्तुओं में अर्थात् पदार्थों में सप्त पदार्थों की बुद्धि करना सो मिथ्याज्ञान है, उस ही मार्गाभास में धर्म का आचरण करना सो मिथ्या चारित्र है । इन तीनों को बिलकुल त्याग देवै अथवा अपने आत्मतत्व का श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रय उसके विरोधी जो मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र इनको भी त्याग कर देवै । तीनों कालों में आवरण रहित नित्य आनंदमई एकरूप है लक्षण जिसका ऐसा निरंजन निज परम पारिणामिक भावमई ऐसा जो कारण परमात्मा उस स्वरूप ही मेरा आत्मा है ऐसे अपने आत्मीक तत्व का श्रद्धान ज्ञान और आचरण वही निश्चय रत्नत्रय है, जो मुनि श्री भगवान परमात्मा के सुख के चाहने वाले हैं और परम पुरुषार्थ जो मोक्ष का उद्यम उसमें लवलीन हैं और शुद्ध रत्नत्रयमई आत्मा की भावना करते हैं वे परमतपोधन मुनि ही निश्चय प्रतिक्रमणस्वरूप होते हैं ऐसा आगम में कथन है ॥ टीकाकार कहते हैं:—जो बुद्धिमान मुनि आत्मीक तत्त्व के ज्ञाता हैं वे सर्व विभावों को तथा व्यवहार रत्नत्रय के मार्ग को त्यागकर शुद्धात्मतत्त्व में स्थिर अपने एक ज्ञान स्वरूप ही का श्रद्धान ज्ञान और आचरण करते हैं ।

अत्र निश्चयोत्तमार्थ प्रतिक्रमणस्वरूपमुक्तं :—

उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं ।
तम्हादु झाणमेव हि उत्तमअट्ठस्स पडिकमणं ॥९२॥

उत्तमार्थं आत्मा तस्मिन् स्थिता घ्नन्ति मुनिवराः कर्म ।
तस्माद् ध्यानमेव हि उत्तमार्थस्य प्रतिक्रमण ॥९२॥

इह हि जिनेश्वरमार्गे मुनीना सल्लेखनासमये हि द्विचत्वारिंशद्भिराचार्यैर्दत्तोत्तमार्थप्रतिक्रमणाभिधानेन देहत्यागो धर्म्मो व्यवहारेण, निश्चयेन नवार्थेषूत्तमार्थो ह्यात्मा तस्मिन् सच्चिदानंदमयकारणसमयसारस्वरूपे तिष्ठन्ति ये तपोधनास्ते नित्यमरणभीरव. अत एव कर्मविनाश कुर्वन्ति । तस्मादध्यात्मभाषयाक्तभेदकर-- ध्यानध्येयविकल्पविरहितनिरवशेषेणान्तर्मुखाकारसकलेन्द्रियागोचरनिश्चयपरमशुक्लध्यानमेव निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणमिति स च बोद्धव्यम् । किच । निश्चयोत्तमार्थप्रतिक्रमणम स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्मशुक्लध्यानमयत्वादमृत कुम्भस्वरूप भवति । व्यवहारोत्तममार्थ प्रतिक्रमण व्यवहारधर्मध्यानमयत्वाद्विष कुंभ स्वरूप भवति ।

तथा चोक्तं समयसारे--

"पडिकमणं पडिसरण परिहरण धारणाऽणियत्ती य ।।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहा होदि विसकुंभो ।।"

तथा चोक्तं समयसारव्याख्यायाम्--

"यत्र प्रतिक्रमणमेव विष प्रणीत
तत्राप्रतिक्रमणमप्यमृत कथं स्यात् ।
तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतत्यधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निःप्रमादः ॥

तथा हि—

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपःकल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्धवा धीमान् सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ।।

आगे निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं:—

सामान्यार्थ—आत्मा ही उत्तमार्थ है । उसी में स्थित रहकर मुनि महाराज कर्म्मों को नाश करते हैं इसलिए ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ।

विशेषार्थ—जिनेश्वर का यह मार्ग है कि मुनियों को सल्लेखना अर्थात् समाधि मरण के समय ४२ वियालीस आचार्य्यों से दिया हुआ जो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण तिसरूप होकर के देह का त्याग करना सो व्यवहार करके सल्लेखना धर्म है । निश्चयकर के सल्लेखना को कहते हैं कि, नव पदार्थों में उत्तम पदार्थ निश्चयकर के आत्मा ही है इस आत्मा के सच्चिदानंदमई कारण समयसार स्वरूप में जो तपोधन तिष्ठते हैं वे निश्चय सल्लेखना के धारी हैं वे मुनि नित्य मरण से भयभीत होते हैं इसलिये जीव को जन्म मरण न प्राप्त हो ऐसा विचार कर वे मुनि कर्म्मों का नाश करते हैं । इस कारण अध्यात्मीक भाषा की अपेक्षा जो निश्चय परम शुक्लध्यान ध्यानध्येय विकल्प से रहित सर्वथा प्रकार आत्मा के सन्मुखरूप सम्पूर्ण इन्द्रियों के अगोचर है वही ध्यान उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ऐसा जानना चाहिये । प्रयोजन यह है कि निश्चय उत्तामार्थ प्रतिक्रमण अपने

आत्मा ही के आश्रय है। सो निश्चय धर्मध्यान तथा निश्चय शुक्लध्यानमई है। इसलिये अमृत का कुंभ अर्थात् अमृत रससे भरा सुन्दर कलश है। तथा व्यवहार उत्तमार्थ प्रतिक्रमण व्यवहार धर्म्मध्यानमई है इसलिये विषकुंभस्वरूप है अर्थात् जहर से भरे कलश के समान है। ऐसा ही श्री समयसारजी में कहा है। कि प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारना, निवृत्ति निंदा, गर्हा, शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुंभ है। क्योंकि इन क्रियाओं में कर्तापने की बुद्धि सभवे है इस कारण ये सर्व बंध के कारण हैं॥ तथा ऐसा ही श्री समयसार जी की व्याख्या मे कहा है---यहां उस जीव को जो निश्चय प्रतिक्रमण न कर सकने के कारण व्यवहार प्रतिक्रमण का विषमई जानकर उसे भी छोड़ देता है उसको आचार्य कहते है कि जिस आत्मा के निर्मल भाव में प्रतिक्रमण अर्थात् व्यवहार प्रतिक्रमण को ही विषरूप है ऐसाकहा है वहा प्रतिक्रमण को बिलकुल ही न करना अर्थात् व्यवहार निश्चय दोनो का न करना अमृतरूप कैसे हो सकता है। आचार्य्य आश्चर्य्य करके कहते हैं कि यह जीव नीचे २ गिरता हुआ क्यों प्रमादी हो रहा है क्यों नहीं यह प्रमाद को त्यागकर ऊपर ऊपर चढ़ता है। भावार्थ यह है कि जो व्यवहार प्रतिक्रमण मे प्रमादी था उसको उपदेश किया है कि व्यवहार प्रतिक्रमण तो करा परन्तु इसका करते करते निश्चय प्रतिक्रमण की प्राप्ति करे क्योंकि निश्चय अमृतरूप है व्यवहार विषरूप है तथापि प्रतिक्रमण न करने की अपेक्षा उपादेय है इसलिये ऊपर २ चढ़ने के लिये ऐसा उपदेश है जो व्यवहार प्रतिक्रमण कर रहा है उसको छुड़ाने के लिये नहीं॥

टीकाकार कहते हैं:-आत्मा के ध्यानके सिवाय अन्य समस्त ध्यान भयानक संसार का कारण हैं। ध्यान ध्येय आदि का विकल्प-

रूप जो तप है सो कहने मात्र ही सुन्दर है ऐसा समझकर बुद्धिमान पुरुष स्वाभाविक परमानंदरूपी अमृत से भरे समुद्र में डूबे हुए स्वाभाविक एक परमात्मा ही का अनुभव करते हैं ॥

अत्र ध्यानमेकमुपादेयमित्युक्तम् :—

झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हादु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

ध्याननिलीनः साधुः परित्याग करोति सर्वदोषाणाम् ।
तस्माद्ध्यानमेव हि सर्व्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम् ॥९३॥

कश्चित् परमजिनयोगीश्वरः साधुः अत्यासन्नभव्यजीवः अध्यात्मभाषयोक्तस्वात्माश्रितनिश्चयधर्मध्याननिलीनः निर्भेदरूपेण स्थित, अथवा सकलक्रियाकांडाडंबरव्यवहारनयात्मकभेदकरणध्यानध्येयविकल्पनिर्म्मुक्त निखिलकरणग्रामागोचरपरमतत्त्वशुद्धान्तस्तत्त्वविषयभेद कल्पनानिरपेक्षनिश्चयशुक्लध्यानस्वरूपे तिष्ठति च, स च निरवशेषेणान्तर्मुखतया प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तमोहरागद्वेषाणा परित्याग करोति. तस्मात् स्वाभाश्रितनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेव सर्व्वातिचाराणां प्रतिक्रमणमिति ।

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥

आगे कहते हैं कि सर्व पदार्थों के भीतर एक ध्यान ही उपादेय है अन्य सर्व्व त्याज्य हैं :—

सामान्यार्थ :–जो ध्यान में लवलीन साधु है वह सर्व दोषो का त्याग कर देता है। इसलिए ध्यान ही सर्व्व अतीचारों का प्रतिक्रमण करने वाला है।

विशेषार्थ :–कोई परम जितेन्द्री योगीश्वर साधु अत्यन्त निकट भव्यजीव है सो आध्यात्मीक भाषा की अपेक्षा अपने आत्माही के आश्रय में स्थिरीभूत ऐसा जो निश्चय धर्म्मध्यान उसमें ऐसा लीन है कि भेद रहितपने से ठहरा हुआ है अथवा सर्व क्रियाकांड के आडम्बर से छूटा हुआ व व्यवहार नयके आधीन ध्यान ध्येय का भेद रूप विकल्प उनसे रहित, सम्पूर्ण इन्द्रियों के अगोचर, परमतत्व जो शुद्धआत्म तत्व उसके विषय भेद कल्पना की अपेक्षा न करके लवलीन होने रूप जो निश्चय शुद्धक्लध्यान उसमें जो साधु ठहरता है वह सम्पूर्णपने अतरंग लीन होता हुआ शुभ तथा अशुभ समस्त मोह राग द्वेषों को त्याग कर देता है। इसलिए अपने आत्म स्वरूप के आश्रित जो निश्चय धर्म ध्यान और निश्चय शुक्लध्यान ये दोही ध्यान सर्व अतीचारों के लिए प्रतिक्रमण रूप है। टीकाकार कहते है– यह शुक्लध्यान रूपी दीपक जिनके चित्त रूपी घर में प्रकाशता है वही योगी है उसी को ही अपने आप शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है।

अत्र व्यवहारप्रतिक्रमणस्य फलं उक्तम् :–

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं॥९४॥

प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे यथा वर्णित प्रतिक्रमणं ।
तथा ज्ञात्वा यो भावयति तस्य तदा भवति प्रतिक्रमणम् ।।९४।।

यथा हि निर्य्यापकाचार्य्यैं समस्तागमसारासारविचार-चारूचातुर्य्यगुणकदम्बकैः प्रतिक्रमणाभिधानसूत्रे द्रव्यश्रुतरूपे व्यावर्णितमिति विस्तरेण प्रतिक्रमणं, तथा ज्ञात्वा जिननीति-मलंघयन् चारुचरित्रमूर्तोः सकलसंयम-भावना करोति, तस्य महामुनेर्बाह्यप्रपंचविमुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरि-ग्रहस्य परमगुरुचरणस्मरणासक्तस्य तदा प्रतिक्रमण भवतीति ।

निर्य्यापकाचार्यनिरुक्तियुक्ता,
मुक्ति सदाकर्ण्य च यस्य चित्तं ।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात्,
तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्मै ।
यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो-
र्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः ।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय,
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यं ।

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्र-परिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्य्यवृत्तौ निश्चयप्रतिक्रमणाधिकारः पंचमः श्रुतस्कधः ।।५।।

आगे व्यवहार प्रतिक्रमण का फल कहते हैं :-

समान्यार्थ :-प्रतिक्रमण नाम सूत्र में जैसा प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जान कर जो उसकी भावना करता है तब ही उसके प्रतिक्रमण होता है ।

विशेषार्थ :—सर्व आगम के ज्ञाता, सार और असार के विचार करने में परम चतुराई आदि गुण के धारी निर्यापक आचार्यों ने प्रतिक्रमण सूत्र नाम द्रव्यश्रुत में विस्तार पूर्वक जैसा प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जानकर जिनेन्द्र की नीति रूप आज्ञा को नहीं उल्लघन करता हुआ सुन्दर चारित्र की मूर्ति स्वरूप जो मुनि सो सकल सयम की भावना करता है उसी महामुनि के व्यवहार प्रतिक्रमण होता है। कैसा है मुनि, बाह्य प्रपच जाल से उदास है, पंचेन्द्रिय के विषयों के विस्तार से रहित शरीर मात्र परिग्रह का धारी है तथा अपने परम गुरु के चरणों के स्मरण में आसक्तचित्त अर्थात् लवलीन है। टीकाकार कहते हैं कि निर्यापकाचार्य्यों के द्वारा युक्तिरूप आगम के अनुसार वचनों को सुनकर जिस मुनि का चित्त सब चारित्र को धारण करता है उस संयमधारी मुनि को मेरा नमस्कार होहु ।। जिस मुमुक्ष मुनि के सदा व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण विद्यमान है तथा जिसके अतिशय पूर्वक रचमात्र भी प्रतिक्रमण नहीं है ऐसे सयम रूपी आभूषण के धारी श्री वीरनंदि नाम मुनि को मैं नित्य नमस्कार करता हूं।

इस प्रकार सुकविरूपी कमलों के लिए सूर्य्य के समान पंचेन्द्रिय विषय के विस्तार रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारी श्रीपद्मप्रभुमलधारी देव से रचित श्री नियमसार व्याख्या की तात्पर्य्य वृत्ति नाम टीका में निश्चय प्रतिक्रमण नाम का पचम श्रुतस्कध पूर्ण भया।

अथेदानीं सकलप्रव्रज्यासाम्राज्यवैजयन्तीपृथुलदण्डमण्डनायमानसकलकर्म्मनिर्ज्जराहेतुभूतनिःश्रेयसश्रेणीभूतमुक्तिभामिनीप्रथमदर्शनोपायनीभूत निश्चयप्रत्याख्यानाधिकारः कथ्यते । तद्यथा—

अत्र सूत्रावतारः ।

निश्चयनयप्रत्याख्यानमतेतः-

मोत्तूण सयलजप्प-मणागयसुहमसुहवारणं किच्चा ।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ॥९५॥

मुक्त्वा सकलजल्पमनागतशुभाशुभनिवारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य ॥ ९५ ॥

अत्र व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्य-काल पर्य्यन्तं प्रत्यादिष्टान्नपानखाद्यलेह्यरुचयः, एतत् व्यवहार-प्रत्याख्यानस्वरूपं निश्चयनयतः:- प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचन-रचनाप्रपंचपरिहारेण शुद्धज्ञानभावनासेवाप्रसादादभिनवशुभाशु-भद्रव्यभावकर्मणा संवरः प्रत्याख्यानम् । यः सदान्तर्मुखे परिणत्या परमकलाधारमपूर्वमात्मानं ध्यायति तस्य नित्यं प्रत्याख्यानं भवतीति ।

तथाचोक्तं समयसारे :-

"णाणं सव्वे भावे पच्चक्खादीपरेत्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वा ॥"
तथा समयसारव्याख्यायां च
"प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्मसमस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।"

तथाहि :-

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः ।
सच्चारित्राण्यकुलहरिणाण्यस्य तानि स्युरुच्चैः
तं वँदेहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम् ।।

निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार ।

आगो सकल त्याग रूपी जो मुनि दीक्षामई शोभनीक पताका उसके लिए भारी दंड के समान तथा सर्व कर्म की निर्जराका कारण, मोक्ष महल की सीढ़ी रूप मुक्ति रूपी स्त्री के मुख को प्रथम दिखलाने वाली ऐसी जो सखी उस समान इत्यादि विशेषणों सहित जो निश्चय प्रत्याख्यान उसके अधिकार को कहते हैं ।

प्रथम ही निश्चय नयसे प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं-

सामान्यार्थ :—जो सर्व वचन जाल को त्याग कर आगामी सर्व शुभ अशुभ भावों को व कर्मों को दूर करके आत्माही का ध्यान करता है उसी के ही निश्चय प्रत्याख्यान होता है ।।

विशेषार्थ :—व्यवहार नयसे मुनिगण प्रतिदिन भोजन करके अपनी शक्ति के अनुसार आगामी के लिए योग्य काल पर्यंत इष्ट अन्न, पान, खाद्यऔर लेह्य ऐसे चार प्रकार भोजन की रुचिका त्याग करते हैं । यहाँ टीकाकार ने ४प्रकार आहार के ये नाम दिये हैं अन्य ग्रन्थ में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय हैं सो विरोध नही है ।। इस त्याग को व्यवहार प्रत्याख्यान कहते हैं ।

निश्चयनय करके सर्व वचन की रचना का जो जाल उसको त्याग करके जो शुद्ध ज्ञान की भावना और सेवा है उसकी कृपा से नवीन शुभ तथा अशुभ द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और भावकर्म राग द्वेषादि इनका जो संवर करना अर्थात् रोकना सो प्रत्याख्यान है। जो कोई सदा अपने आत्मा के भीतर परिणाम को करके परम कला के धारक अपूर्व्व आत्मा का ध्यान करता है उसी के नित्य प्रत्याख्यान होता है ॥ ऐसा ही श्री समयसार जी में कहा है कि आप सिवाय जो सर्व ही पदार्थ है वे पर (अन्य) है ऐसा जान कर जो प्रत्याख्यान करें अर्थात् त्यागते हैं, इस कारण से ऐसा जो प्रत्याख्यान रूप ज्ञान सो ही नियम से प्रत्याख्यान है। तथा श्रीसमयसार जी की व्याख्या में कहा है कि आगामी समस्त कर्म्मों को त्याग कर तथा मोह को निवारण करके मैं नित्य ही चैतन्य स्वरूप और निष्कर्म्म ऐसे आत्म स्वरूप के भीतर अपने आत्मस्वरूप के द्वारा वर्त्तन करता हूं। टीकाकार कहते हैं—सम्यग्ज्ञान की मूर्ति स्वरूप ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव सम्पूर्ण द्रव्य कम, भाव कर्म नोकर्म सम्बन्धी परिणामो को त्याग देता है इसलिए उसी के नित्य प्रत्याख्यान होता है तथा उसी के ही अतिशयकरके कर्म्मों को हरने वाला सम्यक् चारित्र होता है। इसलिये मैं अपने भव भवके क्लेशों को नाश करने के लिए नित्य उस भव्यात्मा को वंदना करता हूं।

अनन्तचतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपदेशोपन्यासोमम् :—

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो सोहं इदि चिंतए णाणी ॥९६॥

केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुखमयः ।
केवलशक्तिस्वभावः सोहमिति चिंतयेत् ज्ञानी ।। ६६ ।।

समस्तबाह्यप्रपंचवासनाविनिर्मुक्तस्य निरवशेषेणान्त-र्मुखस्य परमतत्त्वज्ञानिनो जीवस्य शिक्षा प्रोक्ता । कथंकारं अनाद्यनिधनामूर्त्तातीन्द्रिय-स्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण, शुद्ध-स्पर्शरसगधवर्णानामाधारभूतशुद्धपुद्गलपरमाणुकेवलज्ञानकेव-लदर्शनकेवल सुखकेवलशक्तियुक्तपरमात्मा यः सोहमिति भावना कर्तव्या ज्ञानेनेति, निश्चयेन सहजज्ञानस्वरूपोहम्, सहजदर्शन स्वरूपोहम्, सहजचारित्रस्वरूपोहम्, सहजचिच्छक्तिस्वरूपोहम् इति भावना कर्तव्या चेति—

तथाचोक्तमेकत्वसप्ततौ—

"केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभाव तत्परं महः ।
तत्र ज्ञाते न कि ज्ञाते दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतं" ।।

तथाहि—

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्ति
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः ।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ।

आगे अनत चतुष्टमई अपने ही आत्मा के ध्यान करने का उपदेश सक्षेप में कहे है :—

सामान्यार्थ–जो कोई केवल ज्ञान स्वभाव है, केवल दर्शन

स्वभाव है, परम सुखमई है तथा केवल शक्ति स्वभाव है वही मैं हूं ऐसा ज्ञानी को विचार करना चाहिये ।।

विशेषार्थ—यहां आचार्य उस परम तत्वज्ञानी जीव का शिक्षा प्रदान करते हैं जो समस्त बाह्य प्रपंच की वासना से रहित सर्वथा प्रकार अपने अंतरंग में लवलीन है । आदि अन्त रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभाव रूप ऐसे शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय करके शुद्ध स्पर्श रस गन्ध वर्णों का धारी शुद्धपुद्गल परमाणु के समान केवल ज्ञान केवल दर्शन केवल सुख और केवल शक्ति सहित जो परमात्मा है सो ही मैं हूं ऐसी भावना अपने सम्यग्ज्ञान के द्वारा करनी योग्य है ।। अर्थात् निश्चय से मैं सहज ज्ञान स्वरूप हूं, मैं सहज दर्शन स्वरूप हूं, मैं सहज चारित्र स्वरूप हूं, मै सहज चैतन्य शक्ति स्वरूप हूं इस प्रकार भावना करनी चाहिये ।। ऐसा ही श्री एकत्वसप्तति में कहा है कि वह परम ज्योति केवल ज्ञान दर्शन सुखस्वभाव मई है । उस ज्योति के देखते हुये ज्ञान मे क्या नहीं जाना गया, दृष्टि से क्या नहीं देखा गया, श्रुति से क्या नही सुना गया । अर्थात् वह ज्योति आत्मा की स्वयं ज्ञानादि स्वरूप है । उसके जानते हुये सर्व जान लिया जाता है । टीकाकार कहते हैं वह परमात्मा जयवन्त होहु जिसकी मूर्ति केवल ज्ञानरूप हे जा संम्पूर्ण रूप से निर्मल दर्शन को धारने वाला है जो अविनाशो आनदरूप है तथा जो स्वाभाविक परम चैतन्य शक्तिस्वरूप है, अविनाशी है और मुनीश्वरों के चित्तरूपी कमल सरोवर के लिए राजहस है ।

अत्र परमभावनाभिमुखयस्य ज्ञानिन शिक्षणमुक्तं :—

णियभावं णवि मुच्चई परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ।।९७।।

निजभावं नापि मुंचति परभावं नैव गृह्णाति किमपि ।
जानाति पश्यति सर्वं सोहमिति चिंतयेद् ज्ञानी ।।९७।।

यस्तु कारणपरमात्मा सकलदुरितवीरवैरिसेनाविजयवैजयन्तीलुटाक त्रिकालनिरावरणनिरंजनजिनपरमभावं क्वचिदपि नापि मुंचति, पंचविधसंसारप्रवृद्धिकारणं विभावपुद्गलद्रव्यसंयोगजातं रागादिपरभावं नैव गृह्णाति, निश्चयेन निजनिरावरणपरमबोधेन निरंजनसहजज्ञानसहजदृष्टिसहजशीलादिस्वभाव-धर्म्माणामाधाराधेयविकल्पनिर्मुक्तमपि सदामुक्तं सहजमुक्ति-भामिनीसंभवपरतानिलयं कारणपरमात्मानं जानाति, तथाविधसहजावलोकेन पश्यति च, स च कारणसमयसारोहमिति भावना सदा कर्तव्या सम्यग्ज्ञानिभिरिति । तथा चोक्तं श्रीपूज्यपादस्वामिभिः—

"यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतंनापि मुंचति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ।।"

तथाहि—

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा
जानाति पश्यति च पंचमभावमेकं ।
तत्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारं ।।

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिंतामणा—
वन्यद्द्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहं ।
तच्चित्र न विशुद्धिपूर्णसहजज्ञानात्मनो शर्म्मणे
देवानाममृताशनोद्भवरूचि ज्ञात्वा किमन्याशने ।।
निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं निजात्मोद्भव
नान्यद् द्रव्यविभावनोद्भवमिद शर्म्मामृतं निर्मलं ।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुनाव
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।।
को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेव स्यात्
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चना समुद्भूतम्

आगे परमभावना के सन्मुख जो ज्ञानी उसको फिर शिक्षा कहते हैं —

सामान्यार्थ—जो अपने भाव को कभी नहीं छोड़ता है, तथा किसी भी परभाव को कभी ग्रहण नहीं करता है परन्तु सर्व को जानता है और देखता है सो ही में हूं ऐसा ज्ञानी चितवन करें।

विशेषार्थ—जो कोई कारणपरमात्मा सम्पूर्ण पापरूपी बैरियों की सेना की धुजा को लूटने वाला है तथा तीन काल में आवरणरहित, निरंजन, अपने आत्मा के परमभाव को कहीं भी कभी नहीं छोड़ता है तथा पच परावर्तनरूप ससार को बढ़ाने वाले विभावमई पुदगल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न जो राग द्वेषादि भाव उनको कभी भी ग्रहण नहीं करता है तथा जो निश्चय करके कारण परमात्मा को जानता है। कैसा है

कारण परमात्मा, जो अपने निरावरण निर्मल परम ज्ञान के द्वारा सहज ज्ञान सहजदर्शन सहजचारित्र आदि स्वाभाविक धर्मों का आधार आधेय भावरूपी जो विकल्प उससे रहित होने पर भी सदा मुक्तरूप है तथा जो परमात्मा स्वाभाविक मोक्ष वधू के संयोग से उत्पन्न जो प्रेम उसमें लीन है। इसी प्रकार निश्चय करके उस कारण परमात्मा को जो कोई अपनी स्वाभाविक दृष्टि से देखता है वही कारण समयसाररूप मैं हूं मुझ में और कारण परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है इस प्रकार सम्यग्ज्ञानियों को नित्य भावना करनी चाहिये। ऐसा ही श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है कि जो कोई नहीं ग्रहणे योग्य वस्तु को ग्रहण नही करता है, तथा जो ग्रहण किये हुये है उस को कभी नही छोड़ता है। परन्तु सर्व पदार्थों को सर्व प्रकार से जानता है वही स्वयंवेद्यरूप मै हूं अर्थात् अपने ही द्वारा अपना अनुभव करने को मै समर्थ हूं। टीकाकार कहते है— आत्मा अपने आत्मा में अपने आत्मीक गुणों से भरपूर आत्मा को जानता और देखता है वही एक उसका पारिणामिक पञ्चम भाव है। इस आत्मा ने अपने सहज स्वभाव को कभी नही छोड़ा और न यह आत्मा अन्य किसी परभाव को ग्रहण करता है और न किसी पुग्दलसम्बन्धी विकार भाव को धारण करता है॥ तथा चैतन्य मात्र चिन्तामणि जो मेरा स्वरुप उसी में मेरा अन्तःकरण रात्रि-दिन लीन है। मेरे मनने परद्रव्य को ग्रहण करने से जो विग्रह (विकार) पैदा होता है उसको त्याग दिया है। मुझे विशुद्ध पूर्ण स्वाभाविक ज्ञान स्वरुप सुख की ही प्राप्ति का प्रयोजन है। मुझे अन्य पदार्थ भोगने की आवश्यकता नही है। चार प्रकार के देवों की तृप्ति जब उनके कण्ठ में झरने वाले अमृत से ही हो जाती है तब अन्य ग्रासरूप

आहार करने की कोई जरुरत नहीं है। इसका कोई आश्चर्य नहीं मानना चहिये तथा जो कोई पुण्यात्मा जीव इस पुण्यमई कर्म तथा भाव को भी त्याग कर निर्द्वन्द्व, उपद्रव रहित, उपमारहित, नित्य, अपने आत्मा से ही उत्पन्न तथा जिसकी उत्पत्ति में अन्य किसी द्रव्य व विभाव की गम्य नहीं है ऐसा जो आनन्द अमृतमई निर्मल जल उसको पीता है वही प्रगटपने उसी समय अद्वितीय, अतुल चैतन्यमात्र चिन्तामणि रत्न को प्राप्त करता है ॥ कौन ऐसा विद्वान है जो कहेगा कि पर द्रव्य मेरा ही है ? कैसा है विद्वान, जो अपने आत्मा की महिमा को जानता है कैसी है महिमा, जो श्री गुरु के चरणों की भक्ति और सेवा से प्रगट हुई है ॥ अर्थात् ज्ञाता कभी परको अपना नही कह सकता।

अत्र बन्धनिर्म्मुक्तमात्मानं भावयेदिति भव्यस्य शिक्षणमुक्तम् :—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहि वज्जिदो अप्पा ।
सोहं इदि चिंतिज्जो तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥९८॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैर्विवर्ज्जित आत्मा ।
सोहमिति चिंतयन् तत्रैव; च करोति स्थिरभावम् ॥९८॥

शुभाशुभमनोवाक्कायकर्म्मभिः प्रकृतिप्रदेशबंधौ स्यातां, चतुर्भिः कषायैः स्थित्यनुभावन्धौ स्तः, एभिश्चतुर्भिर्बन्धैर्निर्म्मुक्तः सदानिरुपाधिस्वरूपो ह्यात्मा सोहमिति सम्यग्ज्ञानिना निरन्तरं भावना कर्तव्येति।

प्रक्षावद्भिः सहजपरमानंदचिद्रूपमेकं
अग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूल ।
तस्मादुच्चै. स्वयमपि च सखे मद्वचस्सारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मति चिच्चमत्कारमात्रे ॥

आगे भव्य जीव को शिक्षा करते हैं कि बंध रहित आत्मा की ही भावना करनी चाहिये :—

सामान्यार्थ:—यह आत्मा निश्चय से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बध ऐसे चार प्रकार बंधों से रहित है जो ऐसा है वही मै हू इस तरह चिन्तवन करता हुआ उसी मे ही अपने स्थिर भाव को करता है।

विशेषार्थ:—शुभ तथा अशुभ मन, वचन और काय की क्रियाओं से प्रकृति और प्रदेश बध होते हैं। चारों क्रोधादि-कषयों से स्थिति और अनुभाग बध होते हैं। इन चारों ही प्रकार के बधो से रहित सदा उपाधि रहित स्वरूप ही निश्चय करके यह आत्मा है सो ही मैं हूं सम्यग्ज्ञानी को निरतर ऐसी हा भावना करनी चाहिये ॥ टीकाकार कहते हैं कि मोक्ष के इच्छुक पुरुष सहज परमानदरूप चैतन्मई उपमारहित मुक्ति राज्य के मूलभूत ऐसे एक अपने स्वभाव को ही ग्रहण करते हैं, इसलिए हे मित्र मेरे वचनों का सार सुनकर तू अतिशय करके स्वय इस अपने चैतन्य के चमत्कार मात्र स्वभाव में शीघ्र अपनी बुद्धिकर।

अत्र सकलविभावसन्यासविधिः प्रोक्तः।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे ॥९९॥

ममत्वं परिवज्जर्यामि निर्म्ममत्वेप्युपस्थितः ।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषं च विसृजामि ॥९९॥

कमनीयकामिनीकांचनप्रभृतिसमस्तपरद्रव्यगुणपर्य्यायेषु ममकारं संत्यजामि । परमोपेक्षालक्षणलक्षिते निर्म्ममकारात्मनि आत्मनि स्थित्वा ह्यात्मानमवलम्ब्य च संसृतिपुरंध्रिकासभोग-संभवसुखदुःखाद्यनेकविभावपरिणतिं परिहरामि तथाचोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

"निषिद्धे सर्वोस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणम् ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं चरितमिदमेषां हि शरणम्
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्त्वनिरताः ।"

तथाहि—

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियोत्थो
भववनधिसमुत्थं मोहयादःसमूहं ।
कनकयुवतिवांच्छामप्यहं सर्वशक्त्या
प्रबलतरविशुद्धं ध्यानमय्या त्यजामि ॥

आगे समस्त विभाव भावों को त्याग करने की विधि कहते हैं :—

सामान्यार्थः—मैं ममता भाव को त्यागता हूं तथा आत्मा के निर्ममत्व भाव में ही ठहरता हूं। निश्चय करके मुझको आत्मा का ही आलम्बन है। शेष सर्व को मैं त्यागता हूं ॥

विशेषार्थ:—सुन्दर स्त्री सुवर्ण आदि समस्त पर द्रव्यों के गुण और पर्यायों में से मैं अपने ममता भाव को हटाता हूं, परमोपेक्षा लक्षण से चिन्हित जो मेरे आत्मा का ममत्त्व रहित परिणाम उसी में ही ठहरकर तथा अपने आत्मा का ही आलम्बन लेकर सांसारिक सभोगों से उत्पन्न जो सुखदुख आदि अनेक विभाव परिणाम उनको त्यागता हूं। ऐसा ही श्रीअमृत चन्द्र सूरी ने कहा है—कि सर्व पापपुण्य कार्य्यों को हटाकर निश्चय से निष्कर्म्मरूप आत्मा में आचरण करते हुए मुनिगण अशरणरूप नही हो जाते हैं अर्थात् सहाय रहित नहीं होते उस समय अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में अपने आत्मज्ञान का आचरना यही उनको शरणरूप है। वे मुनि स्वय ही अपने आत्मीक तत्त्व में लीन रहकर परम अमृत का अनुभव करते हैं। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—मैं नियम से सम्पूर्ण मन वचन काय और इन्द्रियों की इच्छा को, तथा समुद्र से उत्पन्न मोहरूप जलजतुओं के समूहों को तथा सुवर्ण और स्त्री की वांछा को इत्यादि सव को अपनी अत्यन्त तीव्र विशुद्ध घ्यानमई सर्व्व शक्ति से त्याग देता हूं ॥ भावार्थ—आत्मध्यान में लीन होते ही सर्व विभावभावों का प्रलय हो जाता है ॥

अत्र सर्वत्रात्मनोपादेय इत्युक्तः।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥१००॥

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे सवरे योगे ॥१००॥

अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजसौख्यात्मा ह्यात्मा, स खलु सहजशुद्धज्ञानचेतनापरिणतस्य मम सम्यग्ज्ञाने च, स च प्रांचितपरमपचमगतिप्राप्तिहेतुभूतपंचमभावनापरिणतस्य मम सहजसम्यग्दर्शनविषये च, साक्षान्निर्वाणप्रात्युपायस्वरूपाविचल-स्थितिरूपसहजपरमचारित्रपरिणतेर्मम सहजचारित्रेपि स पर-मात्मा सदा सनिहितश्च, स चात्मा सदासन्नस्थः शुभाशुभ-पुण्यपापसुखदुःखानां षण्णां सकलसंन्यासात्मकनिश्चयप्रत्याख्याने च मम भेदविज्ञानिनः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पंचेन्द्रियप्रसरवर्जित-गात्रमात्रपरिग्रहस्य मम सहजवैराग्यप्रासदशिखरशिखामणेः स्वरूपगुप्तस्य पापाटवीपावकस्य शुभाशुभसवरयोश्च अशुभो-पयोगपराङ्मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीनपरस्य साक्षाच्छुद्धोप-योगाभिमुखस्य मम परमागमकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभस्य शुद्धो-पयोगेपि च स परमात्मा सनातनस्वभावत्वात्तिष्ठति—

तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ—

"तदेकं परमं ज्ञान तदेक शुचि दर्शनम् ।
चारित्र च तदेक स्यात् तदेकं निर्म्मल तपः ।।
नमस्यं च तदेवैक तदेवैक च मंगलम् ।
उत्तमं च तदेवैक तदेव शरणं सताम् ।।
आचरश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया ।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकं तत्र स्थितस्य योगिनः ।।"

तथाहि—

मम सहजसुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्र
सुकृतदुरितकर्मद्वन्दसन्यासकाले ।

भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोप्यन्योस्ति मुक्त्यै पदार्थः ।।
क्वचिल्लसति निर्म्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत् ।
तदेव निजबोधदीप.. निहताघभू छायकं सतां
हृदयपद्मसद्मनि च संस्थित निर्म्मलम् ।।

आगे कहते हैं कि सब स्थानों में एक आत्मा ही उपादेय है:—

सामान्यार्थ—निश्चय करके मेरे ज्ञान में आत्मा है। मेरे दर्शन में आत्मा है, मेरे चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग में आत्मा है तथा मेरे संवर और उपयोग में आत्मा है।

विशेषार्थ—यह आत्मा निश्चय करके आदि अंत रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावरूप शुद्ध स्वाभाविक सुखमई है। यही आत्मा स्वभाव से शुद्ध ऐसी जो शुद्ध ज्ञान चेतना उसमें परिणमन करने वाला जो मै सो मेरे सम्यग्यज्ञान में शोभायमान है। यही आत्मा परम पूजनीक पंचम गति जो मोक्ष उसके लाभ करने का जो साधनरूप पाचमां परिणामिक भाव उसकी भावना में रमण करनेवाला जो मैं सो मेरे स्वाभाविक सम्यग्दर्शन में भी प्रकाशमान है। साक्षात् निर्वाण प्राप्ति करने का उपाय जो निज आत्मस्वरूप में अविचल होकर स्थिति होना है उस रूप जो स्वाभाविक परम चारित्र है उसमें परिणमन करने वाला जो मैं सो मेरे सहज चारित्र में भी वही आत्मा है। वह परमात्मा जो सदा निकट ही है जो सदा अपने पास ही विराजमान है वही आत्मा निश्चय प्रत्याख्यान में भी है। कैसा है निश्चय प्रत्याख्यान, जहाँ शुभ अशुभ, पुण्य पाप, सुख

दुःख इन छहों का सम्पूर्णपने त्याग है ।। मैं भेद विज्ञान में लीन हूं, परद्रव्यों से पराङ्मुख हूं, पंचेन्द्रियों का जो फैलाव उससे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी हूं, मैं स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि हूं, स्वरूप में गुप्त हूं, पापरूपी वनी के जलाने के लिए अग्नि समान हूं, मेरे शुभ तथा अशुभ के संवर की अवस्था में वही आत्मा है, मै अशुभोपयोग से पराङ्मुख हूं, मैं शुभोपयोग से भी उदासीनतारूप हूं साक्षात् शुद्धोपयोग के सन्मुख हूं । परमागम की मकरद (सुगंध) उसमें लीन ऐसा मैं जो पद्मप्रभ सो मेरे शुद्धोपयोग में भी वही परमात्मा अपने सनातन सदा के प्राचीन स्वभावरूप से विराजमान है । ऐसा ही एकत्त्व सप्तति में कहा है--वह आत्मा ही एक परम ज्ञान है वही एक पवित्र सम्यक् दर्शन है वही एक सम्यक् चारित्ररूप होता है वही एक निर्मल तप है ।। वही एक नमस्कार करने योग्य है । वही एक मंगल (सुख दाता) है, वही एक सर्व में उत्तम पदार्थ है, सन्त साधु जनों के लिये वह आत्मा ही एक शरणरूप है वह आत्मा ही एक आचाररूप है, वही आवश्यक क्रियारूप है, स्वाध्यायरूप भी वही एक आत्मा है ऐसे ही आत्मस्वरूप में योगोजन स्थिति करते हैं । ऐसा ही टीकाकार कहते हैं । मेरे स्वाभाविक सम्यग्दर्शन में, मेरे शुद्ध सम्यग्ज्ञान और चारित्र में तथा मेरे शुभ अशुभ कर्मों के त्याग के अवसर में वही परमात्मा है । वही शुद्ध आत्मा मेरी संवर अवस्था तथा मेरे शुद्ध उपयोग में है । इस जगत में मोक्ष प्राप्ति के लिये अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं है ।। यही आत्मा कहीं तो निर्मलरूप से शोभता है । कहीं शुद्धाशुद्ध मिश्र भाव रूप दीखता है, कही बिलकुल अशुद्ध ही लसता है, अज्ञानी के लिए यही आत्मा परम गहन है कठिनता से प्राप्ति योग है ।

वही आत्मा निज आत्मीक ज्ञानरूपी दीपक से पापों को नाश करने वाला है, वही क्षायकरूप है। वही आत्मा हृदयरूपी कमल के महल में निश्चलरूप से विराजमान है।

इह हि संसारावस्थायां मुक्तौ च निःसहायो जीव इत्युक्तः।

एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरयो ॥१०१॥

एकश्च म्रियते जीवः एकश्च जीवति स्वयम्।
एकस्य जायते मरण एकः सिध्यति नीरजाः ॥१०१॥

नित्यमरणे तद्भवमरणे च सहायमन्तरेण व्यवहारतश्चैक एव म्रियते सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यंजननरनारकादिपर्य्यायोत्पत्तौ चासन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयादेशेन स्वयमेवोज्जीवत्येव, सर्वैर्बन्धुभिः परिरक्षमाणस्यापि महाबलपराक्रमस्यैकस्य जीवस्याप्रार्थितमपि स्वयमेव जायते मरणम्। एक एव परमगुरुप्रसादासादितस्वात्माश्रयनिश्चयशुक्लध्यानबलेन स्वात्मानं ध्यात्वा नीरजाः सन् सद्यो निर्व्वाति।

तथा चोक्तम्—

'स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वय तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससारे स्वय तस्माद् विमुच्यते" ॥

उक्तं च सोमदेवपंडितदेवैः—

"एकस्त्वमाविशसि जन्मनि सक्षये च
भोक्तु स्वय स्वकृतकर्मफलानुबन्धं।

अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः
स्वाजीवनाय मिलितं नटपेटकं ते" ॥

तथाहि—

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्मद्वन्द्वोद्भवफलमय चारुसौख्यं च दुःखं ।
भूयो भुक्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा—
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन् ॥

आगे कहते हैं कि संसार अवस्था मे अथवा मुक्त अवस्था में यह जीव सहाय रहित है :—

सामान्यार्थ—यह जीव अकेला ही मारा जाता है—स्वयं अकेला ही जन्मता है, एकला ही मरता है तथा एकला ही कर्मों से छूटकर सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—'नित्य मरणावस्था में अर्थात् नित्य आयुर्कर्म के क्षयरूप मरण में तथा उस पर्याय के छूटने रूप मरण में किसी अन्य की सहाय बिना व्यवहार करके एकला ही जीव मारा जाता है अर्थात् व्यवहार श्वसोच्छ्वासादि प्राणों से रहित होता है—आदि और अंत सहित, मूर्तीक तथा आत्मा की जाति से विलक्षण ऐसी जो विभाव व्यंजन पर्याय रूप मनुष्य देह की व नरकादि देह की प्राप्ति में अति निकट अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय करके स्वयं यह जीव अकेला ही जन्मता है। सर्व बंधुओं से रक्षा किये जाने पर भी तथा महापराक्रम धारी होने पर भी बिना इच्छा व याचना के स्वयं ही अकेले एक जीव का मरण हो जाता है। तथा परमगुरु के प्रसाद से जिसको अपने ही आत्मा के आश्रय में रहने वाला निश्चय शुक्ल ध्यान प्राप्त हो जाता है वह जीव उसके बल से अपने आत्म स्वरूप को ध्याय

कर कर्म रूपी रज से छूटकर शीघ्र ही स्वयं अकेला निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। ऐसा ही अन्य ग्रंथ में कहा है कि यह आत्मा स्वय कर्मो को करता है, स्वयं ही उन कर्मों के फल को भोगता है। स्वयं ही ससार मे घूमता है तथा स्वयं ही संसार से मुक्त होता है। श्री सोमदेव पडितदेव ने कहा है—यह जीव अकेला ही जन्म और मरण में प्रवेश करता है तथा अकेला ही अपने किये कर्मों के फल का भोगता है दूसरा कोई भी सुख दुख की विधी में सहाय नहीं करता। अपनी आजीवका के लिये ही नट को अपनी पेटी मिली है। भावार्थ—नट स्वयं खेल करता है और स्वयं उसके फल को भोगता है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—यह जीव अकेला ही प्रबल कर्म के उदय से जन्म और मरण को प्राप्त होता है तथा अकेला ही तीव्र मोह के उदय से, सदा आत्मीक सुख से विमुख होता हुआ शुभ अशुभ कर्म के फलरूप सुन्दर सुख तथा दुख को बारम्बार भोगता है। तथापि किसी भी उपाय से किसी गुरु के निमित्त से अपने एक आत्मीक तत्व को पायकर यह जीव स्वयं उसी में ही ठहरता है।

एकत्वभावनापरिणतस्य सम्यग्ज्ञानिनो लक्षणकथनमिदं :—

एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

एको मे शास्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षण:।
शेषा मे बाह्या भावा: सर्वे संयोगलक्षणा: ॥१०२॥

अखिलसंसृतिनन्दनतरुमूलालवालांभ:पूरपरिपूर्णप्रणालिकावत् संस्थितकलेवरसंभवहेतुभूतद्रव्यभावकर्माभावादेक:, स एव निखिलक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पकोलाहलनिर्मुक्तसहजशुद्ध-ज्ञानचेतनामतीन्द्रियं भुंजान: सन् शाश्वतो भूत्वा ममोपादेयरूप-

स्तिष्ठति । यस्त्रिकालनिरुपाधिस्वभावत्वात् निरावरणज्ञान-दर्शनलक्षणलक्षित: कारणपरमात्मा, ये शुभाशुभकर्मसंयोगसंभवा: शेषा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहा: स्वस्वरूपा, बाह्यास्ते सर्वे, इति मम निश्चय: ।

अथ मम परमात्मा शास्वत: काश्चेदक:
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्ध: ।
निरवधिनिजदिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्ध:
किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्यभावै: ॥

आगे एकत्वभावना में लीन सम्यग्ज्ञानी का लक्षण कहते हैं :—

सामान्यअर्थ—निश्चय करके मेरा आत्मा एक अविनाशी है, ज्ञान दर्शन लक्षण का धारी है। मेरे आत्मीक भाव के सिवाय अन्य सर्व्व भाव मुझ से बाहर हैं तथा सर्व्व ही भाव संयोग लक्षण है अर्थात् पर द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुए हैं।

विषेषार्थ—यह आत्मा द्रव्य कर्म और भाव कर्मों के अभाव से एक अकेला है। कैसे हैं ये कर्म, जो समस्त संसाररूपी नन्दन वन के वृक्षों की क्यारी में जल भरने के लिये प्रणालि का (मोरी) उसके समान हैं तथा इस संसारिक कलेवर जो नोकर्म्म उसके कारण भूत हैं। अर्थात् इन्हीं कर्म्मों के निमित्त से नये कर्म्मों का आस्रव और बंध होता है। यही आत्मा सर्व क्रिया-कांड का आडंबर और उसके लिये नाना प्रकार के कोलाहल उनसे दूरवर्ती ऐसी जो ज्ञान चेतना उप मई अतीन्द्रिय सुख उसके भोगने वाला है तथा अविनाशी है। यही मेरे लिए उपादेय है यही तीनों कालों में उपाधि रहित स्वभाव को धारने वाला है और आवरण रहित निर्मल ज्ञान और दर्शन लक्षण से पहचानने योग्य कारण परमात्मा है। तथा शुभ तथा अशुभ

कर्मों के संयोग से उत्पन्न भए मेरे आत्मा के निज स्वरूप से भिन्न समस्त बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह हैं ऐसा मेरा निश्चय है। भावार्थ—मैं शुद्ध आत्मा ही हूं। मुझसे भिन्न सर्व पद है।

टीकाकार—कहते हैं कि मेरा परम स्वभाव अविनाशी है यही एक स्वाभाविक परम चैतन्य चिन्तामणिरूप है नित्य शुद्ध है मर्यादाविना अपने दिव्य ज्ञान दर्शन करके पूर्ण है अन्य बहुत विकल्पों से तथा बाह्य पदार्थों से मुझको किस फलकी प्राप्ति होगी ? अर्थात् अन्य भावों से मुझे कोई उपादेय फल नही प्राप्त होगा।

आत्मगतदोषनिर्मुक्तयुपायकथनमिदम्:—

जंकिंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥१०३॥

यत्किंचिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विसृजामि।
सामयिक तु त्रिविध करोमि सर्व्वं निराकारम् ॥१०३॥

भेदविज्ञानिनोपि मम परमतपोधनस्य पूर्वसंचितकर्मोदय-बलाच्चारित्रमोहोदये सति यत्किंचिदपि दुश्चरित्रं भवति चेत् सर्वं मनोवाक्कायशुद्धया सत्यजामि, सामायिकशब्देन तावच्चा-रित्रमुक्तं सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धयभिधानभेदा-त्रिधा। अथवा जघन्यरत्नत्रयमुत्कृष्टं करोमि नवपदार्थपरद्रव्य-श्रद्धानपरिज्ञानाचरणस्वरूपं रत्नत्रयं साकारं तत् स्वस्वरूपश्रद्धा-नपरिज्ञानानुष्ठानरूपस्वभावरत्नत्रयस्वीकारेण निराकारं शुद्धं करोमि इत्यर्थः। किंच। भेदोपचारचारित्रं अभेदोपचार करोमि अभेदोपचारम् अभेदानुपचार करोमि इति त्रिविधं सामायिक-

मुत्तरोत्तरस्वीकारेण सहजपरमतत्त्वविमलस्थितिरूपसहजनिश्चयचारित्रं, निराकारतत्त्व निरतत्त्वान्निराकारचारित्रमिति।

तथाचोक्तं प्रवचनसारव्याख्यायाम्—

"द्रव्यानुसारि चरण चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं, ननु सव्यपेक्षं ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।।"

तथाहि—

चित्तत्त्वभावनाशक्तमतयो यनया यमम् ।
ये ते ते पातनाशीलयमनाशन कारणम् ।।

आगे आत्मा में से दोषों को छुटाने का उपाय कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो कुछ मेरा दुष्टरूप चारित्र है उस सर्व को मैं मनवचन काय से त्यागता हूं। तथा तीन प्रकार से सर्व तरह से निराकार जो सामयिक सो करता हूं।

विशेषार्थ—यद्यपि मैं भेद विज्ञानी हूं परम तपाधन (तपस्वी) हूं तथापि पूर्व संचित कर्मो के उदय के बल से चारित्र मोह के उदय होते जो कुछ भी दोषरूप आचरण मुझसे बन गया होय उस सर्व्व को मन वचन काय की शुद्धि करके त्यागता हूं। सामयिक शब्द से चारित्र ग्रहण करना। सो मैं सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि ऐसे तीन प्रकार चारित्र को करता हूं अथवा जघन्यरूप से वर्तता जो रत्नत्रय उसको उत्कृष्टरूप करता हूं। नवपदार्थ छः द्रव्य के श्रद्धान ज्ञान और आचरण स्वरूप जो रत्नत्रय सो साकार है विकल्प सहित है। उस सविकल्प रत्नत्रय को मैं आत्मस्वरूप के श्रद्धान ज्ञान और

आचरण स्वरूप जो स्वभाव रत्नत्रय उसमई जो निराकार अर्थात् निर्विकल्प ओर शुद्ध अवस्था उसरूप करता हूं। अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करता हूं अथवा भेदोपचाररूप चारित्र को अभेदापचाररूप करता हूं। और अभेद उपचाररूप चारित्र को अभेद अनुपचाररूप करता हूं। भावार्थ—भेदोपचाररूप चारित्र व्यवहार महाव्रतादि पालन है, अभेदोपचाररूप चारित्र शुद्धात्मा की भावना स्वरूप है, और अभेद अनुपचाररूप चारित्र स्वभाव में निश्चल अवस्थारूप स्थितिमई है। इस प्रकार क्रम से तीन प्रकार सामायिक को स्वीकार करने से निराकार चारित्र प्राप्त होता है। कैसा है निराकार चारित्र, जहाँ स्वाभाविक परमतत्त्व में अविचल स्थिति है तथा वहीं स्वाभाविक निश्चय चारित्र है क्योंकि वहीं निराकार तत्त्व जो आत्मीक तत्त्व उसी में तल्लीनपना है। ऐसा ही श्री प्रवचनसार जी की व्याख्या में कहा है कि द्रव्य को अनुसरन करने वाला चारित्र होता है। अर्थात् आत्म द्रव्य को सिद्ध करने वाला चारित्र होता है तथा चारित्र के अनुसार प्राप्त होने वाला आत्मद्रव्य होता है। अपेक्षा से दोनों का ही यहाँ उदय है। जहां आत्मद्रव्य है वहीं चारित्र है इसलिये चाहे द्रव्य की प्रतीति करके चाहे आचरण की प्रतीति करके मोक्षका चाहने वाला मोक्ष मार्ग में आरोहन करता है अर्थात् मोक्ष के उपाय में उन्नति करता है।। टीकाकार कहते है—जो मुनि यती आत्मा के चतन्यपने की भावना में आसक्त हैं वे यती संसार में गिराने के स्वभाव को धारनेवाला जो यम (काल) उसको नाश करने के कारण होते हैं अर्थात् भव में भ्रमण का कारण जो कर्म उसको दग्ध कर देते हैं।

इहान्तर्मुखस्य परमतपोधनस्य भावशुद्धिरुक्ता—

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ॥१०४॥

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मह्यं न केनचित् ।
आशां उत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते ॥१०४॥

विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारस्य मम भेदविज्ञानिष्वज्ञानिषु च समता, मित्रामित्रपरिणतेरभावान्न मे केनचिज्जनेन सह वैरं, सहज वैराग्यपरिणतेर्न मे काप्याशा विद्यते, परमसमरसीभावस-नाथपरमसमाधिं प्रपद्येऽहमिति ।

तथा चोक्तं श्रीयोगीन्द्रदेवैः ।

तथाहि—

"मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम् ।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्ताम्
या समता भवति संयमिनामजस्रम्" ॥

तथाहि—

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुखसुखवार्द्धिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा ।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनःप्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्योच्चैः सालंक्रिया जगतामपि ॥

आगे कहते हैं जो अंतरंग में लीन होकर मुनिगण आचरण करते हैं उन्हीं के भावों की शुद्धता होती है—

सामान्यार्थ—सर्व प्राणियों से मेरे समता भाव है तथा किसी के भी साथ मेरा वैरभाव नही है। निश्चय करके आशा को त्याग करके समाधि भाव को प्राप्त होता हूं।

विशेषार्थ—समस्त इन्द्रियों के व्यापार से छूटा हुआ ऐसा जो मैं सो मेरे भेद विज्ञान के ज्ञानी अज्ञानी सर्व ही प्राणियों में समता भाव है। मिलन की अथवा द्वेषपने की परिणति के अभाव होने से मेरा किसी भी मनुष्य के साथ वेर भाव नहीं है, तथा स्वाभाविक वैराग्य में परिणमन करने वाला ऐसा जो मैं सो मेरे एक भी आशा नही विद्यमान है, इसलिये परम समता रस में डूबा हुआ जो भाव उस भाव की स्वामिनी जा परम समाधि (उत्कृष्ट समता, उसके भाव को ही मैं प्राप्त होता हूं। ऐसा ही श्री योगीन्द्र देव ने कहा है—"मुक्त्वालसत्वमधिबन्य-वसोपपन्नः स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वं। संज्ञानचक्र-मिदमंग गृहाण तूर्णमज्ञानमंत्रियुतमोहरिपून्प्रमर्द"। भावार्थ—हे संसारी जीव तू वन में बसता हुआ आलस्य को त्यागकर और अपनी कुलदेवी जो उत्कृष्ट समता उसका स्मरण करके शीघ्र ही सम्यग्ज्ञानरूपी चक्र को गृहण कर और अज्ञानमंत्री करके सहित मोहरूपी शत्रु का मर्दन कर। टीकाकार कहते हैं कि मैं इस समता की अतिशय करके भावना करता हूं। कैसी है समता जो मुक्तिरूपी स्त्री में भ्रमर के समान लिप्त है। अपुनर्भव जो मोक्ष उसके सुख की जड़ है। खोटी भावना के अंधकारमई समूह को नाश करने के लिये चन्द्रमा की कीर्ति अर्थात् निर्मल चांदनी के समान है तथा संयमी मुनियों को तत्काल ही सम्मत अर्थात माननीय है। इस समता की जय हो। जो समता नित्य योगियों को भी दुर्लभ है तथा आत्मीक सुख को बढ़ाने के लिये प्रफुल्लित पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा के समान है। परम यमी जो

महाव्रती मुनि उनको दीक्षारूप स्त्री उसके मन को प्यारी वह समता सखी के समान है। तथा मुनिवरों के गण के लिये यह समता एक अतिशयमई अलकार ह, यही समता जगत के प्राणियों के लिये भी परम आभूषण है।

निश्चयप्रत्याख्यानयोग्यजीवस्वरूपाख्यानमेतत्—

णिक्कसायस्स दांतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥१०५॥

निःकषायस्य दांतस्य शूरस्य व्यवसायिनः।
संसारभयभीतस्य प्रत्याख्यानं सुखं भवेत्॥१०५॥

सकलकषायकलंकपंकविमुक्तस्य निखिलेन्द्रियव्यापारविजयोपार्जितपरमदान्तरूपस्य अखिलपरीषहमहाभटविजयोपार्जितनिजशूरगुणस्य निश्चयपरमतपश्चरणानिरतशुद्धभावस्य संसारदुःखभीतस्य व्यवहारेण चतुराहारविवर्जितप्रत्याख्यानम्। किंच पुनः व्यवहारप्रत्याख्यानं कुदृष्टेरपि पुरुषस्य चारित्रमोहोदयहेतुभूतद्रव्यभावकर्मक्षयोपशमेन क्वचित् कदाचित्संभवति। अतएव निश्चयनयप्रत्याख्यानं हितम् अत्यासन्नभव्यजीवानाम्, यतः स्वर्णनामधेयधरस्य पाषाणस्योपादेयत्वं न तथांधपाषाणस्येति। ततः संसारशरीरभोगनिर्वेगता निश्चयप्रत्याख्यानस्य कारणं, पुनर्भाविकाले संभाविनां निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविभावानां परिहारः परमार्थप्रत्याख्यानं। अथवानागतकालोद्भवविविधान्तर्जल्पपरित्यागः शुद्धं निश्चयप्रत्याख्यानम् इति।

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवम्
परमयमिनामेतन्निर्वाणसौख्यकरं परं।
सहजसमतादेवी सत्कर्णभूषणमुच्चकैः
मुनिप शृणु ते दीक्षाकान्तातीवयौवनकारणं॥

आगे निश्चय प्रत्याख्यान के योग्य जो जीव तिसका स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो कषाय रहित है, इन्द्रिय दमन करनेवाला है, योद्धा है, उद्यमी है, तथा संसार से भयभीत है उसी के ही सुखमई यह प्रत्याख्यान होता है।

विशेषार्थ—जो मुनि सब कषायरूपी कलंक की कीच से विमुक्त (रहित) है, जिसने सर्व इन्द्रियों के व्यापारों को विजय कर लेने से परम दमपना प्राप्त किया है, तथा जिसने सम्पूर्ण परीसहरूपी महान् योद्धाओं को विजय करके अपने योद्धापने के गुणों को उपजाया है। और जो मुनि निश्चयरूप जो परम तपश्चरण उसमें लीन हो शुद्धभाव का धारी है तथा जो संसार से भयवान है उसी के ही व्यवहार नय से चार प्रकार आहारका त्यागरूप प्रत्याख्यान होता है। यह व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्या-दृष्टि पुरुष के भी कहीं किसी के चारित्र मोह के उदयरूप जो द्रव्यकर्म और भावकर्म उनके क्षयोपशम से हो जाता है। अत-एव जो निश्चय नय करके प्रत्याख्यान है वही वास्तविक प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान अत्यन्त निकट भव्य जीवों के ही होता है। जैसे सुवर्ण को रखने वाले पत्थर का उपादेयपना है अर्थात् मानपना है ऐसा अंधपाषाण का नहीं है क्योंकि उससे सुवर्ण प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये संसार शरीर और भोगों से जो वैराग्य है वही निश्चय प्रत्याख्यान का कारण है—आगामी काल में जिनका होना संभव है ऐसे सर्व मोह राग द्वेषादि नाना प्रकार के विभावों का त्यागना ही परमार्थ प्रत्या-ख्यान है। अथवा आगामी काल में होने वाले विविध जो अंतरंग में वचनरूपी विकल्प उनका त्याग करना सो शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान है। टीकाकार कहते हैं कि मुनि प्रधान!

यह प्रत्याख्यान जिनेन्द्र मत से प्रगट भया है, यही परम मुनियों को उत्कृष्ट निर्वाण सुख का करने वाला है, यही स्वाभाविक समता देवी के सत्य कर्णो का आभूषण कणफूल है तथा अतिशय करके यही दीक्षारूपी स्त्री उसको अत्यन्त यौवनवान करने का कारण है। ऐसे प्रत्याख्यान की निरंतर जय होहु।

निश्चयप्रत्याख्यानाध्यायोपसंहारोपन्यासोयम् :—

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदें सो सिजदो णियमा ॥१०६॥

एव भेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्म्मणोः नित्यम्।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स संयतो नियमात् ॥१०६॥

यः श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतपरमागमार्थविचारक्षमः अशुद्धांतस्तत्त्वकर्मपुग्दलयोरनादिबन्धनयोर्भेदं भेदाभ्यासबलेन करोति स परमसंयमो निश्चयव्यवहारप्रत्याख्यान स्वीकरोतीति।

भाविकालभवभावनिवृत्तः सोहमित्यनुदिन मुनिनाथः।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै ॥
घोरसंसृतिमहार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः ॥

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुद्धचारित्रमूर्तेः
भ्रान्तिध्वंसात्सहजपरमानंदचिन्नष्टबुद्धेः।

नास्त्यन्येषामपरसमये योगिनामास्यदानं
भूयो भूयो भवति भविनां संसृतिर्घोररूपा ॥

महानंदानंदो जगति विदितः शाश्वतमयः
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्म्मलगुणे।

अमी विद्वान्सोपि स्मरंति निशितास्त्रैरभिहिता:
कथ कांक्षत्येनं बत कलिहतास्ते जडधिय: ॥

प्रत्याख्यानाद् भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
सच्चारित्र दुरघतरुसांद्राटवीवह्निरूपं ।
तत्त्वं शीघ्रं कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यम्
यत्किभूतं सहजसुखद शीलमूलं मुनीनाम् ॥

जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धे:
हृदयसरसि जाताभ्यन्तरे संस्थितं यत् ।
तदपि सहजतेज: प्रास्तमोहान्धकार
स्वरसविसरभास्वद्बोधविस्फूर्तिमात्रं ॥

अखंडितमनारत सकलदोषदूरं परं
भवांबुनिधिमग्नं जीवततियानपात्रोपमम् ।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदववह्निकीलालकम्
नमामि सततं पुन: सहजमेव तत्त्वं मुदा ॥

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितम
मुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम् ।
नमस्यमिद् योगिभिर्वर्जितदृष्टिमोहादिभि:
नमामि सुखमन्दिरं सहजतत्त्वमुच्चैरद. ।

प्रनष्टदुरितोत्करं प्रहतपुण्यकर्मव्रजं
प्रधूतमदनादिक प्रबलबोधसौधालयं ॥
प्रवामकृततत्त्ववित् प्रकरमप्रणाशात्मकम्
प्रवृद्धगुणमदिरं प्रकृतलोहरात्रिं नुम: ॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्र-परिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायाम् तात्पर्यवृत्तौ निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार: षष्ठ: श्रुतस्कन्ध: ॥६॥

आगे निश्चय प्रत्याख्यान नामा अध्याय उसको संकोचते हुए सक्षप में कहे हैं :—

सामान्यार्थ—ऊपर कहे प्रमाण जो कोई जीव और कर्मों के भेद के अभ्यास को नित्य करता है वही सयमी नियम करके प्रत्याख्यान को धारण कर सकता है ॥

विशेषार्थः—जो कोई श्रीमान अर्हंत भगवान के मुख कमल से प्रगट जो परमागम उसके अर्थ को विचार करने में समर्थ है तथा अपने भेदाभ्यास के बल से अशुद्ध आत्मा के साथ जो कर्म पुग्दलों का अनादि बधन का सम्बन्ध है उनके अर्थात् आत्मा और कर्म के भेद को कर देता है अर्थात् दोनों को भिन्न भिन्न अनुभव करता है वही परम संयमी निश्चय और व्यवहार प्रत्याख्यान को स्वीकार करता है। टीकाकार कहते हैं—आगामी काल में होने वाला जो संसार उसके भावों को दूर करने वाला मुनियों का स्वामी रात्रि दिन सम्पूर्ण सुख का निधान निर्मल, आत्मीक स्वरूपमई जो सं ह तत्त्व उसकी भावना अपने कर्म मल छुड़ाने के लिये करा करता है। भावार्थ—जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसा ही मैं हूं यह भावना परम सुखदाई और स्वरूप समाधि को कारण है ॥ जिनेन्द्र भगवान ने इस तत्त्व को भयानक संसाररूपी समुद्र से पार करने के लिये एक शोभनीक जहाज के समान कहा है। निश्चय से यही परम तत्त्व है इसलिये मोह को जीत करके मैं तत्काल इसी की ही भावना करता हूं ॥ यह प्रत्याख्यान निरंतर उसी के ही होता है जो शुद्ध चारित्र की मूर्ति है तथा जिसने पर द्रव्य के भरम को नाश कर देने से स्वाभाविक परमानंदमई चैतन्य शक्ति के द्वारा विकल्परूप बुद्धि को नष्ट कर दिया है। अन्य आगम में लीन अन्य योगियों का मुख दान (उपयोग) इस ओर नहीं हो सकता। इसके बिना

पुन: पुन: जीवों को इस भयानक संसार में भ्रमण होता है। वह सिद्धात्मा महान आनन्दों में परमानन्द रूप है, जगत में प्रसिद्ध है, अविनाशी स्वरूप है, अ तशय करके अपने निज गुण में ही जिसकी निश्चित बस्ती है। ऐसे आनन्द रूप को छोड़कर यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ये विद्वान लोग भी तीव्र काम के शस्त्रों से पीडित हो किस प्रकार पाप से हते हुए जड बुद्धि होकर पाप कार्य की इच्छा करते हैं ॥ प्रत्याख्यान करने से ही मुनियों को प्रगट रूप से अत्यन्त शुद्ध सम्यग्चारित्र होता है। कैसा है सम्यग्चारित्र रूप आत्म तत्त्व, जो पाप रूपी वृक्षों से भरी जो संसार रूपी बनी उसके जलाने के लिए अग्नि के समान है। हे मर्त्यों में सिह ! तू अपनी बुद्धि में इसी तत्त्व का धारण कर, स्वाभाविक सुख का देने वाला और मुनिओं के स्वभाव का मूल है। उस सहज आत्मीक तत्त्व की जय हो। जो स्वाभाविक तत्त्व आत्मीक तत्त्व में धारी है बुद्धि जिन्होंने उनके हृदयरूपी सरोवर में उत्पन्न होता है तथा जो आत्मा के अभ्यंतर में स्थित है। तथापि अपने स्वाभाविक तेज से मोहरूपो अन्धकार को जिसने नाश किया है तथा जो अपने आत्मीक रस क फैनाव से प्रकाशमान ज्ञान का प्रकाश मात्र है। मै हर्ष पूर्वक निरन्तर उस स्वाभाविक तत्व को ही नमन करता हूं कैसा वह तत्त्व, जो खडन रहित है, सम्पूर्ण दोषों से दूर है, उत्कृष्ट है, संसार समुद्र में मग्न जाव समूहो को निकालने के लिए जहाज के समान है तथा प्रबल कर्म्म समूहरूपी दावानल अग्नि उसके शान्त करने के लिये जल के सदृश है ॥ तथा मैं इस सहज आत्मीक तत्त्व को अतिशय करक नमस्कार करता हूं। कैसा है यह सहज तत्त्व, जा जिनेन्द्र के मुख कमल से प्रगट है, अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित है मुनीश्वरो के मनरूपी घर के अन्दर जलने वाला सुन्दर रत्न दाप के समान है, मिथ्या दर्शनादि

दोष रहित योगियों से सदा नमस्कार योग्य है, तथा आनन्द का मन्दर है ।। तथा हम उस परम तत्त्व को नमन करते हैं। कैसा है वह परम तत्त्व, जिसने पाप के समूह को नष्ट कर दिया है, पुण्य कर्म के समूह को भी घात किया है, कामदेव आदि का संहार किया है, जो प्रबल ज्ञान का महल है, तत्त्व वेत्ताओं के समूहों करके प्रणाम किया गया है, जो उत्कृष्ट गुणों का मंदिर है तथा जिसने मोह की रात्रि को हरण कर दिया है ।। भावार्थ—आत्म तत्त्व में तल्लीनता ही सब प्रत्याख्यान का मूल है ।।

इस प्रकार सुकवियों के कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य्य के समान पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित शरीरमात्र परिग्रह के धारी श्री पद्मप्रभ मलधारी देव द्वारा विरचित श्री नियमसार प्राकृतग्रंथ की तात्पर्य्यवृत्ति नाम संस्कृत टीका में निश्चय प्रत्याख्यान नामक छठा श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ।।

आलोचनाधिकार उच्यते—

निश्चयालोचनास्वरूपाख्यानमेतत्:—

णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं ।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि ।।१०७।।

नोकर्म्मकर्मरहितं विभावगुणपर्य्ययैर्व्यतिरिक्तम् ।
आत्मानं यो ध्यायति श्रमणस्यालोचना भवति ।।१०७।।

औदारिकवैक्रियिकाहारतैजसानि शरीराणि हि नोकर्म्माणि, ज्ञानदर्शनावरणांतरायमोहनीयवेदनीयायुर्नामगोत्राभिधानानि हि द्रव्यकर्म्माणि कर्म्मोपाधिनिरपेक्षसत्ताग्राहकनिश्चयद्रव्यार्थिकनयापेक्षया हि एभिर्नोकर्म्मभिश्च निर्म्मुक्तं । मतिज्ञानादयो

विभावगुणाः नरनारकादिव्यंजनपर्य्यायश्चैव विभावपर्य्यायः । सहभुवो गुणाः क्रमभाविनः पर्य्यायाश्च एभिः समस्तैः व्यतिरिक्तं स्वभावगुणपर्य्यायैः संयुक्तं त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमात्मानं, त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिना यः परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनापराङ्मुखः सन् ध्यायति तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति ।

तथा चोक्तं श्रीमदमृतचंद्रसूरिभिः —

"मोहविलासविजृंभितमिदमुदयकर्मसकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्म्मणि नित्यमात्मना वर्त्ते ॥

उक्तं चोपासकाध्ययने —

"आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्" ॥

तथाहि ।

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं
शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे ।
पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां
नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि ॥

निश्चयालोचनाधिकार ।

आगे निश्चय आलोचना का स्वरूप कहते हैं –

सामान्यार्थ—जो मुनि आत्मा को नोकर्म्म, द्रव्यकर्म्म तथा विभावगुण और पर्य्यायों करके रहित ध्याता है उसी श्रमण के आलोचना होती है ।

विशेषार्थ—औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर ही नोकर्म हैं। ज्ञानावरणी दर्शनावरणी, अंतराय, मोहनो, वेदनी, आयु, नाम और गोत्र ये आठ कर्म द्रव्य कर्म हैं। कर्म्मों की उपाधि की जहां अपेक्षा नहीं है ऐसी निरपेक्ष सत्ता मात्र को ग्रहण करने वाली जो शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय उसकी अपेक्षा से यह आत्मा द्रव्य कर्म्म और नौ कर्म्मों से रहित है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनपर्ययज्ञान विभाव गुण हैं तथा नर, नारक, तिर्यंच, देव ये व्यजन पर्य्याय हैं तथा ये ही विभाव पर्य्याय हैं। गुण सहभावी होते हैं और पर्य्याय क्रम क्रम से वर्तने वाली होती हैं। इन सम्पूर्ण विभाव गुण और पर्यायों से जो आत्मा रहित है तथा अपने स्वभाव गुणों करके सहित है ऐसे तीनों कालों में आवरण रहित कर्मा जन से दूर ऐसे परम शुद्ध आत्मा को जो कोई परमश्रमण (परम दिगम्बर यती) मनवचन कायकी गुप्तिमई समाधि के वल से नित्य ध्यान के समय में समस्त वचन रचना के प्रपंच जाल से उन्मुख हो अर्थात् रहित हो ध्याता है उसी भावमुनि के निरन्तर निश्चय आलोचना होती है। ऐसा ही श्रीअमृतचन्द्र सूरी ने कहा है—कि मोह के बिलास से उदयरूप जो यह सम्पूर्ण उदय में प्राप्त कर्म्म है उसकी आलोचना करके अर्थात् उसका त्याग करके कर्म्म रहित चैतन्य स्वरूप आत्मा के अन्दर मैं नित्य अपने आत्मस्वरूप के द्वारा वर्तन करता हूं। श्री उपासकाध्ययन में ऐसा कहा है कि कृत, कारित और अनुमोदना से कपट रहित हो सर्व्व पाप को त्यागकर मरण पर्यन्त सम्पूर्ण प्रकार से महाव्रतों को धारण करना योग्य है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—मैं आलोचना करने योग्य जो घोर संसार के मूल समस्त पुण्य और पाप उन-को नित्य त्यागकर अपने आत्मा द्वारा उपाधिरूप गुणों से रहित

शुद्धात्मा का ही अवलंबन अर्थात् आश्रय लेता हूं। पश्चात् अति शय करके समस्त द्रव्य कर्म की प्रकृतियों को नष्ट करके स्वाभाविक विलासरूप मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त होऊंगा।

आलोचनालक्षणभेदकथनमेतत्—

आलोयणमालुंछण वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए॥१०८॥

आलोचनमालुंछनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिश्च।
चतुर्विधमिह परिकथित आलोचनलक्षण समये॥१०८॥

भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसकलजनताश्रुतिसुभगसुन्दरानंदनिष्यन्दनानक्षरात्मकदिव्यध्वनिपरिज्ञानकुशलचतुर्थज्ञानधरगौतममहर्षिमुखकमलविनिर्गतचतुरसंदर्भगर्भीकृतराद्धान्तादिसमस्तशास्त्रार्थसार्थसारसर्वस्वीभूतशुद्धनिश्चयपरमालोचनायाश्चत्वारो विकल्पा भवन्ति। ते वक्ष्यमाणसूत्रचतुष्टयेन निगद्यन्त इति।

आलोचनाभेदममुं विदित्वा, मुक्त्यंगनासंगमभूतहेतुं।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः, तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठताय

आगे आलोचना का लक्षण और भेद कहते हैं—

सामान्यार्थ—आगम में आलोचना का लक्षण चार प्रकार का कहा गया है। अर्थात् आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण तथा भावशुद्धि। इन चारों का स्वरूप आगे कहेंगे।

विशेषार्थ—अर्हंत भगवान के मुखारविंद से उदय को प्राप्त हुई जो अनक्षरात्मक दिव्य ध्वनि, जो सम्पूर्ण सभास्थित जनों को श्रवणगोचर है परम सुन्दर और आनन्ददायक है उस दिव्य

ध्वनि के द्वारा जाने हुये ज्ञान में कुशल और मनपर्यय ज्ञान के धारी गौतम महर्षि उनके मुख कमल से प्रगट जो चतुर वचन समूह उस कर रचित राद्धान्त आदि समस्त शास्त्र उनके अर्थो का सार जिसमें सर्व प्रकार से गर्भित है ऐसी जो शुद्ध निश्चय परम आलोचना उसके चार भेद हैं। आगे के सूत्रों में इनका वर्णन करेंगे। टीकाकार कहते हैं कि मुक्तिरूपी स्त्री के संगम का कारण जो यह आलोचना उसके भेद को जान करके जो भव्य जीव अपने आत्म स्वभाव में स्थिति करता है उस भव्य जीवको अपने आत्म स्वभाव में स्थिर होने के लिये मैं नमस्कार करता हूं।

इहालोचना वीकारमात्रेण परमसमताभावनोक्ता—

जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्य उपएसं ॥१०९॥

यः पश्यत्यात्मान समभावे संस्थाप्य परिणामम्।
आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम् ॥१०९॥

यः सहजवैराग्यसुधासिन्धुनाथडिंडीरपिडपरिपांडुरमंडनमंडलीप्रवृद्धिहेतुभूतराकानिशीथिनीनाथः सदान्तर्मुखाकारमत्यद्धं निरजननिजबोधनिलय कारणपरमात्मान निरवशेषेणान्तर्मुखं स्वस्वभावनिरतसहजावलोचनेन निरन्तर पश्यति। कि कृत्वा पूर्व्वं निजपरिणामं समतावलबनं कृत्वा परमसयमी भूत्वा तिष्ठति तदेवालोचनास्वरूपमिनि हे शिष्य त्व जानीहि परमजिननाथस्योपदेशादित्यालोचनाविकल्पेषु प्रथमविकल्पोऽयमिति।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयान्यात्मना पश्यतीत्थं
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति।

सोयं वंद्यः सुरेशैर्यमधरततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
चिद्रूपं सर्ववंद्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम् ॥

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपंकेजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुंजः पुराणः ।
सोतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गमस्मिन्
नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः ॥

एवमनेन पद्येन व्यवहारालोचनाप्रपंचमुपहसति किल परम-जिनयोगीश्वरः—

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम् ।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ॥

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति ।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयामीत्यपूर्व्वम्
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम् ॥

निर्म्मुक्तसंगनिकरं परमात्मतत्त्वं
निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तं ।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं
निर्व्वाणयोषिदतनूद्भवसंमदाय ॥

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि ।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं
निर्म्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम् ॥

आगे आलोचना का स्वरूप कहते हुये परम समता भाव को कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो समता भाव में अपने परिणाम को धर करके अपने आत्मा को देखता है उसी के ही आलोचना जानो। ऐसा परम जिनेन्द्र का उपदेश है।

विशेषार्थ—जो कोई स्वाभाविक वैराग्य रूप अमृतमई महा सागर उसकी फेन के समान सफेद ऐसी शृंगार मंडली को बढ़ाने के लिये पूर्ण चन्द्रमा के समान है अर्थात् वैराग्य की उज्ज्वलता को बढाने वाला है ऐसा जो तत्त्ववेत्ता सो सदा अन्तरंग में लीन ऐसे श्रेष्ठ निरंजन निजज्ञान का स्थान जो कारण परमात्मा उसको सर्व प्रकार अन्तरग में सन्मुख होकर अपने आत्मीक स्वभाव में तल्लीन ज स्वाभाविक अवलोकन उससे निरंतर देखना है। कैसे देखता है, पूर्व ही अपने भाव को समता भाव में स्थिर करके परम संयमी होकर तिष्ठता है। यही आलोचना का स्वरूप है ऐसा हे शिष्य तुम जानो। ऐसा परम जिन नाथ का उपदेश है। आलाचना के भेदों में यह प्रथम भेद का स्वरूप कहा। यहाँ टीकाकार कहते हैं जो कोई आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मीक स्वभाव से अपने आत्मा में इस प्रकार अर्थात् शुद्ध चैतन्य रूप मई देखता है वह थोड़े से ही काल में मोक्ष के निश्चल स्थान को प्राप्त होता है। जहाँ मुक्ति रूपी लक्ष्मी का विलास है और जो अत्यत अनीन्द्रिय सुखरूप है। ऐसा ही महात्मा इन्द्रों मुनियों की पंक्तियो विद्याधरों तथा भूमिगोचरियों के द्वारा वन्दनीक है। उनही गुणों की अपेक्षा से मैं उस चैतन्य रूप का नमन करता हूं जो सर्व से वन्दनीक और सर्व गुणों की खान है। यह आत्मा परम यमी मुनियों के चित्त रूपी कमल के मध्य में प्रगट रहता है। कैसा है आत्मा, जो ज्ञान

ज्योतिमई है, जिसने पापरूपी अन्धकार के पुंज का नाश कर दिया है, जो समीचीन है तथा जा आत्मा जीवों के वचन और मन से अगाचर रहता है। आचाय्य कहते हैं जो अत्यन्त प्र चीन परम पुरुष परमात्मा है उसमें विधि और निषेध क्या होगा? । ऐसा कहने से परमयोगीश्वर ने व्यवहार आलोचना के प्रपचको हँसी की है। टीकाकार कहते हैं उस पाप रहित चैतन्य स्वरूप की जय हो। कैसा है वह सहज तत्त्व, जो अतिशय करके समस्त इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न जा कालाहल (विकल्परूप उद्वग) उनसे मुक्त है। उस सहज तत्त्व में नयों का तथा अनयों के समूहों का प्रवेश नहीं है अर्थात निश्चय व्यवहार नय आदि के विकल्पों से जो दूर है, ऐसा होने पर भी वह तत्त्व योगियों ही के गोचर है। वह आत्मीक तत्त्व सदा आनन्दमई और उत्कृष्ट है परन्तु आत्म ज्ञान से रहित अज्ञानी जीवों के लिये वह तत्त्व महादुर्लभ है। भव्य जीव परम गुरु के प्रसाद से इस शुद्धात्मा को आत्मीक सुख रूपी अमृत के समुद्र में मग्न समझकर अविनाशी सुख को प्राप्त करते हैं। इसलिये मैं भी अतिशय करके सदा उसी की ही भावना करता हूं। कैसा है वह तत्त्व, जो अपूर्व्व है सम्पूर्ण भेदों के अभाव से वह कोई स्वाभाविक वस्तु है तथा सिद्धि स्थान के सुख करके शुद्ध है। मैं उस परमात्म तत्व की भावना करता हूं जो समस्त सग के समूह से मुक्त है, जो मोह रहित, पापों से दूर और पर भावों से छुटा हुआ है तथा मैं नित्य ही निर्वाण रूप स्त्री के अतीन्द्रिय सुख के लिये उसी ही तत्त्व को प्रणाम करता हूं। अपने भाव से भिन्न सम्पूर्ण विभावों को त्याग कर मैं संसार समुद्र से तरने के लिये नित्य एक चैतन्य मात्र निर्मल भाव की भावना करता हूं तथा अत्यन्त

ही भेदों से रहित जो मोक्ष का मार्ग है उसको भी नमन करता हूं।

परमभावस्वरूपाख्यानमेतत् —

कम्ममहीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ॥११०॥

कर्ममहीरुहमूलछेदसमर्थः स्वकीयपरिणामः ।
स्वाधीनः समभावः आलुंछनमिति समुद्दिष्टम् ॥११०॥

भव्यत्वपारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभाव. औदयिकादिचतुर्णां विभावस्वभावानामगाचरः स पंचमभावः अतएवोदयोदीरणक्षयक्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः अतः करणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरत्वम् । निखिलकर्मविषवृक्षमूलनिर्मूलनसमर्थः, त्रिकालनिरावरणनिजकारण परमात्मस्वरूपश्रद्धानप्रतिपक्षतीव्रमिथ्यात्वकर्मोदयवलेन कुदृष्टेरय परमभावः सदा निश्चयतो विद्यमानोप्यविद्यमान एव, नित्यनिगोदक्षेत्रज्ञानामपि शुद्धनिश्चयनयेन परमभावः "अभव्यपारिणामिक" इत्यनेनाभिधानेन न संभवति । यथा मेरोरधोभागस्थितसुवर्णराशेरपि सुवर्णत्व, अभव्यानामपि तथा परमभावस्वभावत्वं, वस्तुनिष्ठं न व्यवहारयोग्यं । सुदृशामत्यासन्नभव्यजीवानां सफलीभूतोऽय परमभावः सदा निरंजनत्वात् यतः सकलकर्मविषमविषद्रुमपृथुमूलनिर्मूलनसमर्थत्वात् निश्चयपरमालोचनाविकल्पसंभवाः, लुंछनाभिधानम् अनेन परमपंचमभावेन अत्यासन्नभव्यजीवस्य सिद्धयति ।

एको भावः स जयति सदा पंचमः शुद्धशुद्धः
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः ।

मूलं मुक्तेर्निखिलयमिनामात्मनिष्ठापराणाम्
 एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः ॥
असंसारादखिलजनता तीव्रमोहोदयात्सा
 मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा ।
ज्ञानज्योतिर्धवलितककुम्मडलं शुद्धभावं
 मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति ॥

आगे आलुछन का स्वरूप कहते हुये परम भाव स्वरूप का व्याख्यान करते हैं—

सामान्यार्थ—अष्ट कर्मरूपी वृक्ष के मूल को छेद करने में समर्थ जो अपने ही आत्मा का स्वाधीन और समता भावरूप परिणाम उसी को आलुछन इस नाम से कहा है ।

विशेषार्थ—यहां पंचम जो पारिणामिक भाव उसका स्वरूप कहते हैं । भव्यत्त्व नाम जो पारिणामिक भाव उस स्वभाव का धारी जो भव्य जीव उसके निज आत्म सम्बन्धी जो पारणामिक भाव सो ही परम भाव है । यह पंचम भाव औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायिक इन चार विभाव स्वभावों के गोचर नही हैं । अतएव उदय अर्थात् समय पाकर कर्मो का उदय, उदीरण, अर्थात् आगामी उदय योग्य कर्मो का पहले एक साथ बहुत सों का उदय हो जाना । क्षय अर्थात् कर्मों का सर्वथा नाश । क्षयोपशम अर्थात् कर्म्मों के सर्व्व घाती स्पर्द्धकों का उदयाभावीक्षय तथा उपशम देशघातीस्पर्द्धकों का उदय ऐसे चार अवस्था द्वारा उत्पन्न हुए नाना प्रकार के विकार भाव उन करके रहित है इस कारण इस एक आत्मा के शुद्ध परिणाम को ही परमत्त्व अर्थात् उत्कृष्टपना है इसकी अपेक्षा अन्य चार विभाव भावों को अपरत्त्व (हीनपना) है यह परम भाव सम्पूर्ण कर्म्मरूपी विषवृक्ष की जड़ को उखाड़ने

को समर्थ है। तीनों कालों में भी जिसके आवरण नहीं होता ऐसा निरावरण निज कारण परमात्मा उसके स्वरूप का जो श्रद्धान वह सम्यक्त है। उसका विरोधी जो तीव्र मिथ्यात्वकर्म उसके उदय के वश से जो शुद्ध परम भाव यद्यपि शुद्ध निश्चय नय के द्वारा मिथ्यादृष्टि के भी सदा विद्यमान है तथापि वही भाव अविद्यमान के समान ही है क्यों कि मिथ्यादृष्टि को उस परम भाव का भान भी नहीं होता। नित्य निगोद क्षेत्रवासी जीवों के भी यह परम भाव शुद्ध निश्चय नय के द्वारा है तथापि अभव्यत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा से उनके यह भाव संभव नहीं है। जैसे सुमेरु पर्वत के नीचे अधोभाग में स्थित जो सुवर्ण राशि उसके भी सुवर्णपना है तैसे ही अभव्य जीवों के भी यह परम-स्वभावपना वस्तुनिष्ठ है अर्थात् आत्मपदार्थ मे शोभायमान है अर्थात् शक्ति रूप है किन्तु उसकी व्यक्तता नही है, व्यवहार नय से उन जीवों मे परम स्वभाव की योग्यता नही है। सम्यग्दृष्टी जीवों के यह परम भाव सफलता को लिये हुए है। कैसे हैं सुदृष्टी जीव, जिनके संसार का नाश अति आसन्न है अर्थात् जो अतयन्त निकट भव्य जीव हैं। यह परम भाव सदा निरंजन रूप है, कर्माञ्जन से रहित है क्योंकि यही परम भाव सम्पूर्ण कर्म्मरूपी कठोर विष के वृक्ष के दृढ़ मूल के उखाड़ने में समर्थ है। निश्चय परम आलोचना का भेदरूप यह आलुंछन भाव इस परम पंचम पारिणामिक भाव ही के द्वारा ही अति निकट भव्य जीव को सिद्ध होता है। यहाँ टीकाकार कहते है कि वह एक पंचम भाव सदा जयवन्त रहो। कैसा है यह भाव जो अत्यन्त शुद्ध है। कर्म्मों के नाश से प्रगट जो आत्मा की स्वाभाविक अवस्था उसके द्वारा यह भाव स्थिति रूप है। यही भाव आत्मा में लीन सम्पूर्ण मुनियों के लिये मुक्ति का मूल है। एक आकार

रूप है अपने रस के विस्तार से पूर्ण है पवित्र है तथा समीचीन है। यह ज्ञान ज्योति अनादिकाल के संसार मे अब तक सम्पूर्ण जीवों के तीव्र मोह कर्म के उदय से अपने आत्मीक कार्य्य में मुग्ध (मूढ़) हो रही है तथा कामदेव के वश में प्राप्त होकर यह ज्योति नित्य उन्मत्तरूप हो रही है। वही ज्ञान ज्योति मोह के अभाव हो जाने से शुद्ध भाव को प्राप्त हो जाती है। कैसा है शुद्ध भाव, जिसने दिशा के मंडल को धो डाला है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है तथा जिसने आत्मा की स्वाभाविक अवस्था को प्रगट कर दिया है।

इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परणतिविशेष: प्रोक्त.।

कम्मादो अप्पाणं भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए वियडीकरणं त्ति विण्णेयं ॥१११॥

कर्मण: आत्मानं भिन्न भावयति विमलगुणनिलयं।
मध्यस्थभावनायामविकृतिकरणमिति विज्ञेयम् ॥१११॥

य: पापाटवीपावको द्रव्यभावनोकर्म्मभ्य: सकाशाद् भिन्नमात्मानं सहजगुणाभिधानपरमालोचनाया: स्वरूपमस्त्येवेति।

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे–
रन्त:शुद्ध: शमदमगुणाम्भोजिनी राजहंस:।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयम्
नित्यानंदाद्यनुपमगुणाश्चिच्चमत्कारमूर्ति: ॥

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगण: शुद्धभावामृताम्भो–
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांह:कलंक:।
शुद्धात्मा य: प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योति: प्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति ॥

संसारघोरसहजादिभिरेव रौद्रै—
दुःखादिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने ।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं
यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात् ॥

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं
तद्धेतुभूतसुकृतासुकृतप्रणाशात् ।
तस्मादहं सुकृतदुःकृतकर्मजालं
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि ॥

प्रपद्येहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहं ।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कन्धबन्धुराम् ॥
अनादिमलसंसाररोगस्यादानमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना ॥

अथ विविधविकल्पं चारसंसारमूलं
तु शुभमशुभकर्म प्रस्फुट तद्विदित्वा ।
भवमरणविमुक्तं पंचमुक्तिप्रदं यं
तमहमभिनमामि प्रत्यहं भावयामि ॥

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम् ।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

जयति सहजतेजःप्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः ।
विषयसुखरताना दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोस्तनिद्रः ॥

आगे अविकृतिकरण का स्वरूप कहते है :—

सामान्यार्थ:—निश्चय करके कर्म्मो से भिन्न निर्मल गुण का स्थान जो आत्मा उसको जो कोई मध्यस्थ अर्थात् वीतराग भावना उसमें लीन होकर भावता है उसके ही अविकृति करण जानना चाहिये ।।

विशेषार्थ:—यहां शुद्धोपयोगी जीव की परिणतिविशेष को कहते हैं। जो कोई भव्य पापरूपी वनको दग्ध करने के लिये अग्नि के समान होकर द्रव्य, भाव और नोकर्म्मो से भिन्न तथा स्वाभाविक गुणके निधान आत्मा को ध्याता है उस के हो सहज गुणरूप जो परम आलोचना उसका स्वरूप प्राप्त होता है ।। टीकाकार कहते हैं यह आत्मा सम्पूर्ण द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म्म औदारिक शरीरादि उनकी राशियों से सदा ही भिन्न रहता है, अतरग में शुद्ध है, शम कहिये शांतभाव और दम कहिये इन्द्रियवशता ऐसे शमदमरूपी कमलों के लिये राजहंस के समान है—जैसे राजहंस कमल में केलि करता है ऐसे ही आत्मा शम दम मे रमता है। मोहके अभाव होने से यह आत्मा अपने से भिन्न सब अन्य वस्तुओं को कभी नही ग्रहण करता है। ऐसा यह आत्मा नित्य आनद आदि अनुपम गुण मई तथा चैतन्य चमत्कार की मूर्ति है। यह शुद्धात्मा अविनाशी अंतरग गुणरूपी रत्नों का समूह है, शुद्ध भावरूप अमृत के अत्यन्त निर्मल समुद्र में जिसने अपने पापरूपी कलंकों को धो डाला है, जिसने इन्द्रियरूपी ग्रामों के कोलाहल को हटा दिया है तथा अपनी ज्ञानज्योति करके मोह अधकार के फैलाव को नाश कर दिया है ऐसा शुद्धात्मा प्रकाश मान होता है। यह लोक संसार के जन्म मरण आदि रूप भयानक और अपने स्वभाव मई दुःखों से प्रतिदिन तप्तायमान हो रहा है अर्थात् दुःखी हो

रहा है ऐसे लोक मे मैं मुनिपति समता भाव की कृपा से शम अर्थात् शान्त भावरूपी अमृतमई ऐसो जो हिमानी (बर्फ) उसको प्राप्त करता हूं अर्थात् परम शीतल स्वभाव होता हूं ।। जो आत्मा मुक्त हो जाता है अर्थात् सिद्ध होता है वह जीव भी फिर विभावपने को नही प्राप्त होता है क्योंकि उसने विभाव शरीर के कारणभूत समस्त पुण्य और पाप का नाश कर दिया है । इसलिये में इस लाक में पाप पुण्य रूप कर्म्मों के जालों को छोड़कर एक ही मुमुक्षु पुरुषों के द्वारा चले हुए मार्ग में चलता हूं, मैं पुद्गल स्कंधों के जाल से बनी हुई इस संसार मूर्ति को त्याग करके अर्थात् इस शरीर से मोह हटा करके सदा शुद्ध ज्ञानशरीरी आत्मा को ही प्राप्त होता हूं । कैसी है यह भवमूर्ति, जहां अनादि कर्म मल से उत्पन्न जो ससाररूपी रोग ग्रहण है । तथा कैसा है यह ज्ञान शरीरी आत्मा, उत्तम है और शुभ अशुभ भावों से मुक्त है । इसी उपर्युक्त विचार का नाम शुद्ध चैतन्य की भावना है ।। अनेक विकल्प रूप गतिमान ससार के मूल शुभ अशुभ कर्म्मों को प्रगटपने जान करके मैं भवभाव में मरण से रहित पचमगति मोक्ष को दातार ऐसा जो कोई शुद्ध आत्मीक भाव है उसको नमस्कार करता हूं और उसी की प्रतिदिन भावना करता हू ।। यह आत्मज्योति न मनोहर ललित शब्दों का विषय है । न सत्य वचनों का विषय है । यह ज्योति आदि और अत करके शून्य है तथापि श्री गुरु के वचनों के प्रताप से जो कोई शुद्ध सम्यग्दृष्टी इसी को प्राप्त करता है वह मोक्षरूपी परम लक्ष्मी का बर होता है ।। यह आत्मा का सहज स्वाभाविक तेज सदा जयवन्त रहो जिसने राग के अंधकार को मिटा दिया है, जो मुनिवरों के मन के गोचर है, अत्यन्त शुद्ध है, विषय सुख में लीन पुरुषों को दुर्लभ है, जो सर्वदा परम

आत्मीक सुख का समुद्र है, तथा जिसने अपने शुद्ध ज्ञान के द्वारा मोह निद्रा को अस्त कर दिया है ॥१११॥

भावशुद्धयभिधानपरमालोचनास्वरूपप्रतिपादनद्वारेण शुद्धनिश्चालोचनाधिकारोपसंहारोपन्यासोयम्:—

मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धित्ति ।
परिकहियं भव्वाणं लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥११२॥

मदमानमायलोभविवर्ज्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति ।
परिकथितो भव्यानां लोकालोकप्रदर्शिभिः ॥११२॥

तीव्रचारित्रमोहदयबलेन पुवेदाभिधाननोकषायविलासो मदः, अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः । चतुरसंदर्भगर्भीकृतवैदर्भकवित्वेन आदेयनामकर्म्मोदये सति सकलजन ज्यतया मातृपितृसम्बन्ध कुलजातिविशुद्धया वा शतसहस्रकोटिभटाभिधानब्रह्मचर्यव्रतोपार्जितनिरुपमबलेन च दानादिशुभकर्म्मोपार्जितसंपद्वृद्धिविलासेन, अथवा बुद्धितपोवैकुर्वणौषधरसबलाक्षीर्णर्धिभिः सप्तभिर्वा, कमनीयकामिनीलोचनानन्देन वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः । गुप्तयतो माया, स्थले धनव्ययाभावो लोभः निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः । एभिश्चतुर्भिर्व्वा भावैः परिमुक्तः परमवीतरागसुखामृतपानपरितृप्तैर्भगवद्भिरर्हद्भिरमिहित इति ।

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजाल-
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात् ।
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजस्रं ।
शुद्धात्मतत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः ॥

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षुः ।
तत्सिद्धयर्थं शुद्धशील चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥

सानन्द तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिंजल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपं ।
शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहतयमिमनोगेहघोरान्धकारं
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लंघने यानपात्र ॥

अभिनवमिदं पापं यायाः समग्रधिय पि ये
विदधति परं ब्रूमः किं ते तपस्विन एव हि ।
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिंडमनुत्तमम्
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयापि यान्ति सरागतां ॥

जयति सहजं तत्त्व तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम् ।
परमकलया सार्द्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशं ॥

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्म्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम् ।
विशदविशदं नित्य बाह्यप्रपंचपराङ्मुख
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ॥

जयति शांतरसामृतवारिधि—प्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः ।
अतुलबोधदिवाकरदीधिति—प्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ॥

विजितजन्मजरामृतिसंचयः प्रहतदारुणरागकदम्बकः ।
अघमहातिमिरव्रजभानुमान् जयति यः परमात्मपदस्थितः ॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्य्यवृत्तौ परमालोचनाधिकारः सप्तमः श्रुतस्कन्धः ॥७॥

आगे चौथा भेद भाव शुद्धि नाम की जो परम आलोचना उसका स्वरूप कहते हुये शुद्ध निश्चय आलोचना के अधिकार को संकोचते हैं—

सामान्यार्थ—मद, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों से रहित जो भाव है उसको भावशुद्धि कहते हैं। लोक और अलोक को देखने वाले श्री जिनेन्द्र भगवान ने भव्य जीवों के लिये ऐसा कहा है ।

विशेषार्थ—तीव्र चारित्र मोहनी नामा कर्म के उदय के बल से पुरुष वेद नाम नोकषाय का जो विलास है उसको मद कहते हैं। यहाँ मद शब्द से मदन अर्थात् काम सेवने का परिणाम ऐसा अर्थ लेना चाहिये। चतुर वचनों की रचना सहित प्रवीण और श्रेष्ठ कवितापने के द्वारा आदेय नाम नामकर्म के उदय से सर्व जनों में पूज्यपना पाने के कारण से अथवा माता सम्बन्धी और पिता सम्बन्धी कुलजाति की उज्वलता से अथवा ब्रह्मचर्य्य व्रत के पालने से उत्पन्न जो पुण्य तिससे प्राप्त जो १ लाख कोटिभट के समान उपमा रहित बल होने से, अथवा दान पूजा आदि शुभ कर्मों के द्वारा उत्पन्न जो पुण्य उस पुण्य के उदय से प्राप्त जो

सम्पदा धनादि की वृद्धि उसके विलास से अथवा बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल तथा अक्षीण ऐसी सात ऋद्धियों के होने से अथवा सुन्दर स्त्रियों के लोचनों को आनन्दकारी ऐसी शरीर की सुन्दरता के रस के विस्तार से आत्मा के अहंकार का पैदा होना सो मान है। गुप्त रीति से पाप कर लेना सो माया है। योग्य स्थल में धन का व्यय नहीं करना सो लोभ है। निश्चय करके सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग है लक्षण जिसका ऐसा कर्म रूपी अंजन से रहित अपने परमात्म तत्त्व को ग्रहण करने के विरुद्ध अपने से अन्य परमाणु मात्र द्रव्य का स्वीकार करना सो लोभ है। इन चारों भावों से रहित जो शुद्ध भाव है वही भाव-शुद्धि है। इस प्रकार भव्य प्राणियों के लिये लोका लोक दर्शी, परमवीतराग सुखरूपी अमृत के पान में तृप्त श्री अरहंत भगवान ने कहा है। टीकाकार—कहते हैं जो कोई भव्य जीव सर्व तरफ से परभाव को त्याग कर जिनेन्द्र के मार्ग में कहे हुए समस्त आलोचना के भेद रूप जालों को देख कर तथा अपने आत्म स्वरूप को जान कर तिष्ठता है वही जीव मोक्ष रूपी स्त्री का वर होता है॥ सदा शुद्धनय के अधीन ऐसी जो आलोचना है सो मुनियों को शीघ्र मोक्ष मार्ग के फल को देने वाली है यह आलोचना शुद्धात्मतत्त्व में निश्चित आचरण रूप है सो ऐसी आलोचना मुझ संयमी के लिए निश्चय करके कामधेनु के समान मन वांछित फल को देने वाली होवे॥ जो कोई मोक्षार्थी तीन लोक को जानने वाले विकल्प रहित इस शुद्ध तत्त्व को समझ कर उस तत्त्व की सिद्धि के लिए शुद्ध स्वभाव में आच-रण करता है वह भव्य जीव सिद्धि रूपी स्त्री का स्वामी होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है॥ तत्त्वज्ञाता जितेन्द्री मुनियों के हृदय कमल की केसर में जो शोभायमान है तथा जो आनन्द

रूप, बाधारहित, विशुद्ध, कामदेव के बाणों की भयानक सेना को जलाने के लिए दावानल अग्नि के समान है। जो शुद्ध ज्ञान रूपी दीपक के द्वारा मुनियों के मन रूपी घर में फैले हुए घोर अन्धकार को दूर करने वाला, साधुओं से वंदनीक तथा संसार समुन्द्र के लंघने में जहाज के समान है ऐसा जो शुद्ध तत्त्व है उसको मैं बन्दना करता हूं। जो तपस्वी बड़े बुद्धिमान होने पर भी दूसरों को कहते हैं कि इस नवीन पाप को करो तथा आप भी करते हैं क्या वे तपस्वी हैं ? निश्चय से वे तपस्वी नहीं हैं। खेद की बात है कि हृदय मे विलास रूप शुद्ध ज्ञानमई अत्यन्त श्रेष्ठ इस स्वरूप पद को जानकर के फिर भी सराग भाव की अवस्था को प्राप्त होते हैं।। उस स्वाभिक तत्त्व की जय होहु। जो तत्त्व सम्पूर्ण तत्त्वों में अविनाशी, आकुलता रहित, सदा ही सुलभ और प्रकाशमान है तथा जो सम्यग्दृष्टि जीवों के लिए समता का घर है। अपनी परम कला सहित है। अपने उत्कृष्ट गुणों के द्वारा वर्द्धमान है। सहज अवस्था में प्रकाशित है तथा रात्रि दिन अपनी महिमा में लीन है।। यह स्वाभाविक तत्त्व सात तत्त्वों में से सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, परम निर्मल है, सर्व प्रकार से निर्मल ज्ञान का घर है, आवरणों से रहित, मोक्ष रूप है, अत्यन्त विशद (स्पष्ट) है, नित्य है, बाह्य प्रपंच जालों से विरुद्ध है, मुनि को भी मन और वचनों से दूर है ऐसे तत्त्व को हम नमस्कार करते हैं।। उस जिनेन्द्र की जय होहु जो शांत-रसमई अमृत के समुद्र को बढ़ाने के लिए प्रतिदिन उदय रूप सुन्दर चन्द्रमा के समान है तथा तुलना रहित ज्ञानरूपी सूर्य्य की किरणों से जिसने मोहरूपी अन्धकार के समूह को नाश कर दिया है।। जिसने जन्मजरा मरण के समूह को जीत लिया है, अत्यंत भयानक रागके समूह का घातकर दिया है, पापरूपी महा

अन्धकार समूह के नाश के लिए जो सूर्य के समान है तथा जो परमात्मा के पद में स्थित है उस महात्मा जीव की सदा जय होहु ॥

इस प्रकार सुकविरूपी कमलों के लिए सूर्य के समान पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारी श्रीपद्मप्रभुमलधारी देव विरचित श्री नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्य्य वृत्ति नामकी व्याख्या में परमालोचना नामका सातवाँ श्रुतस्कध पूर्ण हुआ ॥

अथाखिलद्रव्यभावनोकर्मसन्यासहेतूभूतशुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार: कथ्यते—

निश्चयप्रायश्चित्तस्वरूपाख्यानमेतत्:—

वदसमिदिसिलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायछित्तं अणवरयं चेव कायव्वो ॥११३॥

व्रतसमितिशीलसंयमपरिणाम: करणनिग्राहो भाव: ।
स भवति प्रायश्चित्तम् अनवरतं चैव कर्तव्य: ॥११३॥

पंचमहाव्रतपंचसमितिशीलसकलेन्द्रियवाङ्मन:कायसंयमपरिणाम:, पचेन्द्रियनिरोधश्च स खलु परिणाम:, पंचेन्द्रिय निरोधश्च, स खलु परणतिविशेष:: प्राय: प्राचुर्य्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तं, अनवरतं चान्तर्मुखाकारपरमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापटवीपावकेन पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना परमागममकरन्दनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्त्तव्य इति ।

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिंता मुनीनां
मुक्तिं यांति स्वसुखरतयस्तेन निर्द्धूतपापाः।
अन्या चिंता यदि च यमिनां ते विमूढाः स्मरार्त्ताः
पापाः पाप विदधति मुहुः पुकिं नश्चित्रमेतत् ।।

निश्चयप्रायश्चित्ताधिकार ।

आगे सर्व द्रव्यभाव और नोकर्म्म के त्याग का कारणभूत जो शुद्ध निश्चिय प्रायश्चित्त नाम का अधिकार उसको कहते हैं :-

सामान्यार्थ—व्रत, समिति, शील और संयम का जो परिणाम तथा इन्द्रियों के रोकने का जो भाव उसका नाम प्रायश्चित है। सो ही निरन्तर करना योग्य है ।।

विशेषार्थ—अहिंसादि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, शील और सर्व इन्द्रियों को मनवचनकायको संयम करने का परिणाम और पाँच इन्द्रियों का निरोधरूप जो भाव की परिणतिविशेष सो ही प्रायश्चित है। प्रायः का अर्थ प्रचुरपने विकार रहित चित्तं अर्थात् मन सो प्रायश्चित है । सो प्रायश्चित मुझ पद्मप्रभ करके करना योग्य है। कैसा होकर के करना योग्य है निरन्तर अतंरंग मे लीन हो परम समाधि युक्त होकर, जितेन्द्री योगीश्वर की दशा में रहकर तथा पापवनके दग्ध करने को अग्नि समान भाव रखकर। तथा कैसा हूं मैं, पचेन्द्रिय के फैलाव से रहित शरीर मात्र परिग्रह का धारी हूं, स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि हूं तथा परमागमकी सुगन्ध लेने म प्रमुख हूं ।। यहाँ टीकाकार कहते हैं—मुनियों

के निरन्तर अपने आत्मा की चिन्ता होना सो प्रायश्चित होता है। इसी करके पापों को धोकर तथा अपने आत्मा के स्वभाव मे रत होकर मुनि मोक्ष को प्राप्त करते हैं। जो मुनि इसके सिवाय अन्य चिन्ता करते हैं वे मूढ़ बुद्धि पापी कामदेव के द्वारा पीड़ित होकर फिर भी पाप को करते हैं यह एक आश्चर्य की बात है ॥

इह हि सकलकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तमुक्तम्:—

कोहादिसगब्भावखयपहुदीभावणाए णिग्गहणं ।
पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो॥११४॥

क्रोधादिस्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम् ।
प्रायश्चित्त भणितं निजगुणचिंता च निश्चयतः ॥ ११४ ॥

क्रोधादिनिखिलमोहरागद्वेषविभावस्वभावक्षयकारणनिजकारणपरमात्मस्वभावभावनायां सत्यां निसर्गगहनवृत्त्या प्रायश्चित्तमभिहितम्, अथवा परमात्मगुणात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपसहजज्ञानादिसहजगुणचिंता प्रायश्चित्तं भवतीति ।

प्रायश्चित्तमुक्तमुच्चैर्मुनीनां
कामक्रोधाद्यन्यभावक्षये च ।
किं स्वस्य ज्ञान संभावना वा
सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे ॥

आगे सर्व कर्मों को उखाड़ने में स[म]र्थ जो निश्चय प्रायश्चित उसको कहते हैं :—

सामान्यार्थ—क्रोधादि अपने विभाव भावों के क्षय करने आदिकी भावना में वर्तना तथा अपने आत्मीक गुणों की चिन्ता करना सो निश्चय से प्रायश्चित्त कहा गया है ॥

विशेषार्थ—क्रोधादि सर्व मोह राग द्वेष विभाव भावों को क्षय करने में कारणभूत जो अपने कारण परमात्मा के स्वभाव की भावना उसके होते हुए निज स्वभाव ग्रहण की अपेक्षा से प्रायश्चित्त कहा गया है। अथवा परमात्मा के गुणस्वरूप शुद्ध अंतरंग तत्स्वरूप जो अपना स्वभाव उसमें सहज ज्ञानादिक जो सहज गुण हैं उनकी चिन्ता करनी सो प्रायश्चित्त होता है। टीकाकार कहते है—अतिशय करके मुनियों का प्रायश्चित्त काम क्रोधादिक जो आत्मा से अन्य भाव हैं उनके नाश के अर्थ अपने आत्मस्वभाव का जानना अथवा उसकी भावना करनी सो ही है। आत्मप्रवाद ग्रंथ में संत पुरुषों ने ऐसा ही जाना है।

चतुष्कषायविजयोपायस्वरूपाख्यानमेतत्—

कोहं खमया माणं समद्दवेण ज्जवेण मायं च ।
संतोसेण य लोहं जयदि खुए चहुविहकसाए ॥११५॥

क्रोधं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्जवेन मायां च ।
संतोषेण च लोभं जयति खलु चतुर्विधकषायाणां ॥११५॥

जघन्यमध्यमोत्तमभेदात्क्षमास्तिस्रो भवन्ति। अकारणाद्प्रियवादिनो मिथ्यादृष्टेरकारणेन मां त्रासयितुमुद्योगो विद्यते अयमपगतो मत्पुण्येनेति प्रथमा क्षमा। अकारणेन सत्रासं करस्य ताडनवाधादिपरिणामोऽस्ति, अयं चापगतो मत्सुकृतेनेति द्वितीया क्षमा। तथा सत्यमूर्तस्य परमब्रह्मरूपिणो ममापहानिरिति परमसमरसीभवस्थितिरुत्तमा क्षमा। आभिः क्षमाभिः क्रोधकषायं

जित्वा, मानकषायं मार्द्दवेन च, मायाकषायं चार्ज्जवेण, परमतत्त्वलाभं सन्तोषेण लोभकषायं चेति ।

तथाचोक्तं श्री गुणभद्रसूरिभिः—

"चित्तस्थमप्यनवबुद्धय हरेण जाड्यात्
क्रुद्धवा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्धया ।
घोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः" ॥

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत् ।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति ॥

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ॥

"वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः ।
वत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः" ॥

तथाहि—

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्द्दवेनैवं ।
मायामार्ज्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु ॥

आगे चारों कषायों के जीतने का उपाय बतलाते हैं—

सामान्यार्थ—क्रोध को क्षमा से, मान को आत्मीक मार्दव भाव से, माया का आर्जव धर्म से तथा लोभ को संतोष से इस तरह ४ प्रकार कषायों को योगी निश्चय से जीतता है ।

विशेषार्थ—जघन्य मध्यम और उत्तम भेद से क्षमा तीन प्रकार है। विना कारण के ही अप्रियवादी मिथ्यादृष्टी मेरी निन्दा करता है व त्रास देने का उद्योग करता है परन्तु मेरे पुण्य के उदय से यह कुछ न कर सका ऐसा जानकर क्षमा करना सो प्रथम जघन्य क्षमा है। बिना कारण के ही यह जीव मुझे त्रास करना और ताड़ना व बाधा देना चाहता है परन्तु मेरे पुण्य के उदय से वह मेरा कुछ विगाड़ न कर सका ऐसा जानकर क्रोध न करके क्षमा करनी सो दूसरी मध्यम क्षमा है। और यदि अपने को बाधा व त्रास प्राप्त हो तो ऐसा विचारना कि मैं अमूर्तिक परम ब्रह्म स्वरूप हूं मेरे शुद्ध स्वरूप की कुछ हानि नहीं होती है ऐसा ध्यान मे लेकर परम समता रस के भाव में ठहर जाना सो तीसरी उत्तम क्षमा है। इस प्रकार तीनो क्षमाओं से क्रोध कषाय को जीतकर तथा मार्दव भावरूप कोमल परिणामों से मानकषाय को और कपट रहित आर्जव भाव से माया को तथा परमतत्त्व का लाभरूप जो संतोष उसके द्वारा लोभ कषाय को जीतना योग्य है। ऐसा ही श्री गुणभद्र स्वामी ने कहा है—

भावार्थ—हर (महादेव) ने अपने चित्त में रहे हुये काम देव रूपी शत्रु को तो न पहचाना और अपनी मूर्खता से क्रोध करके किसी बाह्य ही प्राणी को कामदेव की बुद्धि से दग्ध किया पश्चात इसी ही कारण से वह हर भयानक दुख की अवस्था को प्राप्त हो गया—इस ही प्रकार क्रोध के उदय से किस किस के कार्य की हानि नही होती? अर्थात् क्रोध सर्व के कार्य्यों को बिगाड़ने वाला है। यह अन्यमत का दृष्टान्त ले कहा है कि महादेव जी ने बाहर दीखने वाले किसी के ऊपर क्रोध करके उसे जला दिया परन्तु अतरंग काम वासना को नहीं त्यागा

जिससे भ्रष्ट हो ऋषियों द्वारा दुःख पाया अर्थात् उसका लिंग छेदा गया ॥१॥ श्री ऋषभ देव जी के पुत्र श्री वाहुवलीजी और श्री भरत जी से जब युद्ध हुआ तब हारकर भरतजी ने वाहुवलि पर चक्र चलाया, श्री वाहुवलि चरम शरीरी थे इससे उनके दक्षिण हाथ पर आके वह चक्र बैठ गया उसी समय श्री वाहु-वली जी ने उस चक्र को त्यागकर दीक्षा धारण कर ली। आचार्य कहते हैं कि उस समय के उत्कृष्ट भावों से वह उसी समय जीवन्मुक्त हो जाते परन्तु किंचत् मान के कारण कि हम भरत जी की पृथ्वी पर खड़े है उनको चिरकाल तक तप करना पड़ा पश्चात जब मान का छोड़ा तब ही केवल ज्ञान को प्राप्त किया। आचार्य कहते हैं कि मान इस आत्मा का महान हानि करता है ॥२॥ मिथ्यात्व के भयानक गाढ़ अंधकार से भरे हुये मायारूपी महा गढ़े के भीतर गिरने से भय करना चाहिये, क्योंकि जिस मायागत में बैठ हुये क्रोधादि भयानक सर्प नहीं दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् मायाचारी के क्रोधादि कषाय भीतर बैठे होते हैं ॥ चमरी गाय भीलो के भय से भागती २ जाती है अकस्मात् उसकी पूछ वृक्ष की वेल में फस जाती है—इसको अपने वालों का बड़ा मोह होता है सो वालों के समूह में लोलुपी रहकर इस भय से कि कहीं कोई वाल टूट न जाय अपनी जड़ बुद्धि से निश्चल खड़ी रह जाती है अपनी पूंछ को छुटाकर भागती नहीं है। आचार्य खेद करते हैं कि इस लोभ के कारण वह बिचारी भील के द्वारा हती गयी। जो लोभ का परिणति रखते हैं उनको प्रायः इसी प्रकार की विपत्तियाँ नाना प्रकार की आ जाती हैं ॥ टीकाकार कहते हैं। क्रोध कषाय को क्षमा से, मान कषाय को मार्दव से, आर्जव से माया को तथा लोभ कषाय को संतोष से जीतना चाहिये ।

अत्र शुद्धज्ञानस्वीकारवत् प्रायश्चित्तमित्युक्तम्:—

उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं ।
जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स ॥११६॥

उत्कृष्टो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तं ।
यो धरति मुनिर्नित्यं प्रायश्चित्त भवेत्तस्य ॥११६॥

उत्कृष्टो यो विशिष्टधर्मः स हि परमबोधः इत्यर्थः, बोधो ज्ञान चित्तमित्यनर्थान्तरम्, अत एव तस्यैव परमधर्म्मिणो जीवस्य प्रायः प्रकर्षेण चित्तं परमसंयमी नित्य तादृश चित्तं धत्ते, तस्य खलु निश्चयप्रायश्चित्त भवतीति ।

य: शुद्धात्मज्ञानसंभावनात्मा
प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य ।
निर्द्धूतांहः संहतिं तं मुनीन्द्रं
वन्दे नित्यं तद्गुणप्राप्तयेऽहम् ॥

आगे शुद्ध ज्ञान का स्वीकार करना ही प्रायश्चित है ऐसा कहते हैं:—

सामान्यार्थ:—अपने ही आत्मा का जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है उसको जो कोई मुनि नित्य धारण करता है उसके ही प्रायश्चित्त होता है ।।

विशेषार्थ:—उत्कृष्ट जो विशिष्ट धर्म है वही परम बोध है— बोध ज्ञान और चित्त तीनों का एक ही अर्थ है ।। अतएव उसी परम धर्म के धारी आत्मा का प्राय: अर्थात् प्रकर्षपने जो चित्त अर्थात् ज्ञान सो प्रायश्चित्त है। जो कोई परम संयमी नित्य इस प्रकार के चित्त को धारण करता है उसी के हो

निश्चय प्रायश्चित्त होता है ।। टीकाकार कहते है जो कोई शुद्धात्मज्ञान की भावना को रखने वाला आत्मा है सो ही प्रायश्चित्तमात्र का धारी है। जिसने पाप के समूह को दूर कर दिया है ऐसे मुनीन्द्र को मैं नित्य उनके गुणों की प्राप्ति के लिये बन्दना करता हूं ।।

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्त, एव समस्ताचरणानां परमाचरणमित्युक्तम्:—

किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
पायच्छितं जाणह अणेयकम्माण खयहेउ ।।११७।।

किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणा महर्षीणां सर्व्वं ।
प्रायश्चित्त जानीह्यनेककर्मणां क्षयहेतु ।।११७।।

बहुभिरसत्प्रलापैरलमलं पुनः सर्व्वनिश्चयव्यवहारात्मकपरमतपश्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामाससारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां विनाशकारणं, शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

अनशनादितपश्चरणात्मकं
सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम् ।
सहजबोधकलापरिगोचरं
सहजतत्त्वमघक्षयकारणम् ।।

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात्
स्वद्रव्येस्मिन् चिन्तनं धर्म्मशुक्लं ।
कर्मध्रान्तध्वान्तसद्बोधतेजो—
लीनं स्वस्मिन् निर्विकारे महम्निः ।।

आत्मज्ञानाद भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारः ।
कर्मारण्योद्भवद: ि श ञाजालका ामजस्त्र न्
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु ध रां वमन्ती ॥

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे—
र्मयोद्धृता सयमरत्नमाला ।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे
सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम् ॥

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्व
मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवास ।
विमुक्तिवाताम्बरसौख्यमूल
विनष्टससारद्रुमूलमेतत् ॥

आगे कहते हैं कि इस लोक में परम तपश्चरण में लीन जो परम योगीश्वर हैं उनही के निश्चय प्रायश्चित होता है यही समस्त आचरणो में श्रेष्ठ आचरण है—

सामान्यार्थ—बहुत क्या कहें। महर्षियों का सर्व उत्कृष्ट तपश्चरण एक प्रायश्चित को ही जानो जो अनेक कर्मो के नाश का कारण है।

विशेषार्थ—आचार्य्य कहते हैं बहुत असत् प्रलाप कहने से बस होहु। निश्चय व्यवहार रूप सर्व उत्कृष्ट तपश्चरण एक निश्चय प्रायश्चित्त को ही हे शिष्य तुम जानो। यही परम जितेन्द्री योगियों के लिये अनादि संसार में बाँधे हुये द्रव्य कम और भाव कर्म उनको सव प्रकार से विनाश करने का कारण है। टीकाकार कहते है कि अनशनादि बारह तपरूप आचरण यही आत्मा का सहज स्वाभाविक तत्त्व है। यही शुद्ध चेतन्य

स्वरूप को जानने वाला है। यही स्वाभाविक ज्ञान की कला के गोचर है तथा यही पापों को क्षय करने का कारण है। यह प्रायश्चित निश्चय से उत्तम साधु पुरुषों को ही होता है। कैसा है यह प्रायश्चित, जो अपने आत्मीक द्रव्य में चिन्तवन स्वरूप है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान रूप है। कर्मों के अंधकार को विनाश करने के लिये सम्यग्ज्ञान रूपी तेज है तथा जो अपनी विकार रहित महिमा में लीन है। यमी साधुओं को आत्म ज्ञान से ही क्रम क्रम से आत्मा की प्राप्ति होती है और ज्ञान ज्योति प्रगट होती है। कैसी है ज्ञान ज्योति, जिसने इन्द्रियों के विषयरूप ग्राम के घोर अधकार को हतन कर दिया है तथा कर्मरूपी जगल से उत्पन्न जो दावानल की शिखा उसको बुझाने के लिये शांत जलमई अमृत की धारा को शीघ्र २ वरषा रही है। अध्यात्म शास्त्ररूपी समुद्र से मैंने इस संयम रूपी रत्नमाला को निकाला है यही निश्चय सयम रूपी रत्नमाला मुक्ति वधू के वर ऐसे जो तत्त्व ज्ञाता उनके सुकठ को सुशोभित करने वाली हो गई है, मै नित्य इस परमा म तत्त्व को नमस्कार करता हूं। जो मुनीन्द्रों के चित्तरूपी कमल का गर्भवास है, मोक्ष के अनीन्द्रिय सुख का मूल है तथा जिसने संसाररूपी वृक्ष के मूल को नष्ट कर दिया है।

अत्र प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपन यत्तत्तपः प्रायश्चित्त भवतीत्युक्तम्—

णंताणंतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि प्रायच्छित्तं तवं तम्हा ॥११८॥

अनन्तानन्तभवेन समर्जितशुभाशुभकर्म्मसंदोहः ।
तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्त तपस्तस्मात् ॥११८॥

आ संसारत एव समुपार्ज्जितशुभाशुभकर्मसंदोहो द्रव्यभावात्मक: पंचसंसारसंवर्द्धनसमर्थ: परमतपश्चरणेन भावशुद्धिलक्षणेन विलयं याति, ततः स्वात्मानुष्ठाननिष्ठं परमतपश्चरणमेव शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमित्यभिहितं ।

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म्म कर्म्मक्षयार्थ
प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानंदपीयूषपूर्णम् ।
आ समारादुपचितमहत्कर्म्मकान्तारवह्नि —
ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः ।।

आगे कहते हैं कि प्रसिद्ध ऐसा शुद्ध जो कारण समयसार परमात्मतत्त्व उसमें सदा अंतरंग से लीन होकर जो तप तपना है वही तप प्रायश्चित्त है—

सामान्यार्थ—अनतानंत भवों के द्वारा जो इस जीव ने शुभ तथा अशुभ कर्मों के समूह को उत्पन्न किया है सो सर्व कर्मजाल तपश्चरण करके नाश को प्राप्त होता है। इसलिये ऐसा तप ही प्रायश्चित्त है।

विशेषार्थ—अनादि काल से संसार में भ्रमते हुये जो शुभ तथा अशुभ कर्मों का समूह इस जीव ने पैदा किया है सो द्रव्य रूप पुद्गल कर्म्म तथा रागद्वेषादि भाव कर्म जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पाँच प्रकार संसार का बढ़ाने वाला है सो सर्व भावशुद्धि लक्षण के धारी परम तपश्चरण के द्वारा विलय को प्राप्त हो जाता है। इसलिये अपने आत्मीक तत्त्व में रमन रूप जो परम तपश्चरण सो ही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है ऐसा प्रयोजन है।

टीकाकार कहते हैं—अष्ट कर्म्मों के जाल को नष्ट करने के लिये संत पुरुषों ने ऐसे तप के सिवाय और किसी को प्रायश्चित

नहीं कहा है। कि जो तप चैतन्य के आनन्द रूपी अमृत से पूर्ण है तथा जो अनादि संसार में संग्रह किया ऐसा महान कर्मरूपी वन उसके दग्ध करने के लिये अग्नि की ज्वाला का समूह है और जो समसुखमई तथा मोक्ष रूपी लक्ष्मी का दहेज है।

अत्र सकलभावानामभावं कर्तुं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यान-मेव समर्थमित्युक्तं—

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं ।
सक्कदि काउं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं ॥११९॥

आत्मस्वरूपालम्बनभावेन तु सर्वभावपरिहाण ।
शक्नोतिः कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम् ॥११९॥

अविचलपरद्रव्यपरित्यागलक्षणलक्षिताक्षूणनित्यनिरावरण-सहजपरमपारिणामिकभावभावनया भावान्तराणां चतुर्णामौद-यिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकानां परिहारं कर्तुमत्यासन्न-भव्यजीवः समर्थो यस्मात् तदत एव पापाटवीपावक इत्युक्तम्। अतः पंचमहाव्रतपचसमितित्रिगुप्तिप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तालोच-नादिकं सर्व्वं ध्यानमेवेति।

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योतिःप्रतिहततमःपुंजमाद्यन्तशून्यम् ।

ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्द्धमानन्दमूर्ति
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोयमाचारराशिः ॥

आगे कहते हैं कि सम्पूर्ण विभाव भावो को अभाव करने के लिये अपने आत्मा ही के आश्रय से उत्पन्न जो निश्चय धर्म ध्यान वही समर्थ है—

सामान्यार्थ—यह जीव अपने आत्मीक स्वरूप के आलंबन में तन्मय जो भाव उसी से सर्व अन्य भावों को त्यागने को समर्थ हो जाता है। इसलिये सर्व प्रायश्चित्तादि ध्यान ही होता है।

विशेषार्थ निश्चल रूप से पर द्रव्य का त्याग है लक्षण जिसका ऐसे लक्षण से लक्षित जो अखंड नित्य आवरण रहित ऐसा जो स्वाभाविक परम पारिणामिक भाव उसकी ही भावना भाने से यह अत्यन्त निकट भव्य जीव औदयिक औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप से अन्य चारों भावों को तजने के लिये समर्थ हो सकता है। इसी कारण से उसी जीव के ऐसे भाव को पाप रूपी वनी के जलाने के लिये अग्नि समान कहा गया है। अतएव पांच महाव्रत पांच समिति तीन गुप्ति, ऐसे १३ प्रकार चारित्र तथा प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त और आलोचना आदि सर्व ध्यान में ही गर्भित हैं। टीकाकार कहते हैं—जो कोई भव्यजीव शुद्धात्मा में अपना मन निश्चल करके एक शुद्ध आत्मा को ही ध्याता है किस प्रकार ध्याता है, कि यह आत्मा एक है नित्य अपनी ज्योति करके मोह अंधकार के समूह को नाश करने वाला है, आदि और अन्त से शून्य है, परम कला से बिराजमान है तथा आनन्द की मूर्ति है वह जीव शीघ्र ही जीवन्मुक्त अर्थात् अरहत हो जाता है। और वही जीव समस्त आचार का प्रतिपालक है।

शुद्धनिश्चयस्वरूपाख्यानमेतत्—

सुहअ सुह वयणरयणं रायादिभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवेणियमा ॥१२०॥

शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा ।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमात् ॥१२०॥

यः परमतत्त्वज्ञानी महातपोधना द्वैतदैतंदैनं (!) संचित-सूक्ष्मकर्मनिर्मूलनसमर्थनिश्चयप्रायश्चित्तपरायणस्यापि संयमिनो मनोवाक्कायत्वाद्भववल्लीमूलकंदात्मकशुभाशुभस्वरूपप्रशस्तसमस्तवचनरचनानां निवारण करोति, न केवलमासां तिरस्कारं करोति किन्तु निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावानां निवारणं च करोति । पुनरनवरतमखडाद्वैतसुन्दरानन्दनिष्यन्दानुपमनिरंजन-निजकारणपरमात्मतत्त्व नित्यं शुद्धोपयोगबलेन संभवति, तस्य यतेः मनुष्यस्य शुद्धनिश्चयनियमो भवतीत्यभिप्रायो भगवतां सूत्रकृतामिति ।

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटं ।

परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम् ।

अनवरतमखडाद्वैतचिन्निर्विकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किंचित् ।

अपगत इह यस्मिन भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥

इद ध्यान मिदं ध्येयमयं ध्याता फल चतत्
एभिर्विकल्प जालैर्यन्निमुक्तं तन्नमाम्यहम् ।

भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योग परायणे
तस्य मुक्तिर्भवेन्नोवा को जानात्य र्हतं मते ॥

आगे शुद्ध निश्चयस्वरूपका व्याख्यान करते हैं:—

सामान्यार्थ:—जो कोई शुभ और अशुभ बचनों की रचना को दूरकर तथा रागद्वेषादि भावों को हटाकर आत्मा को ध्याता है उसी के ही नियम से नियम होता है ॥

विशेषार्थ:—जो कोई परम तत्त्व ज्ञानी महा तपोधन प्रतिदिन संचय किये गए जो सूक्ष्मकर्म्म उनके नष्ट करने में समर्थ जो निश्चय प्रायश्चित्त उसमें लीन रहता है तथा जो मुनि मन वचन काय को रोक करके संसाररूपी बेल के मूलकंद जो शुभ तथा अशुभरूप प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचन की रचना को दूर करता है, केवल इन वचनों ही का तिरस्कार नही करता किन्तु समस्त मोह रागद्वेष आदि पर भावों को भी दूर करता है फिर निरन्तर अखंड, अद्वैत, सुन्दर, आनन्द से भरपूर अनुपम तथा कर्मांजन रहित अपने कारण परमात्मतत्व को नित्य अपने शुद्धोपयोग के बल से वारंवार भावता है उसी ही यमी मनुष्य के शुद्ध निश्चयनय करके नियम होता है। यह अभिप्राय भगवान सूत्र कारका है ॥ टीकाकार कहते हैं—जो कोई भव्य जीव शुभ तथा अशुभरूप वचन की रचना को त्याग करके नित्त्य प्रगटपने स्वभावमई परमात्मा को भले प्रकार भावता है उसी ही परम जितेन्द्री और ज्ञानी मुनि के नियम से यह शुद्ध नियम होता है तथा वही नियम मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है ॥ निरन्तर अखंड अद्वैत चैतन्य के विकार रहित स्वरूप में सम्पूर्ण नयों का विलास कुछ भी प्रगट नहीं होता है। जिसमें सर्व भेदवादों का विलय हो गया है ऐसे तत्व को मैं यहाँ नमस्कार करता हूं, उसी की स्तुति करता हूं तथा उसी को बारम्बार भावना करता हूं ॥ यह ध्यान है, ध्येय है, यह ध्याता है, यह ध्यान का फल है इन विकल्प जालों से रहित

जा तत्त्व है उसी को मैं नमन करता हूं ।। जिस किसी योग में लीन योगी के कभी २ भेदवाद उठा करते हैं अर्थात् जो विकल्प भावों को प्राप्त करता है उसको अरहंत के मत में मुक्ति होगी वा नहीं कौन जानता है ।

भावार्थ—मुक्ति का कारण तो एक निर्विकल्प ध्यान ही है जहां विकल्प है वहां बंध है ।।

निश्चयकायोत्सर्गस्वरूपाख्यानमेतत्:—

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्विअप्पेण ।।१२१।।

कायादिपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहरित्वात्मानं ।
तस्य भवेत्तनूत्सर्गो यो ध्यायति निर्विकल्पेन ।।१२१।।

सादिसनिधनमूर्तिविजातीयविभावव्यंजनपर्य्यात्मक: । स्वस्याकार: काय:,आदिशब्देनक्षेत्रवास्तु । कनकरमणीप्रभृतय: एतेषु सर्वेषु स्थिरभावं सनातनभावं परिहृत्य नित्यरमणीयनिरंजननिजकारणपरमात्मानं व्यवहारक्रियाकांडाडम्बरविविधविकल्पकोलाहलनिनिर्मुक्तसहजपरमयोगबलेन नित्यं ध्यायति । य: सहजतपश्चरणक्षीरवारांराशिनिशाथिनीहृदयाधीश्वर: । तपस्विन: खलु सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेर्निश्चयकायोत्सर्गो भवतीति ।

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरलसत्कर्ममुक्ते: सकाशात् ।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्ते:
स्वात्मध्यानादपि च नियते स्वात्मनिष्ठापराणाम् ।।
जयति सहजतेज:पुंजनिर्मग्नभास्वत्—
सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम् ।

सहजपरमदृष्टया निष्ठितन्मोघजातम्
भवभवपरितापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ॥

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्य संत्यजाम्यात्मशक्त्या ।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रम्
स्फुटितनिजविलास सर्वदा चेतयेहम् ॥

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा ।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदुःकर्मणाम्
प्रभुत्त्वगुणशक्तितः खलु हतोस्मि हा संसृतौ ॥

भवसभवविषभूरुहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्धा
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुंक्ते ॥

इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्ज्जितगात्रमात्र-
परिग्रहश्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचिताया नियमसाख्याख्याया
तात्पर्य्यवृत्तौ शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकारोऽष्टमः
श्रुतस्कन्धः ॥८॥

आगे निश्चय कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते है—

सामान्यार्थ—काय आदि पर द्रव्यों में स्थिर भाव को दूर करके जो कोई विकलपरहित होकर अपने आत्मा को ध्याता है उसी के ही कायोत्सर्ग होता है।

विशेषार्थ—आदि और अन्त सहित मूर्तीक अपनी आत्म-जाति से भिन्न विभाव व्यजन पर्य्याय रूप अपने शरीर का जो आकार है सो काय है। आदि शब्द से क्षेत्र, महल, सुवर्ण, स्त्री

आदि लेना है। इन सर्व विनाशीक पदार्थो में स्थिर भाव को अर्थात् ये सदा रहेंगे ऐसे भाव को त्याग करके नित्य ही मनोहर कर्म रूपी मैल से रहित अपने स्वभावमई कारण परमात्मा को जो नित्य व्यवहार क्रिया कांड के आडंबर सम्बन्धी नाना प्रकार विकल्प उनसे पूर्ण कोलाहल (शोर-गुल) उससे रहित ऐसा जो स्वाभाविक परम योग उसके बल से ध्याता है उसी ही तपस्वी के निश्चय कायोत्सर्ग होता है। कैसा है तपस्वी, जो स्वाभाविक तपश्चरण रूपी क्षीर समुद्र को बढ़ाने के लिये चन्द्रमा के समान हृदय का ईश्वर है तथा निश्चय करके स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है। टीकाकार कहते हैं—यह निश्चय कायोत्सर्ग निश्चय से अपने आत्मा में लीन संयमी मुनियो के ही निरंतर अपने आत्मध्यान के द्वारा ही होता है। कैसा है आत्मध्यान, जहाँ शरीर से उत्पन्न जो प्रबल रूप से प्रगट होते हुये कर्म्म उनसे मुक्त रूप है अर्थात काय की क्रिया रहित है, वचनों के जालो के समूह से विरक्त है तथा मन सबंधी भावों से भी अलग है। उस स्वाभाविक परमतत्त्व की जय होउ जो अपने सहज तेज के पुंज मे मग्न होकर प्रकाशमान है जिसने मोह अन्धकार को हटा दिया है, जो स्वाभाविक परमदर्शन से परिपूर्ण है तथा वृथा ही उत्पन्न जो संसार तथा जो भव भवके दुःख और कल्पना तिन से मुक्त है। संसार के जो सुख हैं वे एक तो अल्प अर्थात थोड़े हैं। दूसरे कल्पना मात्र ही अर्थात अपनी मानी हुई बुद्धि से ही रमणीक (अच्छे) मालूम होते हैं ऐसे सर्व सुख को मैं अपनी आत्मीक शक्ति से त्यागता हूं तथा स्वाभाविक परम सुखरूप चैतन्य के चमत्कार मात्र प्रगट अपने विलासमई आत्मतत्त्व को सदा अनुभव करता हूं। आचार्य्य कहते है कि मेरे हृदय में स्फुरायमान जो समाधिमई निज

आत्मीक गुणों की संपदा उसको मैंने इस काल से पूर्व क्षणमात्र भी मैंने नहीं जाना। बड़े खेद की बात है मैं तीन जगत को अद्भुत विभूति को प्रलय करने वाले दुष्ट कर्म्मों की प्रभुताई के बल से इस महा संसार में अत्यन्त हता गया हूं अर्थात खेद उठा चुका हूं। भव भवके विषमई वृक्षों के सम्पूर्ण दुःख के कारण फलों को त्यागने योग्य जान के मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा में उत्पन्न जो विशुद्ध सुख उसी को अनुभव करता हूं।

इस प्रकार सुकविरूपी कमलों के लिये सूर्य के समान पचेन्द्रिय के प्रसार से रहित गात्रमात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारी देव से विरचित नियमसार ग्रन्थ की तात्पर्य्यवृत्ति नाम टीका तिस में शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त–अधिकार आठवां श्रुत स्कंध पूर्ण हुआ।

अखिलमोहरागद्वेषादिपरमभावविध्वंसहेतुभूतपरमसमाध्य-धिकार उच्यते।

शुद्धनिश्चयपरमसमाधिस्वरूपाख्यानमेतत्—

वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२२॥

वचनोच्चारणक्रियां परित्यक्त्वा वीतरागभावेन।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥१२२॥

क्वाचिदशुभवंचनार्थं वचनरचनामात्रप्रपंचितपरमवीतराग-सर्वज्ञस्तवनादिकं कर्तव्यम्। परमजिनयोगीश्वरेणापि परमार्थतः प्रशस्ताप्रशस्तवाग्विषयव्यापारो न कर्तव्यः, अतएव वचनरचनां परित्यज्य सकलकर्मकलंकपंकविनिर्म्मुक्तः प्रध्वस्तभावकर्म्मात्मकपरमवीतरागभावेन त्रिकालनिरावरणनित्यशुद्धकारणपरमा-

त्मानं स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्मध्यानेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूप-निरतपरमशुक्लध्यानेन च यः परमवीतरागतपश्चरणनिरतः निरपरागसंयतः ध्यायति, तस्य खलु द्रव्यभावकर्मवरूथिनीलुंटाकस्य परमसमाधिर्भवतीति ।

समाधि ना केनचिदुत्तमात्मनां
हृदि स्फुरन्ती समतानुयायिनो ।
यावन्न विद्मः सहजात्मसंपदं
न मादृशां या विषया विदामहि ।।

परमसमाधि-अधिकार

आगे सम्पूर्ण मोह रागद्वेष आदि परभावों को नाश करने का कारण भूत जो परमसमाधि नाम अधिकार उसको कहते हैं। तहां प्रथम ही शुद्धनिश्चय परम समाधि का व्याख्यान करते हैं—

सामान्यार्थ—जो कोई अपने वीतराग भाव से वचनों से बोलने की क्रिया को त्याग करके अपने आत्मा को ध्याता है उसी के ही परम समाधि होती है।

विशेषार्थ—परम जिन योगीश्वर भी कभी अपनी अशुभ प्रवृत्ति को हटाने के लिये वचन रचना से मनोज्ञ ऐसी परम वीतराग सर्वज्ञ देव की स्तुति करते हैं। तौ भी निश्चय से योगीश्वर को शुभ अशुभ वचनों का व्यापार नहीं करना योग्य है। अतएव समस्त वचन की रचना को त्याग करके सर्व कर्म रूपी कलंक की कीचड़ से रहित हो अपने रागद्वेष भावों को

हटाने वाले ऐसे परम वीतराग भाव के द्वारा तीनों कालों में आवरणरहित नित्य ही शुद्ध कारण परमात्मा को अपने ही आत्मा का है आश्रय जिसको ऐसे निश्चय धर्म ध्यान के बल से अथवा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव में लवलीन ऐसा जो परम शुक्ल ध्यान उसके बल से जो कोई परम वीतराग स्वरूप तपश्चरण में लीन, राग रहित संयमी ध्याता है उसी साधु के निश्चय से परम समाधि होती है। कैसा है साधु, जो द्रव्य कर्म और भाव कर्म की सेना को लूटने वाला है। टीकाकार कहते हैं– किसी अपूर्व समाधि के द्वारा उत्तम आत्माओं के हृदय में प्रगट होने वाली समता के साथ २ रहने वाली जो स्वाभाविक आत्मीक सम्पदा उसका जब तक हम लोग नहीं जानते तबतक यह समाधि हमारा विषय नहीं है ऐसा हम मानते हैं। अर्थात् समाधि का लाभ कठिन है।

इह हि समाधिलक्षणमुक्तम्—

संजमणियमतवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स ॥१२३॥

संयमनियमतपसा तु धर्मध्यानेन शुक्लध्यानेन ।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य ॥१२३॥

संयमः सकलेन्द्रियव्यापारपरित्यागः नियमेन स्वात्माराधनातत्परता आत्मानमात्मना संधत्त इत्यध्यात्मं तपनं सकलक्रियाकांडाडम्बरपरित्यागलक्षणान्तःक्रियाधिकरणमात्मानं निरवधित्रिकालनिरुपाधिस्वरूपं यो जानाति तत्परिणतिविशेषः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानं ध्यानध्येयध्यातृत्वफलादिविविधविकल्पनिर्मुक्तं, तैरन्तर्मुखाकारैर्निखिलकरणग्रामागोचरनिरंजननिजपरमतत्त्वाविचलं स्थितिरूपं निश्चयशुक्लध्यानं, एभिः सामग्री-

विशेषैः सार्द्धमखंडाद्वैतपरमचिन्मयम् आत्मानं यः परमसंयमो नित्यं ध्यायति, तस्य खलु परमसमाधिर्भवति।

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्य तिष्ठति चिन्मयम्।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मान त नमाम्यहम्॥

आगे समाधि का लक्षण कहते हैं

सामान्यार्थ—सयम, नियम और तप के द्वारा धर्म ध्यान अथवा शुक्ल ध्यान से जो आत्मा को ध्याता है उसी के ही परम समाधि होती है।

विशेषार्थ—सब इन्द्रियो के व्यापार का त्यागना सो संयम है। अपने आत्मा को आराधना में नियम से तल्लीन रहना सो नियम है। आत्मा को आत्मा के द्वारा धरा जाय सो ही अध्यात्मीकता है। सर्व क्रियाकांड के आडबर का है त्याग जहाँ ऐसे अतरग क्रिया के आधार रूप आत्मा को जो मर्यादा रहित तथा तीनों कालों में कर्मों की उपाधि अर्थात् आपत्ति से रहित स्वरूप जानता है उस ज्ञान की जो परिणति विशेष है वही अपने आत्मा के आश्रय में तिष्ठने वाला निश्चय धर्म ध्यान है। अर्थात् आत्म स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होकर स्वरूप के ज्ञान में निश्चलता सो ही निश्चय धर्म्मध्यान है। जहाँ ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान के फल को आदि ले नाना प्रकार के विकल्प नही है तथा जो सम्पूर्ण विकल्प संकल्पों को आदि ले इन्द्रिय ग्रामों के विषयों से अगोचर आत्मीक परम तत्त्व की निश्चल स्थिति रूप है वही निश्चय शुक्ल ध्यान है। इत्यादि विशेष सामग्रियों के साथ जो कोई परम संयमी अखंड अद्वैत परम चैतन्यमई आत्मा को नित्य ध्याता है उसी के निश्चय से यह परम समाधि होती है। टीकाकार कहते हैं—जो कोई चैतन्यमई

निर्विकल्प समाधि में नित्य ठहरता है उस आत्मा को मैं नमस्कार करता हूं। कैसा है आत्मा, जो द्वैत और अद्वैत के विकल्पों से रहित है।

अत्र समातामन्तरेण द्रव्यलिङ्गधारिणः श्रमणाभासिनः किमपि परलोककारण नास्तीत्युक्तम्:—

किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥१२४॥

कि क्रियते वनवास: कायक्लेशो विचित्रोपवास:।
अध्ययनमौनप्रभृतय: समतारहितस्य श्रमणस्य ॥२१४॥

सकलकर्मकलकपकविनिर्मुक्तमहानंदहेतुभूतपरमसमताभावेन विना कान्तारवासप्रवासेन प्रवृषि वृक्षमूले स्थित्वा, च, ग्रीष्मेऽतितीव्रकरकरसतप्तपर्व्वताग्रग्रावनिषण्णतया वा. हेमन्ते च रात्रिमध्ये ह्याशावरदशाफलेनच, त्वगस्थिभूतसर्वाङ्गक्लेशदायिना महोपवासेन वा, सदाध्ययनपटुतया च वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिलक्षणेन संततमौनव्रतेन वा, किमप्युपादेयं फलमस्ति केवलं द्रव्यलिंगधारिण: श्रमणाभासस्येति।

तथाचोक्तम् अमृताशीतौ—

गिरिगहणगहारण्यान्यशून्यप्रदेश—
स्थितिकरणनिरोधध्यानतीर्थोपसेवा
पठनजपहोमैर्ब्रह्मणो नास्ति सिद्धि:
मृगय तदपरं त्वं भो: प्रकार स्वसारं"

तथाहि—

अनशनादितपश्चरणै: फलम्
समतया रहितस्य यतेन हि।

तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं
भज मुने समताकुलमंदिरम् ॥

आगे कहते हैं कि जो कोई समताभाव के बिना केवल द्रव्यरूप बाह्यलिंग अर्थात् चिन्ह को धारणे वाला द्रव्यलिंगी श्रमणाभास है अर्थात् यथार्थ में मुनि नही परन्तु मुनि सदृश मालूम होता है उसके मोक्ष का कुछ भी उपाय नहीं है—

सामान्यार्थ—जो श्रमण (दिगम्बर मुनि) समता से रहित है उसको बनवास, अथवा कायक्लेश व नाना प्रकार के उपवासों का करना व शास्त्र पठन तथा मौनव्रत यह सर्व ही क्या कर सकते हैं ? । अर्थात् मोक्ष के साधन को करने में असमर्थ है ।

विशेषार्थः—सर्व कर्मकलंकरूपी कीच से रहित महानंदका कारण यह परम समता भाव है । यदि यह भाव न हो और केवल द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास वन में वास करे, व वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे ठहरे, गर्मी में अत्यन्त तीव्र किरणों से संतप्त पर्वत के शिखर पर बैठकर आसन लगावे, अथवा शीतऋतु में रात्रि के मध्य में दिशाओं के ही वस्त्र का लिहाफ ओढे अर्थात् चौड़े मैदान में बैठ नग्नावस्था में रह ध्यान लगावे, त्वचा और हड्डी को दिखलाने वाला व सर्व अंग को क्लेश देने वाला उपवास महोपवास करे व सदा शास्त्र पढ़ाने में ही चतुर हो अथवा बचनों के व्यापार को त्यागकर सदा मौनव्रत ही धारण करे तो भी उसे कुछ भी मोक्ष के कारणभूत फल की प्राप्ति नहीं है । भावार्थ—समताभाव के साथ में तो ये सर्व उपादेय हैं परन्तु समताभाव रहित जीव के इनसे कोई भी ग्रहण योग्य फलका लाभ नहीं है । ऐसा ही श्री अमृतशीति ग्रंथ में कहा है:—कि पर्वत की भयानक गुफा में, बन में, व दूसरे किसी शून्य प्रदेश में बैठने से, इद्रियों को रोकने से, ध्यान से व तीर्थों

की यात्रा से, पढने से, अथवा जप होम करने से ब्रह्म को सिद्धि नहीं है। इसलिये हे प्राणी तू उत्कृष्ट रूप, इन सर्व से अन्य, अपने आत्मा के सार को ही ढूँढ। टीकाकार कहते हैं:—जो यती समता भाव से रहित हो अनशनादि द्वादश तपों को पालता है उसके कार्य्य की सिद्धि नही है। इसलिये हे मुनि! तू आकुलता से रहित समतादेवी का जो कुलमंदिर ऐसा जो अपना आत्मीक तत्त्व उसी का ही भजन कर।

इह हि सकलसावद्यव्यापाररहितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सकलेन्द्रियव्यापारविमुखस्य तस्य च मुनेः सामायिक व्रतं स्थायीत्युक्तः:—

विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तोपिहिंदिदिओ ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥

विरतः सर्वसावद्ये त्रिगुप्तिपिहितेन्द्रियः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२५।

अथात्रैकेन्द्रियादिप्राणिनिकुरंबक्लेशहेतुभूतसमस्तसावद्यव्यासंगविनिर्मुक्तः, प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तकायवाङ्मनसा व्यापाराभावात् त्रिगुप्तः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपञ्चेन्द्रियाणां मुखैस्तत्तद्योग्यविषयग्रहणाभावात् पिहितेन्द्रियः। तस्य खलु महामुमुक्षोः परमवीतरागसंयमिनः सामायिकं व्रत शश्वत् स्थायि भवतीति।

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्वसावद्यराशिं
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानां
अन्तःशुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति ॥

आगे कहते हैं जो मुनि सब पाप रूप व्यापार से रहित हो मन वचन की गुप्ति में गुप्त हो सर्व इन्द्रियों के व्यापारों को छोड़कर अपने आत्मा के सन्मुख होता है उसी के सामायिकव्रत स्थायी (तिष्ठनेवाला) होता है:—

सामान्यार्थ:—जो सर्व शासन अर्थात् सावद्य क्रियाओं से विरक्त हो तीन गुप्तियों को धार के अपनी इन्द्रियों को संकोचता है उसी के हो सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली भगवान के आगम में कहा है।

विशेषार्थ:—जो कोई महा मुमुक्षु मुनि एकन्द्रिय आदि प्राणियो के समूहों को दु:ख देने का कारण जो सम्पूर्ण पाप सहित व्यापार उससे अलग होकर, शुभ अशुभ सर्व काय, वचन और मन के व्यापारों को त्यागकर तीन गुप्त रूप होता है तथा स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों के सन्मुख हो उनके योग्य जो विषय करने वाले पदार्थ उनको ग्रहण न करके जितेन्द्री रहता है उसी हो परम बीतराग सयमी के यह सामायिक व्रत शाश्वता सदा ठहरने वाला होता है। टीकाकार कहते हैं—इस प्रकार संसार के भय को करने वाली सर्व पाप की राशि को त्यागकर तथा मनवचन काय के रात्रि दिन के विकारों को नाश करके जो कोई जीव अन्तरंग शुद्ध अपनी परम ज्ञान ज्योति का कला उसके साथ एक आतमा को ही अनुभव करता है वही मुनि स्थिर और समतामई शुद्ध आत्मीक स्वभाव को प्राप्त करता है।

परममाध्यस्थ्यभावाद्यारूढस्थितस्य परममुमुक्षो: स्वरूपमत्रोक्तम्:—

जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसु वा ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२६॥

य: सम: सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु वा।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२६।

य: सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणि: विकारकारणनिखिलमोहरागद्वेषाभावाद् भेदकल्पनापोढपरमसमरसीभावसनाथत्वात्त्रसस्थावरजीवनिकायेषु सम:, तस्य च परमजनयोगीश्वरस्य सामायिकाभिधानव्रतं सनातनमिति वीतरागसर्वज्ञमार्ग सिद्धमिति।

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा
परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्रम्।
अपि चरमगत यन्निर्मलं कर्म मुक्त्यै—
तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि॥

केचिदद्वैतमार्गस्था: केचिद्द्वैतपथे स्थिता:।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम्॥

कांक्षंत्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनौम्यहम्॥

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहु:॥

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरै:
अखंडानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषय:।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति तत: कश्चिदचिरात्
तमेकं वन्देहं भवभयविनाशाय सततम्॥

सुखं दु:खं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं
शुभाभावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा नच नच।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो वाढमिहि नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणै: स्तौमि तमहम्॥

इदमिदमघसेनावैजयन्तीं हरेत्ताम्
स्फुटितसहजतेज:पुंजदूरीकृतांह:।

प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं—
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम् ॥

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकम्
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम् ।

विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम् ॥

आगे परम माध्यस्थ भावादि में आरूढ़ जो परम मुमुक्षु उसका स्वरूप कहते हैं:—

सामान्यार्थ— जो सर्व त्रस और स्थावर प्राणियों में समता भाव रखता है उसी के ही सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवली के आगम में कहा है।

विशेषार्थ—जो स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है और विकारों के कारण जो सर्व मोह राग द्वेष आदि भाव उनके अभाव से तथा भेदकल्पना रहित परम समरसी भाव का स्वामित्त्व रखने से जो सर्व त्रस और स्थावर जीवों में सम है अर्थात् द्वेषरहित समदर्शी है उसी ही परम जिनयोगीश्वर के सामायिक नाम का व्रत सनातन व्रत होता है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञ के आगम में सिद्ध है। टीकाकार कहते हैं—परम जितेन्द्री मुनियों का चित्त त्रस हति से मुक्त है तथा स्थावर जीवों के बध से भी अतिशय करके भिन्न है। कर्मों से मुक्ति होने के लिये ऐसा जो निर्मल मुनियों का चित्त अन्तिम शुद्ध अवस्था को प्राप्त है उसी को मैं नमन करता हूं, स्तुति करता हूं तथा उसी की भावना करता हूं। कोई जीव अद्वैत मार्ग ही में स्थित हैं, कोई

द्वैत मार्ग में लीन है परन्तु हम द्वैत और अद्वैत से रहित ऐसे आत्मा में ही वर्तन करते है। कोइ अद्वैत को तथा कोई द्वैत को चाहते है परन्तु मै द्वैत, अद्वैत से रहित आत्मा का ही नमन करता हूं। मैं आत्मा हूं स्वसुख का चाहनेवाला हूं इससे मै अपने आत्मा ही में ठहरकर आत्मा ही के द्वारा जन्म और नाश से मुक्त ऐसे अपने आत्मा को ही वारंवार भावता हू। संसार के बढानेवाले इन विकल्पों के वचनों से पूरी पड़ो अर्थात् इनसे कुछ कार्य्य की सिद्धि न होगी—यह आत्मा खड रहित आनन्दमई, सर्व नयों के समूहों का विषय नहीं है न यह द्वैत तथा अद्वैत रूप है इसलिये मैं उसी एक को विना विलम्ब सदा ही अपने ससार के भय को नाश करने के लिये वन्दना करता हूं। इस जन्म में पाप पुण्य के समूह से उत्पन्न सुख और दुःख होता है। जिस आत्मा म न तो शुभभाव न अशुभ परिणति है, जो भवके परिचय से अत्यन्त रहित तथा भव के करने वाले औगुणों के समूहों से विमुक्त है उसी आत्मा को मैं नमस्कार करता हूं। इस जगत में नित्य ही यह चैतन्य का चमत्कार मात्र स्वरूप जयवन्त होहु। कैसा स्वरूप, जो पाप को सेना को ध्वजा को हरने वाला है, जिसने अपने स्पष्ट स्वाभाविक तेज से पापों के समूहों को दूरकर दिया है तथा अत्यन्त प्रबल मोह अधकार अस्त किया है और जो अत्यन्त शुद्ध है। यह पापरहित आत्मीक तत्व जय को प्राप्त होहु। जिसने समस्त संसार को अस्त कर दिया है जो महामुनिगणों के नाथ जो परम योगीश्वर उनके हृदय में कमल के समान स्थित है, भव के कारणों को जिसने विध्वंस करडाला है, जो प्रगटपने शुद्ध है। एक रूप से सदा अपनी महिमा में लीन है तौ भी सम्यग्दृष्टियों के अनुभव गोचर है।

अत्राध्यात्मैवोपादेय इत्युक्तः

जस्ससण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स समाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२७॥

यस्य सन्निहिते आत्मा सयमे नियमे तपसि ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२७॥

तस्य खलु बाह्यप्रपंचपराङ्मुखस्य निर्जिताखिलेन्द्रियव्यापारस्य भाविजिनस्य पापक्रियानिवृत्तिरूपे बाह्यसमये कायवाङ्मनोगुप्तिरूपसकलेन्द्रियव्यापार वर्जितेऽभ्यन्तरात्मनि परिमितिकालाचरणमात्रे नियमेन परब्रह्मचिन्मयनियतनिश्चयान्तर्गताचारे स्वस्य स्वरूपेऽविचलस्थितिरूपे व्यवहारप्रपचाचितपचाचारे पचमगतिहेतुभूते किंचन भावप्रपचपरिहीण सकलदुराचारनिवृत्तिकारणे परमतपश्चरणे च परमगुरुप्रसादोदितनिरजननिजकारणपरमात्मा सा सन्निहित इति कवलिनां शासने तस्य परद्रव्यपराङ्मुखस्य परमवीतरागसम्यग्दृष्टेर्वीतरागचारित्रभाजः सामायिकव्रतस्थायि भवतीति ।

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनां शुद्धदृष्टेमनश्चेत् ।

तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाधिरामे ॥

आगे कहते हैं कि आत्मा ही उपादेय हैः—

सामान्य अर्थ—जिसके संयम पालते नियम करते व तप धरते एक आत्मा ही निकटवर्ती है उसी के सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली के आगम में कहा है ।

विशेषार्थ—जो निश्चय करके बाह्य प्रपंच जालों से अलग है, जिसने सर्व इन्द्रियों के व्यापारों को जीत लिया है, जो भावी जिन है ऐसा मुनि जब पाप क्रियाओं के त्यागरूप बाह्य संयम में तथा मन वचन काय की गुप्ति सहित सर्व इन्द्रियों के व्यापार से वर्जित हो अभ्यंतर आत्म रूप संयम में तिष्ठता है तथा किसी मर्यादा रूप बाँधे हुये काल तक किसी आचरण को करना है स्वरूप जिसका ऐसे नियम में रहता है तथा परब्रह्म चैतन्य-मई नियत निश्चय अन्तरंग लीन और स्वस्वरूप में अविचल स्थिति रूप चारित्र में व व्यवहार नय के आधीन दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य्य ऐसे पांच आचार रूप पचमगति जो मोक्ष उसके कारण भूत चारित्र में प्रवर्तता है और समस्त भावों के प्रपचों से रहित तथा सकल दुराचार की निवृत्ति का जो कारण ऐसे तपश्चरण में तन्मय होता है; उसी ही मुनि के परम गुरु के प्रसाद से प्राप्त जो निरंजन निज कारण परमात्मा सो सदा निकट ही रहता है। अर्थात् वह मुनि हरएक संयम, नियम और तप में परमात्मा की शुद्धता को भावता है। ऐसे ही पर द्रव्यों से पराङ्मुख अर्थात् विरुद्ध, परम वीतराग सम्यग्दृष्टी तथा वीतराग चारित्रवान मुनि के सामायिक व्रत सदा तिष्ठने वाला होता है ऐसा कथन केवली महाराज के आगम में कहा है।

टीकाकार कहते हैं—यदि मन में शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है तो यह आत्मा नित्य ही परम यम के धारी मुनियों के तप में, नियम में, सयम में तथा सम्यक् चारित्र में अतिशय से विराजता है। ऐसे ही समस्त राग की मनोज्ञता को अस्त करने वाले तथा ससार के भय को हरने वाले आगामी तीर्थ कर पद प्राप्त करने वाले आत्मा में यह स्वाभाविक समता साक्षात् शोभती है।

इह हि रागद्वेषाभावादपरिस्पंदरूपत्वं भवतीत्युक्तम्—

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेति दु ।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२८॥

यस्य रागस्तु द्वेषस्तु विकृतिं न जनयति तु ।
तस्य सामायिक स्थायि इति केवलिशासने ॥१२८॥

यस्य परमवीतरागसंयमिनः पापाटवीपावकस्य रागो वा द्वेषो वा विकृतिं नावतरित तस्य महानन्दाभिलाषिणः जीवस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य सामायिकनामव्रत शास्वत भवतीति केवलिनां शासने भवतीति ।

रागद्वेषौ विकृतमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे ।
आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
तस्मिन्नित्ये समरसमये को विधिः को निषेधः ॥

आगे कहते हैं कि राग द्वेष के अभाव से अपरिस्पदरूप पना अर्थात् हलन चलन रहित पना प्राप्त होता है—

सामान्यार्थ—जिसके राग द्वेष विकार नही पैदा होते हैं उसी के सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली के आगम में कहा है ।

विशेषार्थ—जो परमवीतराग संयमी पापरूपी वन के जलाने को अग्नि के समान हैं उनके न तो राग और न द्वेष का विकार पैदा होता है ऐसे ही महा आनन्द के चाहने वाले जीव के तथा पंचेद्रियों के फैलाव रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारी मुनि के सामायिक व्रत शाश्वता अविनाशी होता है ऐसा केवली भग-

वान के शासन में प्रसिद्ध है। टीकाकार कहते हैं कि राग द्वेष विकारों को करने के लिये महामुनि समर्थ नहीं है (?) अर्थात् उनके रागद्वेष हो ही नही सकते है। जिसने अपनी ज्ञान ज्योति से पाप रूपी सेना का घोर अंधकार दूर कर दिया है, जो स्वाभाविक परमानन्द रूपी अमृत से पूर्ण है तथा नित्य हो समता के रस से भरपूर है ऐसे मुनि के लिये विधि और निषेध की कौनसी गति है? अर्थात् रागद्वेष हैं व नहीं यह विकल्प ही नहीं उठ सकता।

आर्तरौद्रध्यानपरित्यागात् सनातनसामायिकव्रतस्वरूपाख्यानमेतत्—

जो दु अट्टं च रुद्दं च झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१२९॥

यस्त्वार्त्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१२९॥

यस्तु नित्यनिरंजननिजकारणसमयसारस्वरूपनियतशुद्धनिश्चयपरमवीतरागसुखामृतपानपरायणो जीवः तिर्यग्योनिप्रेतावासनारकादिगतिप्रायोग्यतानिमित्तं आर्तरौद्रध्यानद्वयं नित्यशः संत्यजति तस्य खलु केवलदर्शनसिद्धं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति।

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति।
यस्त्यजतिमुनिर्नित्यं, ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम् ॥

आगे कहते है कि आर्त्त रौद्रध्यान के त्याग से ही सनातन सामायिक व्रत होता है—

सामान्यार्थ—जा नित्य आर्त्त और रौद्र ध्यानो को हटाता है उसी के सामायिक व्रत स्थायो होता है ऐसा केवलो महाराज के आगम में कहा है।

विशेषार्थ—जो कोई जीव नित्त्य निरजन निज कारण समयसार स्वरूप में स्थिर रह निश्चय परम वीतराग सुखरूपी अमृत के पान करने में लवलोन है वह जीव तिर्यंच यानि तथा नरक आदि गति को प्राप्त कराने का निमित्त जो आर्त्त और रौद्र दोनों ध्यान उनको नित्य ही त्यागता है। उसी के निश्चय करके केवल दर्शनधारी द्वारा सिद्ध किया हुआ शाश्वत सामायिक व्रत होता है। टीकाकार कहते हैं—जो मुनि नित्त्य आर्त्त और रौद्र ध्यानों को त्यागता है उसी के सामायिक व्रत होता है तथा उसी श्रावक के यह सामायिक अणुव्रत रूप होता है, ऐसा जिन शासन में सिद्ध है।

शुभाशुभपरिणामसमुपजनितसुकृतदुरितकर्मसंन्यासविधानाख्यानमेतत्—

जो दु पुण्णं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

यस्तु पुण्यं च पापं च भावं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३०॥

बाह्याभ्यतरपरित्यागलक्षणलक्षितानां परमजिनयोगीश्वराणां चरणनलिनसंबाहनादिवैयावृत्यकरणजनितशुभपरिणतिविशेषसमुपार्जित पुण्यकर्म, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपरिणामसंजातमशुभकर्म, यः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिः संसृतिपुरं-

ध्रिकाविलासविभ्रमजन्मभूमिस्थानं, तत्कर्मद्वयमिति त्यजति, तस्य नित्यं केवलिमतसिद्ध सामायिकव्रतं भवतीति ।

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेमूलभूतम्
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम् ।
तस्मिन् सद्दृग् विहरति सदा शुद्धजीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनः स्यात् ।।

स्वतःसिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्यदहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतरतेजोमयमिदम् ।
विनिर्मुक्तेर्मूलं निरुपधिमहानंदसुखदं
यजाम्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम् ।।

अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवधू—
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनितसौख्याकुलमतिः ।
क्वचिद् भव्यत्वेन व्रजति तरसा निर्वृतिसुखं
तदेकं संत्यक्त्वा पुनरपि स सिद्धो न चलति ।।

आगे शुभ तथा अशुभ परिणामों से उत्पन्न जो पुण्य और पाप कर्म उनके त्याग करने का विधान बतलाते हैं—

सामान्यार्थ—जो कोई नित्य पुण्य और पाप भावों को त्यागता है उसी के सामायिकव्रत स्थायी होता है ऐसा केवली महाराज के आगम में कहा है ।

विशेषार्थ—जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह को त्याग करना है लक्षण जिसका ऐसे लक्षण से जो लक्षित (चिन्हित) हैं ऐसे परम जितेन्द्री जिन योगीश्वरों के चरण कमलों का धोना संवारना आदि वैय्यावृत्य अर्थात् सेवा करना उससे पैदा हुई जो आत्मा की शुभ परिणति विशेष उससे उत्पन्न हुआ जो पुण्य कर्म्म तथा हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह इन

पांचों पापों के परिणामों से पैदा हुआ जो अशुभ कर्म इन दोनों पुण्य और पापों का जा कोई स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणि है सा त्याग देता है। कैसे हैं ये दोनों कर्म्म, जो ससार रूपी स्त्री के विलास के विभ्रम को जन्म भूमि हैं अर्थात् इन्हो कर्मों के निमित्त से संसार में जीव भ्रमण करता है। इन्ही कर्म्मों के राग का त्यागी जीव नित्य केवली भगवान द्वारा सिद्ध किया हुआ सामायिक व्रत को प्राप्त होता है। टीकाकार कहते हैं कि सम्यग्दृष्टी जीव संसार के मूलभूत सर्व पुण्य और पापों को त्याग करके अपने नित्य आनद रूप सहज शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है तथा उसी अपने शुद्ध जीवास्तिकाय में हो वहार करता है पश्चात् वही जीव अतिशय करके तीन लोक के जनों से पूजनीक जिनेन्द्र केवली हो जाता है। मैं नित्य ही उस आत्म ज्ञान की पूजा करता हूं। जो स्वयं सिद्ध है पाप पुण्य रूपी बन के जलाने के लिये अग्नि समान है, महा मोह रूपी अन्धकार के दूर करने को अत्यन्त तेजरूप है, मुक्ति का मूल है, उपाधि रहित महा आनन्द का देने वाला है तथा भव भव के भ्रमण को नाश करने में निपुण है। यह जीव कामदेव से उत्पन्न जो सुख उसके लिये अपना बुद्धि को क्षोभित किये हुये ससार रूपी वधू के बरपने को प्राप्त हाकर पापरूपो कुल के सम्बन्ध से संसार में अपने प्राण धारण करता है। कदाचित् अपनी गति को बदल कर जब यह शीघ्र मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है तब उस एक सुख को तज कर फिर वह सिद्ध जोव अपनी अवस्था को नहीं चलायमान करता है। अर्थात् सदा एकाकार स्वभाव में तल्लीन रहता है।

नवनोकषायविजयेन समासादितसामायिकचरित्रस्वरूपाख्यानमेतत्—

जो दु हस्सं रई सोगं अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३१॥
जो दुगंछा भयं वेदं सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई इदि केवलिसासणे ॥१३२॥ जुम्मं

यस्तु हास्य रति शोक अरति वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३१॥
यः जुगुप्सां भयं वेदं सर्वं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३२॥युग्मं

मोहनीयकर्मसमुपजनितस्त्रीपुंनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साभिधाननवनोकषायकलितकलंकपंकात्मकसमस्तविकारजालकं परमसमाधिबलेन यस्तु निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमतपोधनः संत्यजति, तस्य खलु केवलभट्टारकशासनसिद्धपरमसामायिकाभिधानव्रतं शाश्वतरूपमनेन सूत्रद्वयेन कथितं भवतीति।

त्यजाम्येतत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहम्
मुदा संसारस्त्रीजनितसुखदुःखावलिकरं।
महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभकरम्
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसा ॥

आगे नव नोकषायों के जीतने से सामायिक चारित्र प्राप्त होता है उसका स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो हास्य, रति, शोक, अरति, जुगुप्सा, भय, तीन प्रकार वेद ऐसे सर्व नोकषायों को नित्य दूर रखता है उसी

के ही यह सामायिक स्थायी होती है, ऐसा श्री केवली के शासन में कहा है ।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म्म द्वारा उत्पन्न जो स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा अर्थात् घृणा, ऐसे नव प्रकार नोकषाय अर्थात ईषत (किंचित) कषाय हैं इनमे संयुक्त जो कलंक रूपी कीचड़ उसमई सर्व ही विकारों के समूह को परम समाधि के बल से जो कोई निश्चय रत्नत्रय का धारी परम तपोधन मुनि त्याग देता है उसी के ही निश्चय से यह परम सामायिक नाम का व्रत शाश्वत रूप से रहता है । यही बात केवली भट्टारक के आगम में सिद्ध है। टीकाकार कहते हैं कि मै ससार रूपी स्त्री से पैदा जो सुख दु:खों के समूह उनको करने वाले सर्व ही नोकषायों को हर्ष पूर्वक त्यागता हूं । कैसा है यह नो कषाय, जो महा मोह से अन्धे पुरुष हैं उनके हृदय में सदा ही सुगमता से उपजा करता है, परन्तु जो आत्मा की समाधि में लवलीन निरन्तर आनन्द मनरूप हैं उनके चित्त में इनका उपजना अत्यन्त दुर्लभ है ।

परमसमाध्यधिकारोपसहारोपन्यासोऽयम् -

जो दु धम्मं च सुक्कं च झाणं झाएदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई इवि केवलिसासणे ॥१३३॥

यस्तु धर्म्मं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने ॥१३३॥

यस्तु सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनलोलुपः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मध्यानेन निखिलविकल्पजालनिर्म्मुक्तः, निश्चयशुक्लध्यानेन च अनवरतमखडाद्वैतसहजचिद्विलासलक्षण-

मक्षयानन्दाम्भोधिमज्जनं सकलबाह्यक्रियापराङ्मुखं शश्वदतः-क्रियाधिकरणं स्वात्मनिष्ठनिर्विकल्पपरमसमाधिसपत्तिकारणाभ्यां ताभ्यां धर्मशुक्लध्यानाभ्यां सदाशिवात्मकमात्मान ध्यायति हि तस्य खलु जिनेश्वरशासनं निष्पन्नं नित्य शुद्ध त्रिगुप्तिगुप्त-परमसमाधिलक्षणं शाश्वत सामायिकव्रतं भवती त ।

शुक्लध्याने परिणतिमतिः शुद्ध रत्नत्रयात्मा
धर्मध्यानेप्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन् ।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दुःखजाल विशाल
भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूरम् ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-पंचेन्द्रियप्रसरवर्जित गात्रमात्रपरिग्रह-
पद्मप्रभमलधारिदेवविरचिताया नियमसारव्याख्यायां
तात्पर्य्यवृत्तौ परमसमाध्यधिकारो नवमः श्रुतस्कन्धः ।९।

आगे परम समाधि अधिकार को संकोच करते हुये कहते हैं—

सामान्यार्थ जो कोई नित्य ही धर्म्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है उसी के ही यह सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली के आगम में कहा है ।

विशेषार्थ—जो कोई सर्वथा प्रकार निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन का लोलुपी (अभिलाषावान) है तथा समस्त विकल्प जालों से मुक्त परम जितेन्द्री योगोश्वर हे सो अपने आत्मा ही में है आश्रय जिसका ऐसे निश्चय धर्म्म ध्यान के द्वारा तथा निश्चय शुक्लध्यान से निरन्तर, खंड रहित, अद्वैत स्वाभाविक चैतन्य के विलासमई लक्षणस्वरूप अविनाशी आनन्द के सागर में डूबे हुए, सम्पूर्ण बाह्य क्रियाओं से पराङ्-मुख अर्थात् अलग, शाश्वता, अन्तरग का आधारभूत ऐसे आत्मा

का मनन करता है अथवा आत्मा में तन्मयरूप विकल्प रहित परमसमाधि के ऐश्वर्य्य को कारण ऐसे धर्म्म और शुक्ल ध्यानों से सदा मोक्षस्वरूप आत्मा का ध्यान करता है उसी के ही निश्चय से जिनेश्वर के आगम में प्रतिपादित नित्य शुद्ध मन वचन काय की गुप्तिरूप समाधि है लक्षण जिसका ऐसा अविनाशी सामायिक व्रत होता है। टीकाकार कहते हैं—जो कोई शुद्ध रत्नत्रय का धारी आत्मा शुक्लध्यान में अपनी बुद्धि को परिणमाता है अथवा अघरहित परमानंद तत्त्व का है आश्रय जिसको ऐसे धर्मध्यान में लीन होता है वही तत्त्वज्ञानी अतिशय से सम्पूर्ण भेदों के अभाव से ऐसे किसी विशाल तत्त्व को प्राप्त करता है जिसमें बड़े बड़े दुःख जाल का अन्त हो गया है तथा जो भव्य जीवों के वचन और मन के मार्गों से दूर है। अर्थात् जो अतीन्द्रिय भाव गम्य है। भावार्थ—आत्मा की परमसमाधि से उत्पन्न परमामृत का पान करने के लिये आत्म स्वभाव में लवलीन ऐसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ही आवश्यकता है ॥१३३॥

इस प्रकार सुन्दर कविरूपी कमलों के लिये सूर्य्य समान पंचेन्द्रिय के फैलाव से रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारी श्री पद्मप्रभमलधारि देव द्वारा कथित श्री नियमसार की तात्पर्य्यवृत्ति नाम व्याख्या में परमसमाधि नाम का ९ मां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

अथ संप्रति हि भक्त्यधिकार उच्यते।

रत्नत्रयस्वरूपाख्यानमेतत्:—

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वदिभत्ती होदित्ति जिणेहि पण्णत्तं ॥१३४॥

सम्यक्त्वज्ञानचरणेषु या भक्ति करोति श्रावक: श्रमण:
तस्य तु निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति जिनैः प्रज्ञप्तम् ।।१३४ ।

चतुर्गतिसंसारपरिग्रहणभ्रमणकारणतीव्रमिथ्यात्वकर्मप्रकृति-प्रतिपक्षनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्ध रत्नत्रयपरिणामेषु भजन भक्तिराराधनेत्यर्थ. । एकादशपदेषु श्रावकेषु जघन्या षट्, च मध्यमास्त्रय:, उत्तमौ द्वौ च, एते सर्व शुद्ध-रत्नत्रयभक्ति कुर्वन्ति । अथ भवभयभीरव: परमनैष्कर्म्यवृत्तय: परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्ति कुर्वन्ति, तेषा परमश्रावकाणां परमतपोधनाना च जिनोत्तमैः प्रज्ञप्ता निर्वृतिभक्तिरपुनर्भव-पुरन्ध्रिकासेवा भवतीति ।

सम्यक्त्वेऽस्मिन् भवभयहरे शुद्धबोधे चरित्रे
भक्ति कुर्यादनिशमतुला यो भवेदत्र दक्ष: ।
कामक्रोधाद्यखिलदुरघव्रातनिर्मुक्तचेता:
भक्तो भक्तो भवति सतत श्रावक: संयमी वा ।।

परमभक्त्यधिकार ।

आगे परम भक्ति अधिकार को कहते है । प्रथम ही रत्न-त्रय का स्वरूप वर्णन करते है:—

सामान्यार्थ—जो कोई श्रावक व श्रमण अर्थात् परम दिगम्बर मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भक्ति करता है उसी के ही निर्वृत्तिरूप अर्थात् संसार से छुड़ाने वाली भक्ति होती है । ऐसा जिनेन्द्र भगवान केवलियों ने कहा है ।

विशेषार्थ—चारों गतिरूप संसार उसको ग्रहण और उसमें भ्रमण का कारण तीव्र मिथ्यात्व कर्मरूपी प्रकृति है इसका विरोध जो अपना परमात्मतत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान करना, उसी को यथार्थ जानना तथा उसी में ही सम्यक्रूप से ाचरण करना सो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है। इन शुद्ध रत्नत्रय के परिणामों को भजन करना, इनकी भक्ति करनी, तथा इन्हीं की आराधना करनी योग्य है यह प्रयोजन है। श्रावक के ग्यारह पद हैं इन ११ पदों में दर्शनव्रत: सामायिक प्रोषधोपवास सचित त्याग और रात्रि भोजन त्याग ऐसे ६ पदों के धारी श्रावक जघन्य श्रावक है। ब्रह्मचर्य, आरभ त्याग और परिग्रह त्याग इन तीन पदों से धारी मध्यम श्रावक हैं तथा अनुमति त्याग और उद्दिष्टाहार त्यागवाले क्षुल्लक और ऐलक इन दो पदों के धारी उत्कृष्ट श्रावक हैं। ये सर्व ही सम्यग्दृष्टी तत्त्वज्ञानी होते हैं, इसलिये रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। तैसे ही संसार के भय से भयभीत, परम निष्कर्म वृत्ति को धरने वाले परम तपाधन मुनि भी इसी रत्नत्रय की भक्ति करते हैं। इन्हीं परम श्रावकों को और परम मुनियों को श्रीजिनेन्द्र भगवान द्वारा कहो हुई निवृति भक्ति होती है कैसी है वह निवृत्ति भक्ति, जो मोक्षरूपी स्त्री की दासी स्वरूप है। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के उपाय में उपयोग की दृढ़ (तल्लीन) ता ही निवृत्ति भक्ति है। टीकाकार कहते हैं—जो कोई चतुर प्राणी हैं सो इस संसार के भय को हरने वाले सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध चारित्र में रात्रिदिन सदा अतुल भक्ति करते हैं वे कामक्रोध आदि सर्व पापों के समूहों से अपने चित्त को मुक्त करके सदा हो भक्तरूप रहते हैं। चाहे वे श्रावक हों या संयमी।

व्यवहारनयप्रधानसिद्धभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत्:—

मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि ।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणयेण परिकहियं ॥१३५॥

मोक्षगतपुरुषाणां गुणभेदं ज्ञात्वा तेषामपि ।
य: करोति परमभक्तिं व्यवहारनयेन परिकथितम् ॥१३५॥

ये पुराणपुरुष: समस्तकर्मक्षयोपायहेतुभूतं कारणपरमात्मानमभेदानुपचाररत्नत्रयपरिणत्या सम्यगाराध्य सिद्धा जातास्तेषां केवलज्ञानादिशुद्धगुणभेदं ज्ञात्वा निर्वाणपरंपराहेतुभूतां परमभक्तिमासन्नभव्य: करोति तस्य मुमुक्षोर्व्यवहारनयेन निर्वृत्तिभक्तिर्भवतीति ।

उद्धूतकर्मसंदोहान् सिद्धान् सिद्धावधूधवान् ।
संप्राप्ताष्टगुणैश्वर्यान् नित्यं वन्दे शिवालयान् ॥
व्यवहारनयस्येत्थं निर्वृत्तिभक्तिर्जिनोत्तमै: प्रोक्ता ।
निश्चयनिर्वृत्तिभक्ती रत्नत्रयभक्तिरित्युक्ता ॥
नि:शेषदोषदूरं केवलबोधादिशुद्धगुणनिलयं ।
शुद्धोपयोगफलमिति सिद्धत्वं प्राहुराचार्या: ।
ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्तं गता
ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थसौख्याकरा: ।
ये शुद्धात्मविभावनोद्भवमहाकैवल्यसंपद्गुणा:
तान् सिद्धानभिनौम्यहं प्रतिदिनं पापाटवीपावकान् ॥
त्रैलोक्याग्रनिकेतान् गुणगुरून् ज्ञेयाब्धिपारंगतान्
मुक्तिश्रीवनितामुखाम्बुजरवीन् स्वाधीनसौख्यार्णवान् ।
सिद्धान् सिद्धगुणाष्टकान् भवहरान् नष्टाष्टकर्मोत्करान् ।
नित्यान् तान् शरणं व्रजामि सततं पापाटवीपावकान् ॥

ये मर्त्यदैवनिकुरम्बपरोक्षभक्ति—
योग्याः सदा शिवमयाः प्रवराः प्रसिद्धाः ।
सिद्धाः सुसिद्धरमणीसुमनोज्ञवक्त्र—
पंकेरुहोरुमकरंदमधुव्रता स्युः ॥

आगे व्यवहारनय को प्रधान करके सिद्ध भक्ति के स्वरूप को कहते हैं—

सामान्यार्थ—उन मोक्ष प्राप्त पुरुषों के गुणों के भेदों को जानकर जो आत्मा उन गुणों में परम भक्ति करता है उसी के व्यवहार नय से यह सिद्ध भक्ति कही गई है ।

विशेषार्थ—जो समीचीन महात्मा सर्व कर्म्मों के क्षय होने में उपायभूत ऐसा जो कारण परमात्मा उसको अपनी भेदरहित और उपचार रहित रत्नत्रयमई परिणति के द्वारा भले प्रकार आराधन करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं उन सिद्धो के शुद्ध गुणों के भेदो को जान करके जो कोई निकट भव्यजीव निर्वाण की परम्परा से कारण भूत ऐसी परम उत्कृष्ट भक्ति को करते हैं उन ही मुमुक्षु जीवों के व्यवहार नय से निर्वृत्ति भक्ति अर्थात् सिद्ध भक्ति होती है। टीकाकार कहते हैं–जिन्होंने कर्म्मों के समूहों को धो डाला है, जो सिद्ध रूपी वधू के वर हैं तथा जिन्होने सम्यक्त आदि आठ मुख्य गुण रूपी ऐश्वर्य्य को प्राप्त कर लिया है ऐसे मोक्ष स्थान में निवासी सिद्ध भगवानों को मैं नित्य वन्दना करता हूं। जिनेन्द्र भगवान ने इस प्रकार की वंद्य वंदक भावरूप भक्ति को व्यवहार नय से कहा है। तथा शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप में जो भक्ति है सो निश्चय निर्वृत्ति भक्ति है ऐसा वर्णन किया है। आचार्य्यों ने सिद्ध अवस्था के विषय में वर्णन किया है कि वह सिद्धभाव सर्व दोषों से दूर है, केवल ज्ञानादि शुद्ध गुणों का स्थान है तथा शुद्धोपयोग का फल रूप है

अर्थात् शुद्धोपयोग धारने ही से सिद्ध अवस्था की प्राप्ति होती है। जो श्री सिद्ध महाराज तीन लोक के अग्रभाग में निवास करनेवाले हैं, भव भव के दुःख रूपी समुद्र के अन्त प्राप्त भए हैं तथा निर्वाण रूपी निज वधू के स्पर्श से पैदा होने वाले सुख की खान हैं तथा शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो महान केवल ज्ञानादि संपत्ति उसके रखने वाले हैं तथा जो पापवन के जलाने के लिये अग्नि समान हैं। ऐसे सिद्धों को मैं नित्य नमस्कार करता हूं। तथा मैं नित्य ऐसे सिद्धों की शरण में प्राप्त होता हूं जो तीन लोक के अग्रभाग में शोभायमान हैं, गुणों के गुरु है, जानने योग्य जो पदार्थ सो ही ज्ञेय उसमई समुद्र के पार प्राप्त भये हैं अर्थात् सर्व ज्ञेय पदार्थों के जानने वाले है, मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के मुखरूपी कमल के लिये सूर्य के समान हैं, इन्द्रियों की पराधीनता से रहित स्वाधीन सुख के समुद्र हैं, अष्ट महागुणों को सिद्ध करने वाले हैं, संसार के हर्ता हैं आठ कर्म्मों के समूह को नष्टभृष्ट करने वाले है, तथा पापवनी के जलाने के लिये अग्नि समान हैं। जिन सिद्ध भगवानों की परोक्षभक्ति मनुष्य और देवों के समूह करते है। जो सदा शिवरूप, श्रेष्ठ और प्रसिद्ध हैं वे ही सिद्ध भगवान् सिद्ध रूपी रमनी के सुन्दर मुख कमल की दीर्घ सुगन्ध में मोह करने वाले भौंरों के समान रहते हैं। अर्थात् जैसे भ्रमर कभी कमल के वास को नहीं त्यागता ऐसे ही श्री सिद्ध भगवान मोक्ष निवास को कभी नहीं छोड़ते हैं।

निजपरमात्मभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत्—

मोक्खपहे अप्पाणं ठविऊण य कुणदि णिव्वदी भत्तो।
तेण दु जीवो पाइव असहायगुणं णियप्पाणं ॥१३६॥

मोक्षपथे आत्मानं संस्थाप्य च करोति निर्वृतेर्भक्तिं ।
तेन तु जीवः प्राप्नोत्यसहायगुणं निजात्मानम् ॥१३६॥

भेदकल्पनानिरपेक्षनिरुपचाररत्नत्रयात्मके निरुपरागमोक्ष-मार्गे निरंजननिजपरमात्मानंदपीयूषपानाभिमुखो जीवः स्वात्मानं संस्थाप्यापि च करोति निर्वृत्तेमुक्त्यङ्गनायाः चरणनलिने परमां भक्तिं, तेन कारणेन स भव्यो भक्तिगुणेन निरावरणसहजज्ञान-गुणत्वादसहायगुणात्मकं निजात्मानं प्राप्नोति ।

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलितमहाशुद्धरत्नत्रयेऽस्मिन्
नित्ये श्रीमुक्तिहेतौ निरुपमसहजज्ञानदृक्शीलरूपे ।
संस्थाप्यानंदभास्वन्निरातशयगृह चिच्चमत्कारभक्त्या
प्राप्नोत्युच्चैरयं यं विगलितपद सिद्धिसीमन्तिनीशः ॥

आगे निज परमात्मा की भक्ति के स्वरूप को कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो जीव निश्चय करके अपने आत्मा को मोक्ष के मार्ग मे स्थापकर मोक्ष की भक्ति करता है वही जीव इसी भक्ति से परसहाय रहित गुणों को धरने वाला ऐसा जो अपना आत्मा उसका लाभ करता है।

विशेषार्थ—भेदों की कल्पना की अपेक्षा जहाँ नहीं है और जहाँ उपचार भी नहीं है ऐसे रत्नत्रय स्वरूप वीतराग मोक्षमार्ग मे जो कोई जीव कर्मांजन रहित निज आत्मीक परमानंदमई अमृत के पीने के लिये उद्यमी होकर अपने आत्मा को ठहराता है और उस मुक्तिरूपी स्त्री के चरण कमलों मे भी परम भक्ति करता है वही भव्यजीव उसी अपनी भक्ति के गुणों के द्वारा अपने आत्मा का लाभ करता है। कैसा है आत्मा, जो आवरण रहित स्वाभाविक ज्ञान गुण का धारी होने के कारण असहाय

गुणों का स्वामी है। टीकाकार कहते हैं कि जो आत्मा निश्चय से अपने आत्मा को अपने आत्म स्वरूप में स्थापित करता है। कैसा है आत्म स्वरूप, जो नित्य है, अविचल रूप से महा शुद्ध इस रत्नत्रय में स्थित है, मुक्ति रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण है, तथा उपमा रहित स्वाभाविक ज्ञान दर्शन स्वभाव का धारी है। सो भव्यजीव आनन्द से प्रकाश करता हुआ अपने चैतन्य की चमत्कारमई भक्ति करके अपूर्व अतिशय के भरे घर को अर्थात् निश्चल अविनाशी पद को अतिशय करके प्राप्त करता है तथा सिद्धि रूपी स्त्री का स्वामी हो जाता है।

निश्चययोगभक्तिस्वरूपाख्यानमेतत्:—

रायादीपरिहारे अप्पाणां जो दु जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्य य कह हवे जोगो ॥१३७॥

रागादिपरिहारे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधुः।
स योगभक्तियुक्तः इतरस्य च कथं भवेद्योगः ॥१३७॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिपरभावनां परिहारे सति यस्तु साधुरासन्नभव्यः निजेनाखंडाद्वैतपरमानंदस्वरूपेण निजकारणपरमात्मनं युनक्ति स परमतपोधन एव शुद्धनिश्चयोपयोगभक्तियुक्तः। इतरस्य बाह्यप्रपंचसुखस्य कथं योगभक्तिर्भवति।

तथाचोक्तम्—

"आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि सयोगो योग इत्यभिधीयते" ॥

तथाहि—

आत्मानमात्मनात्मायं युनक्त्येव निरन्तरम्।
स योगभक्तियुक्तः स्यान्निश्चये मुनीश्वरः ॥

आगे निश्चय योगभक्ति के स्वरूप का कहते हैं:—

सामान्यार्थ—जो कोई साधु रागादि दोषों को त्याग करके अपने आत्मा को योग में उद्योगी करता है वही साधु योगभक्ति से युक्त होता है अन्य के योग कैसे हो सकता है ।।

विशेषार्थ—सम्पूर्ण प्रकार से अंतरंग में सन्मुख होकर जो परमसमाधि होती है उस परमसमाधि के द्वारा सर्व मोह राग-द्वेष आदि परभावों को त्याग करके जो कोई निकट भव्य साधु अपने ही अखंड अद्वैत परमानंदरूप के द्वारा अपने ही कारण परमात्मा को योग में लीन करता है वही परमतपोधन शुद्ध निश्चय योगभक्ति से युक्त होता है। ऐसे मुनि के सिवाय जो कोई जीव बाह्य ससार के प्रपंच जालों में सुखी हो रहा है उसके किस प्रकार से यह योगभक्ति हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती है। ऐसा ही कहा है कि आत्मा की शुद्धि के उद्योग की अपेक्षा सहित जो श्रेष्ठ मन की गति उस गति का ब्रह्म में सयोग होना सो ही योग कहा गया है। टीकाकार कहते है—जो आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा मे ही निरन्तर योग करता है वही मुनीश्वर निश्चय योगभक्ति से सयुक्त होता है।

अत्रापि पूर्वसूत्रवन्निश्चयोगभक्तिस्वरूपमुक्तम्: —

सव्वविअप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू ।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स यकिह हवे जोगो ।।१३८।।

सर्वविकल्पाभावे आत्मानं यस्तु युनक्ति साधु: ।
स योगभक्तियुक्त: इतरस्य च कथं भवेद्योग: ।।१३८।।

अत्यपूर्व्वविरूपराग रत्नत्रयात्मकनिजचिद्विलासलक्षणनिर्वि-

कल्पपरमसमाधिना निखिलमोहरागद्वेषादिविविधविकल्पाभावे परमसमरसीभावेन निःशेषतोऽन्तर्म्मुखनिजकारणसमयसारस्वरूपमत्यासन्नभव्यजीवः सदा युक्त एव, तस्य खलु निश्चययोगभक्तिर्न्नान्येषाम् इति ।

> भेदभावे सतीयं स्याद्योगभक्तिरनुत्तमा ।
> तयात्मलब्धिरूपा सा मुक्तिर्भवति योगिनाम् ॥

फिर भी इसी निश्चय योगभक्ति के स्वरूप को कहते हैं:—

सामान्यार्थ—जो कोई साधु सर्व विकल्पों के अभाव में अपने आत्मा को युक्त करता है उसी के ही योगभक्ति होती है, अन्य मुनि के यह योग कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा ।

विशेषार्थ—अत्यन्त अपूर्व रागरस रहित रत्नत्रय स्वरूप अपने चैतन्य का विलास है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प परमसमाधि के द्वारा सर्व मोह रागद्वेषादि नाना प्रकार के विकल्पों को दूरकर जो कोई अत्यन्त निकट भव्यजीव परम समतारसरूपभावकरके सर्व प्रकार अंतरंग में सन्मुख अपने कारण समयसार स्वरूप को सदा युक्त ही रखता है उसी के ही निश्चय योगभक्ति होती है दूसरों के नहीं । टीकाकर कहते हैं—सब भेदो के अर्थात् विकल्पो के अभाव से यह श्रेष्ठ योगभक्ति होती है। योगियों को इसी भक्ति के द्वारा आत्मा के स्वरूप की प्राप्तिरूप मुक्ति होती है ।

इह हि निखिलगुणधरगणधरदेवप्रभृतिजिनमुनिनाथकथिततत्त्वेषु विपरीताभिनिवेशविवर्जितात्मभाव एव निश्चयपरमयोग इत्युक्तः ।

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जेण्हकहियतच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो ॥१३९॥

विपरीताभिनिवेशं परित्यक्त्वा जैनकथिततत्त्वेषु ।
यो युनक्ति आत्मानं निजभावः स भवेद्योगः ॥१३९॥

अपरसमयतीर्थनाथाभिहिते विपरीते पदार्थे ह्यभिनिवेशो दुराग्रह एव विपरीताभिनिवेशः । अमु परित्यज्य जैनकथित-तत्त्वानि निश्चयव्यवहारनयाभ्याम् बोद्धव्यानि, सकलजिनस्य भगवतस्तीर्थाधिनाथस्य पादपद्मोपजीविनो जैनाः, परमार्थतो गणधरदेवादय इत्यर्थः । तैरभिहितानि निखिलजीवादितत्त्वानि तेषु यः परमजिनयोगीश्वरः स्वात्मानं युनक्ति तस्य च निजभाव एव परमयोग इति ।

तत्त्वेषु जनमुनिनाथमुखारविंद—
व्यक्तेषु भव्यजनताभवघातकेषु ।
त्यक्त्वा दुराग्रहममुं जिनयोगिनाथः
साक्षाद्युनक्ति निजभावमयं स योगः ॥

आगे कहते हैं कि इस लोक में निश्चय से सर्व गुणों के धारी गणधर देव को आदि लेकर अन्य जितेन्द्री मुनियों के नाथ द्वारा कथित तत्त्वों में विपरीत अभिप्राय रहित जो आत्मा का भाव वही निश्चय परमयोग है:—

सामान्यार्थः—जो विपरीत अभिप्राय को छोड़ करके जैन शासन में कहे हुए तत्त्वों में अपने आत्मा को योग करता है वही आत्मा का निज भाव, योग कहलाता है ।

विशेषार्थः—जैन सिवाय अन्य धर्मों के कर्त्ताओं द्वारा कहे हुए विपरीत पदार्थों में राग भाव का होना वही दुराग्रह है अर्थात एक भारी हठ है तथा इसीका नाम विपरीत अभिप्राय है। क्योंकि पदार्थ अनेकांतरूप है सो स्याद्वाद के द्वारा ही यथार्थ प्रतिपादित हो सकता है। इसलिये उस दुराग्रह को त्यागकर

जैन आगम में कहे हुए तत्त्वों का निश्चय और व्यवहार नयों के द्वारा जानना योग्य है। सकल जिन जो अरहंत भगवान् तीर्थनाथ उनके चरण कमला की सेवा करने वाले जैन हैं, सो निश्चय से श्री गणधर देवादि मुनीश्वर हैं। इन आचार्यों के द्वारा वर्णन किये गए जो सम्पूर्ण जीवादितत्त्व उनके अनुभव में जो कोई परम जितेन्द्री योगीश्वर अपने आत्मा को जोड़ देता है उस योगी का जो अपना आत्मीक भाव है वही परम योग है। टीकाकार कहते है कि जैन मुनियों के नाथ श्री तीर्थंकर अथवा गणधरादिकों के द्वारा प्रगट किये हुए तथा भव्यजनों के संसार को घात करने वाले तत्त्वों के अन्दर जो कोई जिन वीतरागी योगिनाथ अपने अनादि परसमय में होने वाले विपरीत बुद्धिरूप दुराग्रह को त्यागकर साक्षात् अपने आत्मीक अन्दर भाव को तन्मय करता है उसी के ही भावयोग कहलाता है।

भक्त्याधिकारोपसंहारोपन्यासोऽयम्—

उसहादिजिणवरिन्दा एवं काऊण जोगवरभत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं ॥१४०॥

वृषभादिजिनवरेन्द्रा एवं कृत्वा योगवरभक्तिं ।
निर्वृतिसुखमापन्नास्तस्माद्धारय योगवरभक्तिं ॥१४०॥

अस्मिन् किल भारतेवर्षे पुरा किल श्रीनाभेयादिश्रीवर्द्धमानचरमाः चतुर्विंशतितीर्थकरपरमदेवाः सर्वज्ञवीतरागाः त्रिभुवनवर्तिकीर्तयो महादेवाधिदेवाः परमेश्वराः सर्वे एवमुक्तप्रकारस्वात्मसंबन्धिनीं शुद्धनिश्चययोगवरभक्तिं कृत्वा परमनिर्वाणवधूटिकापीवरस्तनभरगाढोपगूढनिर्भरानंदपरमसुरसपूरपरितृप्तसर्वात्मप्रदेशा जाताः, ततो यूयं महाजनाः स्फुटितभव्यत्वगुणास्तां स्वात्मार्थपरमवीतरागसुखप्रदां योगभक्तिं कुरुतेति ।

नाभेयादिजिनेश्वरान् गुणगुरून् त्रैलोक्यपुण्योत्करान्
श्रीदेवेन्द्रकिरीटकोटिविलसन्माणिक्यमालार्चितान् ।
पौलोमीप्रभृतिप्रसिद्धदिविजाधीशांगनासंहतेः
शक्रेणोद्भवभोगहासविमलान् श्रीकीर्तिनाथान् स्तुवे ॥

वृषभादिवीरपश्चिमजिनपतयोप्येवमुक्तमार्गेण ।
कृत्वा तु योगभक्ति निर्वाणवधूटिकासुखं यान्ति ॥

अपुनर्भवसुखसिद्ध्यै कुर्व्वेहं शुद्धयोगवरभक्तिम् ।
संसारघोरभीत्या सर्वे कुर्व्वन्तु जन्तवो नित्यम् ॥

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना ।
शुद्धध्यानसमाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थितः ॥
धर्म्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ ।
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥

निर्वृतेन्द्रियलौल्यानां तत्त्वलोलुपचेतसां ।
सुन्दरानन्दनिष्यन्दं जायते तत्त्वमुत्तमम् ॥

अत्यपूर्व्वनिजात्मोत्थभावनाजातशर्म्मणे ।
यतन्ते यतयो ये ते जीवन्मुक्ता हि नापरे ॥

अद्वन्द्वनिष्टमनघं परमात्मतत्त्वं
संभावयामि तदहं पुनरेकमेकम् ।
किं तैश्च मे फलमिहान्यपदार्थसार्थैः
मुक्तिस्पृहस्य भवशर्मणि निःस्पृहस्य ॥

इति सुकविजनपयोजमित्र-पंचेंद्रियप्रसरवर्ज्जितगात्रमात्रपरिग्रह-
श्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां
तात्पर्य्यवृत्तौ परम भक्त्यधिकारो दशमः
श्रुतस्कन्धः ।१०॥

आगे भक्ति अधिकार को संकोचते हैं—

सामान्यार्थ—श्री वृषभतीर्थंकर से आदि लेय श्री महावीर जिनेन्द्र पर्यंत २४ तीर्थंकरों ने इसी प्रकार से योग की उत्कृष्ट भक्ति करके मोक्ष के सुख को प्राप्त किया है इसलिये तुम भी इसी योग की श्रेष्ठ भक्ति को धारण करो।

विशेषार्थ—इस भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में श्री नाभेय (नाभिराजा के) पुत्र श्री ऋषभ से लेकर श्री वर्द्धमान पर्यंत चौबीस तीर्थंकर परम देव सर्वज्ञ वीतराग तीन लोक में अपनी कीर्त्ति को विस्तारने वाले महादेवाधिदेव परमेश्वर हो गये हैं, इन सबों ने ऊपर की गाथाओं में कहे अनुसार अपने ही आत्मस्वरूप से सम्बन्ध रखने वाला शुद्ध निश्चय योग की उत्कृष्ट भक्ति की थी, इसी से परम निर्वाणरूपी बधू के गाढ सुखविलास द्वारा उत्पन्न जो परम सुन्दर रागरूपी अमृत उस से अपने सर्व असंख्यात आत्म प्रदेशों को तृप्त करते हुये। इसलिये हे स्पष्ट भव्यपने के गुणों को धारने वाले हापुरुषो! तुम भी ऐसी ही योग भक्ति को करो जो अपने आत्मा के प्रयोजन भूत परम वीतराग सुख को देने वाली है। टीकाकार कहते है कि मै श्री वृषभादि जिनेश्वरों की स्तुति करता हूं। कैसे है प्रभू, गुणों के गुरु हैं, तीन लोक को पवित्र करने वाले व पुण्यबंध कराने वाले हैं, जिनको इन्द्रादिक देव अपने मुकटों को नम्रीभूत कर मुकुट के किनारे लगे हुये माणिक्यों के समूह उनसे पूजा करते है तथा जिनके निकट इन्द्रानी आदि प्रसिद्ध देवियों के समूह के साथ इन्द्र ने नाना प्रकार के निर्मल आनन्द के विलास प्रगट किये हैं अर्थात् नृत्य गानादि से जिनकी भक्ति इन्द्र ने की है तथा जो कीर्ति रूपी लक्ष्मी के नाथ हैं। वृषभ से ले श्रीमहावीर अन्तिम तीर्थंकर तक सर्व ने इसी उपर्युक्त मार्ग से योग भक्ति

करी है जिससे निर्वाणरूपी वधू के अनुपम सुख को प्राप्त किया है। मैं भी मोक्ष के सुख की सिद्धि के लिये इसी शुद्ध योग की श्रेष्ठ भक्ति को करता हूं तथा ऐसे ही भयानक ससार से भय करके सर्व ही जीवो को नित्य यह भक्ति करनी चाहिये। अपने चित्त से राग और द्वेष की परम्परा से होने वाली जो परिणति उसको छोड़कर अब मैं शुद्ध ध्यान से अपने मन को संयुक्त करके आनन्दमई आत्मतत्त्व में स्थित होता हुआ तथा श्रीगुरु के निकट पवित्र सुख को करने वाले धर्म का लाभकर अपने सम्यग्ज्ञान से समस्त मोह की महिमा को हटाता हुआ परम ब्रह्म स्वरूप परमात्मा में लीन होता हूं। जो अतीन्द्रिय सुख के लोलुपी हैं तथा जिन्होंने अपना चित्त आत्मतत्त्व के लोभ में बसा दिया है उनको सुंदर आनन्द से भरपूर यह उत्तम तत्त्व प्राप्त होता है। जो यती अत्यन्त अपूर्व अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न जो परम सुख उसके लिये यत्न करते हैं वे ही यती निश्चय करके जीवन्मुक्त होते हैं दूसरे नही। मैं मात्र एक ही परमात्म तत्त्व की पुनः पुनः भावना करता हूं। जो द्वन्द्वरहित है अद्वैत है, परम हितकारी इष्ट है तथा सर्व पापों से दूर है। कैसा हूं मैं मुक्ति तियाका अभिलाषी हूं ससार के सुखों का निरभिलाषी हूं मुझको परमात्म तत्त्व के सिवाय अन्य पदार्थों के सम्बन्ध करने से कौन से फल की प्राप्ति होगी? अर्थात् कुछ न होगी। भावार्थ—जो जिसको चाहै उसी को भजै। जो परमात्मा होना चाहता है उसके लिये उसी तत्त्व की भावना कार्य्यकारी है।

इति श्रीकविजन रूपी कमलों के लिये सूर्य्य पंचेन्द्रिय के विस्तार से रहित शरीरमात्र परिग्रह के धारी श्रीपद्मप्रभ-मलधारी देव द्वारा रचित श्री नियमसार ग्रंथ की तात्पर्य्यवृत्ति नाम

की संस्कृत व्याख्या तिसमें परम भक्ति नामा दशवाँ श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥१४०॥

अथ सांप्रतं व्यवहारषडावश्यकप्रतिपक्षशुद्धनिश्चयाधिकार उच्यते ।

अत्रानवरतस्ववशस्य निश्चयावश्यककर्म भवतीत्युक्तम्—

जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥१४१॥

यो न भवत्यन्यवशः तस्य तु कर्म भणन्त्यावश्यकम् ।
कर्मविनाशनयोगो निवृत्तिमार्ग इति प्ररूपितः ॥१४१॥

यः खलु यथाविधि परमजिनमार्गाचरणकुशलः सर्वदैवान्तर्मुखत्वादनन्यवशो भवति किन्तु साक्षात्स्ववश इत्यर्थः । तस्य किल व्यवहारिकक्रियाप्रपचपराङ्मुखस्य स्वात्माश्रयनिश्चयधर्म्मध्यानप्रधानपरमावश्यककर्म्मास्तीत्यनवरत परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वरा वदन्ति । किं च यस्त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिलक्षणपरमयोगः सकलकर्म्मविनाशहेतुः स एव साक्षान्मोक्षकारणत्वान्निर्वृतिमार्ग इति निरुक्तिर्व्युत्पत्तिरिति ।

तथाचोक्तममृतचन्द्रसूरिभिः ।

"आत्मा धर्मः स्वयमितिभवत्प्राप्य शुद्धोपयोग
नित्यानन्दप्रसरसरसज्ज्ञानतत्त्वे निलीन ।
प्राप्नोत्युच्चैरचलिततया नि.प्रकम्पप्रकाशात्
स्फूर्ज्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीं ॥"

तथाहि—

आत्मन्युच्चैर्भवति नियतं सच्चिदानन्दमूर्त्तौ
धर्मः साक्षात् स्ववशजनितावश्यकर्मात्मकोयम् ।

सोय कर्मक्षयकरपटुर्निवृतेरेकमार्गः
तेनैवाहं किमपि तरसा यामि शं निर्विकल्पम् ॥

निश्चयावश्यकाधिकार ।

आगे सामायिक प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, वंदना, कायोत्सग ऐसे छः आवश्यक व्यवहार उनसे प्रतिपक्षी जो शुद्ध निश्चय उसका अधिकार कहते है।

प्रथम ही कहते हैं कि जो निरन्तर अपने वश है उसी के निश्चय आवश्यक कर्म होता है—

सामान्यार्थ—जो दूसरे के वश नहीं रहता है उसी के आवश्यक कर्म्म होता है। यही कर्म्मों के नाश करने में समर्थ मोक्ष का मार्ग है, ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—जो कोई निश्चय से श्री जिनेन्द्र के मार्ग में यथार्थ विधि के अनुसार आचरण करने में कुशल अर्थात् चतुर है, जो सदा ही अतरग में लीन होकर किसी भी अन्य के आधीन नही होता किन्तु साक्षात् अपने आत्मा ही के आधीन रहता है वही व्यवहार क्रिया के आडंबरों के प्रपंच से उदासीन हो जाता है तथा उसी के अपने आत्मा ही के आश्रय में रहने वाला ऐसा निश्चय धर्म्म ध्यान रूपी प्रधान परम आवश्यक कर्म्म होता है। ऐसा निरन्तर परम तपश्चरण में लवलीन परम वीतरागी योगीश्वर कहते हैं। प्रयोजन यह है कि मन वचन कायकी गुप्तियों में गुप्त ऐसी जो परम समाधि वही है लक्षण जिसका ऐसा जो परम योग वही सर्व्व कर्मों के विनाश करने का कारण

है तथा वही साक्षात् मोक्ष का कारण होने से निवृत्ति का मार्ग है, ऐसी व्युत्पत्ति है। ऐसा ही श्री अमृतचंद्र-सूरी ने कहा है— यह आत्मा शुद्धोपयोग को प्राप्तकर स्वयं अपने धर्मरूप होता हुआ तथा नित्य आनन्द से व्याप्त मत् ज्ञानतत्त्व रूपी सरोवर मे डूबा हुआ, अतिशय करके अपने निश्चलपने से कम्प रहित होता हुआ जो प्रकाश उससे अपनी ज्योति को स्फुरायमान करता हुआ स्वभाव ही से शोभायमान जो रत्नत्रयमई रत्नद्वीप उसमें निवास करने वाली मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करता है। टीकाकार कहते है कि साक्षात् अपने आत्मा के आधीन रहने वाला जो आवश्यक कर्म रूपी धर्म सो अतिशय करके सच्चिदानन्द मूर्त्तिधारी आत्मा ही के विषै नियत रूप से प्राप्त होता है। यही धर्म कर्मो के क्षय करने में कुशल है और मोक्ष का एक मात्र यही मार्ग है। इस ही के द्वारा मै जिस तरह हो सके शीघ्र ही विकल्परहित सुख को प्राप्त होता हूं।

अवशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य परमावश्यककर्मावश्य भवतीत्यत्रोक्तम्—

ण वसो अवसो अवसस्य कम्म वावस्सयंति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवाअति य णिरवयवो होदि णिज्जेत्ती ॥१४२॥

न वशो अवशः अवशस्य कर्म वाऽवश्यकमिति बोद्धव्यम्।
युक्तिरिति उपाय इति च नरवयवो भवति निरुक्तिः ॥१४२॥

यो हि योगी स्वात्मपरिग्रहादन्येषां पदार्थानां वशं न गतः, अत एव अवश इत्युक्तः, अवशस्य तस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयधर्मध्यानात्मकपरमावश्यककर्मावश्यं भवतीति बोद्धव्यम्। निरवयवस्योपायो युक्तिः अवयवी कायः अस्याभावात्

अवयवाभावः। अवशः परद्रव्याणां निरवयवो भवतीति निरुक्तिः व्युत्पत्तिश्चेति।

योगी कश्चित्स्व हितनिरतः शुद्धजीवास्तिकायाद्
अन्येषां यो न वश इति या सस्थितिः सा निरुक्तिः।
तस्मादस्य प्रहतदुरितध्वान्तपुञ्जस्य नित्यं
स्फूर्जज्ज्योतिः स्फुटितसहजावस्थया मूर्तता स्यात्॥

आगे कहते हैं जो स्वाधीन परम वीतरागी योगीश्वर हैं उन्ही के यह परम आवश्यक कर्म्म अवश्य होता है—

सामान्यार्थ—जो किसी के आधीन नहीं है वह अवश है। स्वाधीन के ही आवश्यक कर्म्म होता है ऐसा जानना चाहिये। यही युक्ति है यही उपाय है तथा यही अवयव अर्थात परद्रव्य उससे रहित निरुक्ति होती है।

विशेषार्थ—निश्चय से योगी अपने आत्म स्वरूप के ग्रहण करने के कारण अन्य पदार्थों के वश नही होता है अतएव अवश अर्थात स्वाधीन रहता है। जो अवश परम वीतरागी योगीश्वर होता है उसके निश्चय धर्म ध्यान स्वरूप जो परम आवश्यक कर्म सो अवश्य ही होता है ऐसा जानना चाहिये। निरवयव (काय से रहित) होने का उपाय मुक्ति है। अवयवी अर्थात् काय उसका अभाव सो निरवय है। जो परद्रव्यों के वश नहीं होता वही निरवयव अर्थात अकाय हो जाता है ऐसी निरुक्ति अर्थात व्युत्पत्ति है। टीकाकार कहते हैं जो कोई योगी अपने आत्महित में लीन रहता है वह शुद्ध जीवास्तिकाय को छोड़कर अन्य पदार्थों के वश नहीं होता है—इस प्रकार अवस्था का होना सो निरुक्ति है। इसी कारण से इस योगी के अमूर्तीकपना प्राप्त होता है। कैसा है अमूर्तीकपना, जो इस जोगी के पाप रूपी

अन्धकार के नाश से नित्य स्फुरायमान होती हुई जो ज्योति उससे प्रगट जो स्वाभाविक अवस्था उससे युक्त है ।

इह हि भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्यावशत्वं न समस्तीत्युक्तम्—

वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे ॥१४३॥

वर्तते यः स श्रमणोऽन्यवशो भवत्यशुभभावेन ।
तस्मात्तस्य तु कर्म्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥१४३॥

अप्रशस्तरागाद्यशुभभावेन यः श्रमणाभासो द्रव्यलिङ्गी वर्तते स्वस्वरूपादन्येषां परद्रव्याणां वशो भूत्वा, ततस्तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य स्वात्माश्रयधर्मध्यानलक्षणपरमावश्यककर्म न भवेदिति अशनार्थं द्रव्यलिङ्गं गृहीत्वा स्वात्मकार्यविमुखः सन् परमतपश्चरणादिकमप्युदास्य जिनेन्द्रमंदिरं वा तत्क्षेत्रवास्तुधनधान्यादिकं वा सर्वमस्मदीयमिति मनश्चकारेति ।

अभिनवमिदमुच्चैर्मोहनीयं मुनीनां
त्रिभुवनभुवनान्तर्ध्वांतपुंजायमानम् ।
तृणग्रहमपि मुक्त्वा तीव्रवैराग्यभावाद्
वसतिमनुपमां तामस्मदीयां स्मरन्ति ॥

कोपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलम्
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः ।
सोयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवी पावकः ॥

तपस्या लोकेस्मिन निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम् ।

परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्बत कलिहतोऽसौ जडमतिः ।।

अन्यवशः संसारी मुनिवेषधरोपि दुःखभाङ्नित्यम् ।
स्ववशो जीवन्मुक्तः किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरादेषः ।।
अत एव भाति नित्य स्ववशो जिननाथमार्गमुनिवर्गे ।
अन्यवशो भात्येवं भृत्यप्रकरेषु राजवल्लभवत् ।।

आगे कहते हैं कि जो भेदरूप उपचार अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय की परिणति में रहता है उस जीव के अवशपना नहीं होता है:—

सामान्यार्थः—जो कोई श्रमण अर्थात् मुनि अपने अशुभ भाव के द्वारा आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थ के वश हो जाता है इसी कारण से उसके आवश्यक कर्म नहीं होता है।

विशेषार्थः—अप्रशस्त राग आदि अशुभ भावों के द्वारा जो कोई श्रमणाभास अर्थात् द्रव्यलिगी मुनि वर्तन करता है और अपने स्वरूप से भिन्न जो अन्य परद्रव्य उनके वश में हो जाता है उस जघन्य रत्नत्रय में परिणमन करने वाले जीव के अपना आत्मा ही है आश्रय जिसका ऐसा धर्मध्यान लक्षण जो परम आवश्यक कर्म सो नहीं होता है। भोजन के अर्थ द्रव्यलिंग को धार के अपने आत्मीक कार्य्य से विमुख रह परम तपश्चरण से उदासीन होकर जिनेन्द्र मंदिर व उसका क्षेत्र व मकान व धन धान्यादि मेरा है ऐसा मन में किया करता है। भावार्थ। ऐसे द्रव्यलिंगी के धर्मध्यान नहीं हो सकता। टीकाकार कहते हैं— तीन भवनरूपी मकान में भरे हुए अंधकार के समूह से व्याप्त ऐसे तृण के घर को भी जो मुनि तीव्र वैराग्य भाव से छोड़

चुके हैं वे ही मुनि यदि हम संसारियों के अनुपम वसने के स्थान को याद करते हैं तो ऐसे मुनियों का यह कोई नवीन मोहनीकर्म का काय्य है ।

इस कलिकाल पचमकाल में कभी कोई ही पुण्यात्मा जाव मुनि होकर मिथ्यात्वादि कलक को कीच से अलग रहता है । और अपने सत्त्य आत्मीक धर्म की रक्षा करता है । कैसा है मुनि, जो अनेक प्रकार के परिग्रहों से अलग है तथा पापरूपी वनी के दग्ध करने को अग्नि है सो मुनि इसलोक और परलोक में देवों से पूजा जाता है । इस लोक में यह तपस्या सम्पूर्ण बुद्धिमान सत पुरुषों को प्राणों से प्यारी है तथा निरन्तर सौ इन्द्रो से नमस्कार के योग्य है ऐसी तपस्या को पाकर के जो काम के अधकार से व्याप्त ससारिक सुख मे रमता है सो महा-मूर्ख जडबुद्धि है । खेद है कि उसने अपना बहुत बिगाड किया । जो मुनिवेष को धारने वाला भी है परन्तु आत्मा के सिवाय अन्य पर पदार्थ के आधीन है वह संसारी है और नित्त्य दु:खो को भोगनेवाला है । तथा जो अपने आत्मा के वश है वह जाव-न्मुक्त ही है श्री जिनेश्वर देव से कुछ ही कम है । अतएव तीर्थंकर भगवान के मार्ग के धारी मुनिसमूहों में जो मुनि स्ववश हैं, अपने आत्मा के ही आधीन हैं वे ही शोभा को पाते हैं । परन्तु जो आत्मा के सिवाय पर पदार्थ के वश होते हैं वे ऐसे ही प्रतिभासते हैं जैसे चाकरो के समूह में वह चाकर जिस का राजा अपनी खुशामद व हाँ में हाँ मिला देने के कारण से प्यार करता है अर्थात् जो खुशामदी राजवल्लभ चाकर होगा वह सदा पराधीन होगा । ऐसा ही वह आत्मस्वरूप से बाह्य मुनि है ।

अत्राप्यन्यवशस्याशुद्धान्तरात्मजीवस्य लक्षणमभिहितं:—

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे ॥१४४॥

यश्चरति संयतः खलु शुभभावे स भवेदन्यवशः ।
तस्मात्तस्य तु कर्म्मावश्यकलक्षणं न भवेत् ॥१४४॥

यः खलु जिनेन्द्रवनारविन्दविनिर्गतपरमाचारशास्त्रक्रमेण सदा सयतः सन् शुद्धोपयोगे चरति व्यावहारिकधर्मध्यानपरिणतः अत एव चरणकरणप्रधानः स्वाध्यायकालमवलोकयन् स्वाध्यायक्रियां करोति, दैनं दैनं भुक्त्वा भुक्त्वा चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च करोति तिसृषु संध्यासु भगवदर्हत्परमेश्वरस्तुतिशतमुखरमुखारविन्दो भवति । त्रिकालेषु ज नियमपरायणः इत्यहोरात्रेप्येकादशक्रियातत्परपाक्षिकमासिकचतुर्मासिकसांवत्सरिणा (?) कर्णनसमुपजनितपरितोषरोमांचकचुकितधर्मशरीरः, अनशनावमौदर्य्यरसपरित्यागवृत्तिपरिसंख्यानविविक्तशयनासनकायक्लेशाभिधानेषु षट्सु बाह्यतपस्सु च संततोत्साहपरायणः स्वाध्ययध्यानशुभाचरणप्रच्युतप्रत्यवस्थापनात्मकप्रायश्चितविनयवैयावृत्यव्युत्सर्गनामधेयेषु चाभ्यन्तरतपोनुष्ठानेषु च कुशलबुद्धिः, किन्तु स निरपेक्षतपोधनः साक्षान्मोक्षकारण स्वात्माश्रयावश्यककर्म निश्चयतः परमात्मतत्त्वविश्रान्तिरूपं निश्चयधर्मध्यान शुक्लध्यानं च न जनीते अतः परद्रव्यगतत्वादन्यवश इत्युक्तः । अस्य हि तपश्चरणनिरतचित्तस्यान्यवशस्य नाकलोकादिक्लेशपरंपरया शुभोपयोगफलात्मभिः प्रशस्तरागांगारैः पच्यमानः सन्नासन्नभव्यतागुणोदये सति परमगुरुप्रसादसादितपरमतत्त्वश्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयातीति ।

त्यजतु सुरलोकादिक्लेशे रति मुनिपुगवो
भजतु परमानन्दं निर्व्वाणकारणकारणं ।
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणात्मक
सहजपरमात्मानं दूरं नयानयसंहृते ॥

आगे फिर भी अन्य के आधीन जो अशुद्ध अतरात्म। जीव उसी का लक्षण कहते हैं

सामान्यार्थ—जो संयमी मुनि शुभ भाव में प्रवर्त्तन करता है वह भी अन्य के आधीन हो जाता है इसलिये उसके आवश्यक लक्षण है जिसका ऐसा कर्म्म नहीं होता है ।

विशेषार्थ —जो कोई साधु जिनेन्द्र के मुखकमल द्वारा प्रगट जो परम आचार शास्त्र उसके क्रम से सदा संयम को पालते हुए शुभोपयोग में चलते हैं अर्थात् व्यवहारिक धर्मध्यान में परिणमन करते हैं अतएव बाह्य आचरण के पालने में प्रधान रहते हैं । स्वाध्याय काल को देखकर स्वाध्याय करते हैं, प्रतिदिन एकवार भोजन करके चार प्रकार के आहार का त्याग करते हैं, तीनो सध्याओ में अर्थात् प्रातः दोपहर और सांझ को १०० इद्रों से वदनीक अरहत भगवान् परमेश्वर की स्तुति पढ़ते हैं, तीनो कालों के नियमों में लीन रहते हैं इस प्रकार रात्रि दिन में ग्यारह क्रियाओ में तत्पर रहते हैं। तथा पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण पाठ के सुनने से उत्पन्न हुआ जा सतोष उससे रोमांचित शरीर हो जाते हैं और अनशन अवमौदर्य रसपरित्याग वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशयनासन और कायक्लेश ऐसे छः बाह्य तपों में सदा उत्साह से लीन रहते है तथा स्वाध्याय, ध्यान, तथा शुभाचरण से गिरकर फिर उसी में स्थित होना ऐसा जो प्रायश्चित तथा विनय

वैय्यावृत्त और व्युत्सर्ग ऐसे छः अंतरंग तपों के आचरण करने में चतुर बुद्धिमान होते हैं किन्तु वे निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित मुनि साक्षात् मोक्ष का कारण जो आत्मस्वरूप उसके आश्रय रूप जो आवश्यक कर्म्म अर्थात् निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रांतिरूप जो निश्चय धर्म्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान उनको नहीं जानते हैं इसलिये आत्मस्वरूप से भिन्न जो पर द्रव्य उनके आधीन होते हैं, इसलिये उनको अवश कहते हैं। ये ही पराधीन मुनि तपश्चरण में तन्मय अपने चित्त को रखते हुए स्वर्गलोक आदि क्लेशों के शुभोपयोग जनित फलों को देने वाले रागरूपी अग्नि के अगारों से पचते रहते हैं। परन्तु जब इन्ही को अत्यन्त निकट भव्यता के गुणों का उदय होता है तब ये ही परम गुरु की कृपा से प्राप्त जो परम आत्मोक तत्त्व का श्रद्धान परिज्ञान और और चारित्ररूप जो शुद्ध निश्चय रत्नत्रय उसमई परिणति करके निवार्ण के सुख को प्राप्त करते हैं। टीकाकार कहते हैं कि हे मुनियों में प्रधान ! तू स्वर्ग लोक आदि के सुखा भास रूपी क्लेशों में प्रीति करना छोड़, निर्वाण का कारण जो परम शुद्धोपयोग उसका कारण जो स्वाभाविक परमात्मा उसको भज। कैसा है परमात्मा, जो परम आनन्द स्वरूप है, सर्वथा निमल ज्ञान का स्थान है, सर्व प्रकार के आवरणों से रहित है तथा सुनय और कुनय के प्रपंच जालों से दूर है।

अत्राप्यन्यवशस्य स्वरूपमुक्तम् —

दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सोवि अण्णवसो।
मोहांधयारववगयसमणा कहयंति एरिसयम् ॥१४५॥

द्रव्यगुणपर्य्यायिणां चित्त यः करोति सोप्यन्यवशः।
मोहान्धकारव्यपगतश्रमणाः कथयन्तीदृशम् ॥१४५॥

यः कश्चिद् द्रव्यलिङ्गधारी भगवदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गत-मूलोत्तरपदार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थः क्वचित् षण्णां द्रव्याणां मध्ये चित्तं धत्ते। क्वचित्तेषां मूर्तामूर्तचेतनाचेतनगुणानां मध्ये मनश्चकार, पुनस्तेषामर्थव्यंजनपर्य्यायाणां मध्ये बुद्धिं करोति। अपि तु त्रिकालनिरावरणनित्यानंदलक्षणनिजकारणसमयसारस्वरूप-निरतसहजज्ञानादिशुद्धगुणपर्य्यायाणामाराधनभूतनिजात्मतत्त्वे चित्तं कदाचिदपि न याजयति अतएव स तपोधनोप्यन्यवश इत्युक्तः।

प्रध्वस्तदर्शनचारित्रमोहनीयकर्मध्वससंघाताः परमात्मतत्त्व-भावनोत्पन्नवीतरागसुखामृतपानोन्मुखाः श्रवणा हि महाश्रवणाः परमश्रुतकेवलिनः ते खलु कथयन्तीदृशं अन्यवशस्य स्वरूपमिति।

तथाचोक्तम्।

"आत्मकार्यं परित्यज्य दृष्टादृष्टविरुद्धया।
यतीनां ब्रह्मनिष्ठाना किं तया परिचिन्तया॥"

तथा हि—

यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावद्भवति संसृतिः।
यथेंधनसनाथस्य स्वाहानाथस्य वर्द्धनम्॥

फिर भी पराधीन साधु का ही स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो काई साधु छः द्रव्यों के गुण और पर्यायों के चिन्तवन में अपने चित्त को रखता है वह भी अन्य के वश है पराधीन है, ऐसा मोह के अन्धकार से दूरवर्ती महा मुनियों ने कहा है।

विशेषार्थ—जो कोई द्रव्य लिंग धारी साधु श्री अर्हत भगवान द्वारा प्रकाशित जो मूल पदार्थ और उनके भेद उत्तर पदार्थ

उनके अर्थों को वर्णन करने में शक्तिमान है ऐसा होकर कभी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्यों में अपने चित्त को धरता है कभी उन द्रव्यों के मूर्तीक अमूर्तीक चेतन अचेतन गुणों के बीच में अपने मन को जोड़ता है कभी उन द्रव्यों की गुण में पारणमन रूप अर्थ पर्यायों में कभी उन द्रव्यों के स्वरूप में परिणमन रूप व्यंजन पर्यायों में बुद्धि देता है परन्तु तीनों कालों में आवरण रहित नित्य आनन्द लक्षण का धारी ऐसा जो अपना कारण समयसार अर्थात् परमात्मा उसके स्वरूप में लवलीन जो सहज ज्ञान आदि शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायों को सेवने वाला अपना आत्मा उसके तत्व में कभी भी अपने उपयोग को नहीं सयोग करता है, इसी कारण से ऐसा तपोधन अर्थात् मुनि भी अन्यवश है--पराधीन है ऐसा कहा गया है। दर्शन मोहनी और चारित्र मोहनी कर्म्मों के ध्वंस अर्थात् क्षय करने वाले तथा परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न जो वीतराग सुख रूपी अमृत उसके पीने मे दत्तचित्त ऐसे जो महामुनि परमश्रुत केवली आदिक वे निश्चय से अन्यवश अथात् पराधीन मुनि का ऐसा ही स्वरूप कहते हैं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है जो परब्रह्म स्वरूप में लवलीन यती हैं उनको आत्म कार्य्य के सिवाय अन्य प्रत्यक्ष और परोक्ष से विरुद्ध चिताओं से क्या लाभ है। टीकाकार कहते हैं-- जब तक जीवों के चिन्ता है तब तक ही संसार है, जैसे तब तक ईंधन है तभी तक स्वाहानाथ (अग्नि) का बढ़ना है।

अत्र हि साक्षात् स्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वरूपमुक्तम्—

परिचत्ता परिभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावम्।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणन्ति आवासं१४६

परित्यक्त्वा परभावं आत्मानं ध्यायति निर्म्मलस्वभावम् ।
आत्मवशः स भवति खलु तस्य तु कर्म्म भणन्त्यावश्यम् ॥१४६॥

यस्तु निरुपरागनिरंजनस्वभावत्वादौदयिकादिपरभावानां समुदयं परित्यज्य कायकरणवाचामगोचरं सदा निरावरणत्वान्निर्मलस्वभावं निखिलदुरघवीरवैरिवाहिनीपताकालुंटाकं निजकारणपरमात्मानं ध्यायति स एवात्मवश इत्युक्तः । तस्याभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्य निखिलबाह्यक्रियाकांडाडंबरविविधविकल्पमहाकोलाहलप्रतिपक्षमहानंदानंदप्रदनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मपरमावश्यकर्म भवतीति ।

जयत्ययमुदारधीः स्ववशयोगिवृन्दारकः
प्रनष्टभवकारणः प्रहतपूर्वकर्म्मावलिः ।
स्फुटोत्कटविवेकतः स्फुटितशुद्धबोधात्मिकाम्
सदाशिवमयां मुदा व्रजति सर्वथा निर्वृत्तिम् ॥

प्रध्वस्तपंचबाणस्य पंचाचारांचिताकृतेः ।
अवंचकगुरोर्वाक्यं कारणं मुक्तिसंपदः ॥
इत्थं बुद्धवा जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्वाणकारणम् ।
निर्वाणसंपदं याति यस्तं वंदे पुनः पुनः ॥

स्ववशयोगिनिकायविशेषक-
प्रहतचारुवधूकनकस्पृहः ।
त्वमसि नश्शरणं भवकानने
स्मरकिरातशरक्षतचेतसाम् ॥

अनशनादितपश्चरणैः फलं
तनुविशोषणमेव न चापरम् ।
तव पदांबुरुहद्वयचिंतया
स्ववशजन्म सदा सफलं मम ॥

जयति सहजतेजोराशिनिर्मग्नलोकः
स्वरसविसरपूरक्षालितांहः समंतात् ।
सहजसमरसेनापूर्णपुण्यः पुराणः
स्ववशमनसि नित्यं संस्थितः शुद्धसिद्धः ॥

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः ।
न कामपि भिदां क्वापि तां विन्मोहा जडा वयम् ॥
एक एव सदा धन्यो जन्मन्यस्मिन् महामुनेः ।
स्ववशः सवकर्म्मभ्यो बहिस्तिष्ठत्यनन्यधीः ॥

आगे साक्षात् स्वाधीन परम जिन योगीश्वर का स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जो साधु पर भाव को त्यागकर निर्मल स्वभावधारी आत्मा को ध्याता है वही निश्चय से आत्मवश अर्थात् स्वाधीन होता है। तथा उसी के आवश्यक कर्म हुआ ऐसा कहते हैं।

विशेषार्थ—जो कोई मुनि उपमा रहित वीतराग निरंजन स्वभाव को धारने के कारण औदयिक आदि परभावों को बिलकुल त्याग देते हैं और मन वचन काय से अगोचर सदा ही आवरण रहित होने से निर्मल स्वभाव वाले तथा सम्पूर्ण पाप रूपी वीर वैरियों की सेना की पताका को लूटने वाले निज कारण परमात्मा को ध्याते हैं वे ही आत्मवश हैं। ऐसा कहा गया है। भेद और उपचार रहित निश्चय रत्नत्रय स्वरूप के धारी ऐसे साधु के ही सब बाह्य क्रियाकांड आडम्बर सम्बन्धी नाना प्रकार विकल्पों के महा कोलाहल उनसे विरोधी ऐसा जो महा आनन्द का देने वाला निश्चय धर्म्म ध्यान और शुक्लध्यान रूप परम आवश्यक कर्म्म सो होता है। टीकाकार कहते हैं यह

उदार बुद्धि का धारी स्वाधीन योगियों के समूह में मुख्य मुनि जयवन्त होहु। कैसा है मुनि, जिसने ससार के कारण आस्रव को नष्ट कर दिया है तथा पूर्व में बाँधे हुये कर्म्मों के समूहों को विध्वंस किया है। यही साधु अपने यथार्थ प्रगट और दृढ़ विवेक अर्थात् भेद ज्ञान से हर्ष सहित सर्वथा संसार से निवृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करता है। कैसी है यह निवृत्ति, जहाँ यथार्थ शुद्ध ज्ञान प्रकाशमान है तथा जो सदा ही आनन्दमई है। जिन्होंनें कामदेव के पाँच वाणों को तोड़ डाला है, जो दर्शन ज्ञान चरित्र तप वीर्य्य ऐसे पाँच आचारों से शोभनीक है आकृतिवान है तथा मायाचार से रहित है ऐसे गुरु के वचन ही मुक्ति रूपी सम्पदा के कारण हैं। जो कोई निर्वाण के कारण जिनेन्द्र के मार्ग को इस प्रकार जान कर निर्वाण की सपदा को प्राप्त करता है उसको मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूं। हे योगीश्वर अपने आत्म स्वभाव के वशवर्ती योग के होने से सुन्दर स्त्री और स्वर्ण की इच्छा को दूर करने वाले तुम हो। जो कामदेव रूपी व्याध के वाणों से पीड़ित चित्त हैं उनको इस संसार वन में कोई वचानें वाला नहीं है। अनशन आदि तपश्चरणों से तो मात्र शरीर का सूखना ही फल है और कुछ नहीं है परन्तु मैं आपके चरण कमलों की चिंता में लवलीन हूं तथा स्वाधीन हूं इससे मेरा जन्म सदा सफल है। स्वाभाविक तेज के समूह में मग्न पुरुष को जय होहु। कैसा है यह तत्त्वज्ञानी नर, जो अपने आत्मीक रस के प्रवाह में पापों को सर्व तरफ से धो चुका है। स्वाभाविक समता के रस से पूर्ण है, पुन्यात्मा है, समाचीन है, अपने आधीन अपने मन को किये हुये नित्त्य विराजमान है तथा अत्यन्त शुद्ध सिद्ध समान है। श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवान के और स्वाधीन आत्मवश योगी के कहीं भी कोई भेद नहीं है।

परन्तु हम लोग मूख जड़बुद्धि हैं, चैतन्य स्वभाव को न जानकर मोही है। इस ससार में एक वही महामुनि सदा धन्य है जो अपने आत्मा के वश है तथा अन्य पदार्थ में बुद्धि को नहीं रखने वाला है और जो सर्व कर्म्म कांडों से बाहर रहने वाला है।

शुद्धनिश्चयावश्यकप्राप्त्युपायस्वरूपाख्यानमेतत्—

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावम्।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स ॥१४७॥

आवश्यक यदीच्छसि आत्मस्वभावेषु करोषि स्थिरभाव।
तेन तु सामायिकगुण सम्पूर्ण भवति जीवस्य ॥१४७॥

इह हि बाह्यषडावश्यकप्रपचकल्लोलेन कलकलध्वानपराङ्मुख हे शिष्य शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानात्मकस्वात्माश्रयावश्यकं ससारव्रततिमूललवित्र यद् इच्छसि, समस्तविकल्पजालविनिर्म्मुक्तनिरंजननिजपरमात्मभावेषु सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजसुखप्रमुखेषु सततनिश्चलस्थिरभाव करोषि, तेन हेतुना निश्चयसामायिकगुणे जाते मुमुक्षोर्जीवस्य बाह्यषडावश्यकक्रियाभिः किं जातम् अप्यनुपादेयं फलमित्यर्थः। अतः परमावश्यकेन निष्क्रियेण अपुनर्भवपुरन्ध्रिकासभोगहासप्रवीणेन जीवस्य सामायिकचारित्रं सम्पूर्ण भवतीति। तथा चोक्त श्रीयोगेन्द्रदेवै—

यदि चलति कथचिन्मानस स्वस्वरूपाद्
भ्रमति बहिरतस्ते सर्वदोषप्रसंगः।
तदनवरतमतर्मग्नसंलग्न चत्तो
भव भवसि भवान्तःस्थायिधामापि यस्त्वम् ॥

तथाहि—

यद्येव चरण निजात्मनियतं संसारदुःखापहं
मुक्तिश्रीललनासमुद्भवसुखस्योच्चैरिदं कारणम्।

बुद्धवेत्थं समयस्य सारमनघं जानाति यः सर्वदा
सोयं त्यक्तबहिःक्रियो मुनिपतिः पापाटवीपावकः ॥

आगे शुद्ध निश्चय आवश्यक कर्म्म की प्राप्ति के उपाय के स्वरूप को कहते हैं—

सामान्यार्थ—यदि तू आवश्यक कर्म को चाहता है तौ तू आत्म स्वभावों में स्थिर भाव को कर। इसी करके जीव के सामायिक गुण संपूर्ण होता है।

विशेषार्थ—इस संसार में सामायिक, प्रतिक्रमण आदि बाह्य छः आवश्यक कर्म्म के प्रपच जालों के कलकल शब्द को कहने तथा सुनने से उदास हे शिष्य ! यदि तू संसार वृक्ष समूह के मूल को काटने वाले कुल्हाड़ के समान शुद्ध निश्चय धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान रूप अपने ही आत्मा के आश्रय में रहने वाले आवश्यक कर्म्म को चाहता है तौ तू समस्त विकल्प जालों से मुक्त निरंजन अपने ह· परमात्मा के स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक दर्शन चारित्र तथा स्वाभाविक सुख आदि भावों में निरन्तर अपने निश्चल स्थिर भाव को कर। इसी उपाय से निश्चय सामायिक गुण उत्पन्न होता है। जो जीव मोक्ष का इच्छुक है उसके मात्र बाह्य छः आवश्यक क्रियाओं से क्या सिद्धि होगी ? अर्थात् कोई भी उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य फल का लाभ न होवेगा। इस कारण मोक्ष रूपी स्त्री के सभोग तथा हास्य में प्रवीण ऐसा जो क्रिया रहित निश्चल परम आवश्यक कर्म उस ही के द्वारा जीवको सामायिक चारित्र की पूर्णता का लाभ होवेगा। ऐसा ही श्री योगेन्द्र देव ने कहा है—यदि किसी निमित्त से तेरा मन अपने स्वरूप से बाहर जाता है तो तुझे सर्व दोषों का प्रसंग आता है और यदि हे भव्य ! तू निरन्तर अन्त-

रंग में मग्न हो अपने चित्त को आप में लवोलीन रखता हुआ स्थिर स्वभाव रूप हो जाता है तो तेरे ससार का अन्त हो आता है। टीकाकार कहते हैं—इस प्रकार का जो अपने आत्मा में नियत रूप से रहने वाला आचरण है सो सर्व संसार के दुःखों का निवारणे वाला है तथा मुक्ति रूपी सुन्दर ललना से उत्पन्न होने वाला जो सुख उसका अतिशय से कारण है। ऐसा भले प्रकार समझ कर जो कोई अघरहित समय अर्थात् आत्मा उसके सार का अर्थात् शुद्धात्म स्वरूप को सर्वदा जानता है वही मुनियों का पति सर्व बाह्य क्रिया मे हटा हुआ पाप बन के दग्ध करने को अग्नि समान होता है।

अत्र शुद्धोपयोगाभिमुखस्य शिक्षणमुक्तम्—

आवासएण होणो पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो तम्हा आवासयं कुज्जा ॥१४८॥

आवश्यकेन हीनः प्रभ्रष्टो भवति चरणतः श्रमणः ।
पूर्व्वोक्तक्रमेण पुनः तस्मादावश्यकं कुर्यात् ॥१४८॥

अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवंदनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्, शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभाषयोक्तनिर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभृष्ट इत्यथः। पूर्वोक्तस्ववशस्य परमजिनयोगीश्वरस्य निश्चयावश्यकक्रमेण स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपेण सदावश्यक करोतु परममुनिरिति।

आत्मावश्यं सहजपरमावश्यकं चैकमेकम्
कुर्य्यादुच्चैरघकुलहर निर्वृतेर्मूलभूतम् ।
सोय नित्यं स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः
वाचां दूरं किमपि सहज शास्वतं शं प्रयाति ॥

स्ववशस्य मुनीन्द्रस्य स्वात्मचिन्तनमुत्तमम् ।
इदं चावश्यकं कर्म स्यान्मूलं मुक्तिशर्मण: ।।

आगे शुद्धोपयोग के सन्मुख जो शिष्य उसको शिक्षा करते हैं—

सामान्यार्थ—जो श्रमण अर्थात् साधु आवश्यक कर्म्म नहीं करता है वह अपने चरित्र से भ्रष्ट है। इसलिये पहले कहे हुये क्रम से ही आवश्यक कर्म्म करने चाहिये।

विशेषार्थ—व्यवहार नय से भी जो मुनि समता, स्तुति, वंदना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग आदि छ: आवश्यक क्रियाओ को नही करता है वह साधु चारित्र भष्ट होता है। तौ फिर जो शुद्ध निश्चय नय के परम अध्यात्मीक भाषा से कही हुई जो निर्विकल्प समाधि स्वरूप परम आवश्यक क्रिया उससे रहित है सो मुनि तो निश्चय चारित्र से भ्रष्ट ही है। इसलिये पहली गाथाओं मे स्वाधीन परम वीतराग योगीश्वर के लिये जो निश्चय आवश्यक क्रिया का क्रम बताया है उसके अनुसार अपने आत्मा ही मे है आश्रय जिनका ऐसे निश्चय धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान के द्वारा परम मुनि को सदा आवश्यक कर्म्म करना योग्य है। भावार्थ—प्रथमावस्था में मुनि को व्यवहार छ: आवश्यक करने ही चाहिये परन्तु दृष्टि परम समाधि रूप निश्चय आवश्यक कर्म्म मे रखनी चाहिये तथा निश्चय ही को उपादेय समझना चाहिये। इस अभ्यास से जब सातवें गुणस्थान के अन्त में पूर्ण निश्चय धर्म ध्यान का लाभ करता है तथा आठवें गुण स्थान में जब शुक्ल ध्यान को पाता है तब बाह्य आवश्यक अपने आप छूट जाते हैं। क्योंकि वह अवस्था विकल्प रहित निश्चल समाधि ही की है। टीकाकार कहते हैं कि आत्मा

को अवश्य स्वाभाविक एक परम आवश्यक कर्म्म करना चाहिये कैसा है यह कर्म्म, पाप समूहों को हरने वाला तथा मोक्ष का मुख्य कारण—मूल भूत है। जो इस कर्म को करता है वह नित्य अपने आत्मीक रस के विस्तार से पूर्ण, पवित्र और समीचीन कहलाता है तथा अविनाशी अपने किसी अपूर्व सुख को प्राप्त करता है। जो मुनीन्द्र स्ववश अर्थात स्वाधीन हैं अपने आत्म स्वरूप में लवलीन हैं उन्हीं को अपने आत्मा का अनुभव रूप यह आवश्यक कर्म्म प्रगट होता है। कैसा है यह कर्म्म, मुक्ति के शांत सुख का एक अद्वितीय कारण (मूल) रूप है।

अत्रावश्यककर्माभावे तपोधनो बहिरात्मा भवतीत्युक्तः।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ॥१४९॥

आवश्यकेन युक्तः श्रमणः स भवत्यतरंगात्मा।
आवश्यकपरिहीणः श्रमणः स भवति बहिरात्मा ॥१४९॥

अभेदानुपचाररत्नत्रयात्मकस्वात्मानुष्ठाननियतपरमावश्यक कर्मणानवरतसंयुक्तः स्ववशाभिधानपरमश्रमणः सर्वोत्कृष्टोऽन्तरात्मा, षोडशकषायानामभावादयं क्षीणमोहपदवीं परिप्राप्य स्थितो महात्मा। असयतसम्यग्दृष्टिजघन्यांतरात्मा। अनयोर्मध्यमाः सर्वे मध्यमान्तरात्मानः। निश्चयव्यवहारनयद्वयप्रणीतपरमावश्यकक्रियाविहीनो बहिरात्मेति।

उक्तं च मार्ग प्रकाशे—

"बहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्यसमयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः" (?)

"जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदादविरतः सुदृक् ।
प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः"

तथाहि—

योगी नित्यं सहजपरमावश्यकर्म्मप्रयुक्तः
संसारोस्य प्रबलसुखदुःखाटवीदूरवर्ती ।
तस्मात्सोय भवति नितरामन्तरात्मात्मनिष्ठः
स्वात्मभ्रष्टो भवति बहिरात्मा बहिस्तत्त्वनिष्ठः ॥

आगे कहते हैं जो तपोधन आवश्यक कर्म्म से रहित है वह बहिरात्मा हैः—

सामान्यार्थ—जो मुनि आवश्यक कर्म्म करके सहित है वही अन्तरग आत्मा अर्थात् अन्तरात्मा है और जो आवश्यक क्रियाओं से रहित है वह मुनि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी है।

विशेषार्थ—भेद और उपचार रहित रत्नत्रय स्वरूप जो अपना आत्मा उसमें अनुष्ठान (आचरण) करना वही निश्चय परमावश्यक कर्म है उससे निरन्तर संयुक्त ऐसा जो अपने आत्मा में लीन स्वाधीन परम मुनि सो सर्वोत्कृष्ट अन्तरात्मा है। कैसा है यह महा श्रमण, जो सोलह कषाय और नौ नोकषाय इनके अभाव से होने वाली जो क्षीण मोह नाम बारहवें गुण स्थान की पदवी उसको प्राप्त हो चुका है। सो ही महात्मा है। अन्तरात्माओं में श्रेष्ठ है। तथा असंयम अर्थात संयम रहित अविरत सम्यग्दृष्टी सो जघन्य अन्तरात्मा है। इन दोनों के मध्य में सर्व ही मध्यम अन्तरात्मा हैं अर्थात् पंचम गुणस्थान से ले ग्यारहवे गुणस्थान तक मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये तीनों ही अन्तरात्मा अपने २ गुणस्थान के योग्य व्यवहार निश्चय आवश्यक कर्म को

करने वाले हैं। तथा निश्चय व्यवहार नय द्वारा कही हुई जो परम आवश्यक क्रिया उससे रहित बहिरात्मा हैं। ऐसा ही श्री मार्ग प्रकाश में कहा है। टीकाकार कहते हैं-योगी नित्य ही स्वाभाविक परम आवश्यक कर्म से युक्त हैं तथा संसार से उत्पन्न जो प्रबल सुख दुख रूपी बनी उससे दूर रहने वाले हैं। इसलिये ये योगी निरंतर अपने आत्मा में लीन अंतरात्मा हैं तथा जो अपने आत्म स्वभाव से भ्रष्ट हैं वे बाह्य तत्त्वों में लीन बहिरात्मा हैं।

बाह्याभ्यन्तरजल्पनिरासोयम्—

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ॥१५०॥

अन्तरबाह्यजल्पे यो वर्तते स भवति बहिरात्मा ।
जल्पेषु यो न वर्तते स उच्यतेऽन्तरगात्मा ॥१५०॥

यस्तु जिनलिंगधारी तपोधनाभासः पुण्यकर्मकांक्षया स्वाध्यायप्रत्याख्यानस्तवनादिबहिर्जल्पं करोति, अनशनशयनपानस्थानादिषु सत्कारादिलाभलोभस्सन्नन्तर्जल्पे मनश्चकरोति स बहिरात्मा जीव इति। स्वात्मध्यानपरायणस्सन् निरवशेषेणान्तर्मुखः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तविकल्पजालकेषु कदाचिदपि न वर्तते अत एव परमतपोधनः साक्षादतरात्मेति। तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि—

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला—
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावम्
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥

तथहि—

मुक्त्वा जल्पं भवभयकरं बाह्यमाभ्यन्तरं च
स्मृत्वा नित्यं समरसमय चिच्चमत्कारमेकम् ।
ज्ञानज्योतिःप्रकटितनिजाभ्यन्तरांगांतरात्मा
क्षीण मोहे किमपि परम तत्त्वमन्तर्ददर्श ॥

आगे बाह्य अभ्यतर जो अल्प अर्थात् वचन उसके त्याग का उपदेश करते है—

सामान्यार्थ—जो अन्तरग और बाह्य जल्प अर्थात् वचन रचना में वर्तन करता है परन्तु स्वरूप चिन्तवन नहो करता वह बहिरात्मा है किन्तु जो इन जल्पो मे नहीं रहता उसी को अन्तरात्मा कहते है ।

विशेषार्थ—जो कोई जिनलिगधारी तपोधनाभास अर्थात् मुनि नही किन्तु मुनिसा दीखनेवाला पुण्य कर्म्म की इच्छा करके स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बाह्य कार्यों में जल्प करता है अर्थात् शब्दों को कहता है तथा भोजनपान शयनादि के स्थानों में अपने आदर सत्कार के पाने का लालची होकर अन्तरंग भाव वचन रूपी जल्प मन मे कहता है सो बहिरात्मा जीव है । परन्तु जो अपने आत्मा के ध्यान में लीन होकर तथा सम्पूर्णतया अन्तरग में सन्मुख रहकर शुभ तथा अशुभ समस्त विकल्प जालों में कभी नही वर्तन करता है सो ही परम तपोधन साधु साक्षात् अन्तरात्मा है । ऐसा ही श्री अमृत चन्द्र सूरी ने कहा है कि अपनी इच्छापूर्वक उछलते हुये समस्त विकल्प जालों को तथा महा भारी नयो की पक्षरूपी श्रेणी को इस प्रकार उल्लंघन करके जो वर्तता है वही अन्तरंग और बहिरंग दोनों अवस्थाओं में एक समरसता रसमई स्वभाव जो अपना ही अनुभव

मात्र भाव है उसको प्राप्त करता है। टीकाकार कहते हैं-संसार के भय को पैदा करने वाले सर्व अन्तरंग और बहिरंग जालों को त्याग कर तथा नित्य समता रसमई एक चैतन्य के चमत्कार-मात्र स्वरूप को स्मरण करके ज्ञान ज्योति के द्वारा प्रकाशमान है अपना अभ्यंतर जिसका ऐसा अन्तरात्मा मोह के क्षय होने पर किसी परम तत्त्व को अन्तरंग में साक्षात् देखने लगा।

अत्र स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वितयमेवोपादेयमित्युक्तम्—

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सोवि अन्तरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥१५१॥

यो धर्मशुक्लध्यानयोः परिणतः सोप्यन्तरंगात्मा।
ध्यानविहीनः श्रमणो बहिरात्मेति विजानीहि ॥१५१॥

इह हि साक्षादन्तरात्मा भगवान् क्षीणकषायः, तस्य खलु भगवतः क्षीणकषायस्य षोडशकषायाणामभावात् दर्शनचारित्र मोहनीयकर्मराजन्ये विलयं गते अतएव सहजचिद्विलासलक्षणा-मत्यपूर्व्वमात्मानं शुद्धनिश्चयधर्मशुक्लध्यानद्वयेन नित्यं ध्यायति आभ्यां ध्यानाभ्याम् विहीनो द्रव्यलिंगधारी द्रव्यश्रमणो बहिरा-त्मेति हे शिष्य त्वं जानीहि।

कश्चिन्मुनिः सततनिर्म्मलधर्मशुक्लध्यानामृते समरसे खलु वर्ततेऽसौ। ताभ्यां विहीनमुनिको बहिरात्मकोयं पूर्वोक्तयोगिन-महं शरणं प्रपद्ये।

किञ्च। केवलं शुद्धनिश्चयनयस्वरूपमुच्यते।
"बहिरात्मान्तरात्मेति विकल्पः कुधियामयम्।
सुधियां न समस्त्येष संसाररमणीप्रियः"

आगे कहते हैं कि अपने आत्मा के आश्रय जो शुक्लध्यान सो ही उपादेय है—

सामान्यार्थ—जो साधु पुरुष धर्म्म ध्यान और शुक्ल ध्यानों में परिणमन करता है वही अन्तरात्मा है। तथा जो मुनि ध्यान से रहित है सो बहिरात्मा है ऐसा जानो।

विशेषार्थ—जो साक्षात् उत्कृष्ट अन्तरात्मा भगवान क्षीण कषाय है उस क्षीण मोह भगवान् के निश्चय से १६ कषाय और ९ नोकषाय के अभाव से दर्शन मोहनी और चरित्र मोहनी रूपी अन्धकार विलय गए हैं इसलिये वह महात्मा स्वाभाविक चैतन्य का विलास है लक्षण जिसका ऐसे अत्यन्त अपूर्व आत्मा को शुद्ध निश्चय धर्म्म शुक्ल ध्यानों से नित्य ध्याता है। परन्तु जो इन दोनों ध्यानों से रहित द्रव्यलिंगी द्रव्यश्रमण है वह बहिरात्मा है ऐसा हे, शिष्य ! तुम जानो। टीकाकार कहते हैं—वही असल मुनि है जोकि सदा निर्मल धर्म और शुक्ल ध्यानामृतमई समता रस में वर्तन करता है, जो इन ध्यानों से रहित है वह बहिरात्मा है। मैं पूर्व में कहे हुये अन्तरात्मा योगी की शरण में प्राप्त होता हूं। तथा केवल शुद्ध निश्चय नय का स्वरूप यह है कि वह बहिरात्मा है अथवा वह अन्तरात्मा है ऐसा जो विकल्प सो संसार रूपी रमणी (स्त्री) उसी को प्यार करने वाला है। सो यह विकल्प कुधी जो मंद विज्ञान रहित मिथ्यादृष्टी उन्हीं को होता है परन्तु सुधी जो सम्यग्दृष्टी हैं उनके बिलकुल नहीं होता।

परमवीतरागचारित्रस्थितस्य परमतपोधनस्य स्वरूपमुक्तं—

पडिकमणपहुदिकिरियं कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तम्।
तेण दु विरागचरिए समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥१५२॥

प्रतिक्रमणप्रभृतिक्रियां कुर्व्वन् निश्चयस्य चारित्रं।
तेन तु विरागचरिते श्रमणोभ्युत्थितो भवति ।।१५२।।

यो हि विमुक्तैहिकव्यापारः साक्षादपुनर्भवकांक्षी महामुमुक्षुः परित्यक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वान्निश्चयप्रतिक्रमणादिसत्क्रियां कुर्वन्नास्ते, तेन कारणेन स्वस्वरूपविश्रान्तिलक्षणे परमवीतरागचरित्रे स परमतपोधनस्तिष्ठति इति ।

आत्मा तिष्ठत्यतुलमहिमा नष्टदृक्शीलमोहो
य: संसारोद्भवसुखकर: कर्ममुक्तो विमुक्त: ।
मूले शीले मलविरहिते सोयमाचारराशि:
तं वंदेहं समरससुधासिन्धुराकाशशांकम् ।।

आगे परम वीतराग चारित्र में लीन जो परम तपोधन मुनि उनका स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—प्रतिक्रमण आदि की निश्चय चारित्र रूप क्रिया को करता हुआ जो रहता है। वही श्रमण इसी निश्चय चारित्र के द्वारा वीतराग चारित्र में स्थिर होता है ।

विशेषार्थ—जो इस लोक सम्बन्धी समस्त व्यापार को त्याग करके साक्षात् मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला महा मुमुक्षु साधु सर्व पंच इन्द्रियों के व्यापारों को त्यागने से निश्चय प्रतिक्रमण आदि सत क्रियाओं को करता रहता है वही परम तपोधन इसी उपाय करके अपने आत्मीक स्वरूप में विश्रांति लेना है लक्षण जिसका ऐसे परम वीतराग चारित्र में तिष्ठता है। टीकाकार कहते हैं—नष्ट हो गया है दर्शन और चारित्र मोह जिसका ऐसा अतुल महिमा का धारी आत्मा सांसारिक सुख को करने वाले कर्म्मों से मुक्त होता हुआ मल रहित मोक्ष के मूल चारित्र में तिष्ठता है वही मुनि आचार की राशि अर्थात् निधि-

रूप है। मैं समता रसरूप अमृतमई समुद्र के बढ़ानेवाले चन्द्रमा के समान ऐसे तपोनिधि को बन्दना करता हूं।

सकलवाग्विषयव्यापारनिरासोयम्—

वयणमयं पडिकमणं वयणमयं पचक्खाण णियमं च।
आलोयण वयणमयं तं सव्वं जाण सज्झाउं ॥१५३॥

वचनमयं प्रतिक्रमणं वचनमयं प्रत्याख्यानं नियमश्च।
आलोचनं वचनमयं तत्सर्वं जानीहि स्वाध्यायम् ॥१५३॥

पाक्षिकादिप्रतिक्रमणक्रियापारणं निर्य्यापकाचार्यमुखोद्गतं समस्तपापक्षयहेतुभूतं द्रव्यश्रुतमखिलं वाग्वर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वान्न ग्राह्यं भवति प्रत्याख्याननियमालोचनाश्च पौद्गलिकवचनमयत्वात्तत्सर्व्वं स्वाध्यायमिति रे शिष्य त्वं जानीहि इति।

मुक्त्वा भव्यो वचनरचना सर्वदातः समस्तां
निर्व्वाणश्रीस्तनभरयुगाश्लेषसौख्यस्पृहाढ्यः।
नित्यानदाद्यतुलमहिमाधारके स्वस्वरूपे
स्थित्वा सर्वं तृणामिव जगज्जालमेको ददर्श ॥

तथा चोक्तम्—

"परियट्टण च वायण पुच्छण अणुपेक्खणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होदि सज्झाउ ॥"

आगे सर्व वचन सम्बन्धी व्यापार के त्याग का उपदेश है—

सामान्यार्थ—वचनमई प्रतिक्रमण, वचनमई प्रत्याख्यान तथा नियम, और वचनमई आलोचना ये सर्व स्वाध्याय में गर्भित हैं ऐसा जानो।

विशेषार्थ—पाक्षिक मासिक आदि प्रतिक्रमण की क्रिया पढ़ना तथा निर्यापक आचार्य्य के मुख से प्रगट समस्त पापों के क्षय का कारण जो द्रव्यश्रुत उसका पाठ इत्यादि सर्व वचन वर्गणा के योग्य क्रिया सो पुद्गल द्रव्य के आश्रय जड़मई हैं। इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं। प्रत्याख्यान, नियम आलोचना ये सर्व पुद्गल वचनमई हैं इसलिये स्वाध्याय ही है, ऐसा हे शिष्य तुम जानो। टीकाकार कहते हैं—इसलिये वह भव्यजीव जो निर्वाण रूपी स्त्री के स्तन युगल के स्पर्श के सुख की इच्छा करता है सो सर्वदा समस्त वचन की रचना को छोड़कर नित्य आनन्द आदि अतुल महिमा के धारक अपने आत्म स्वरूप में स्थित होता है। वही एक इस जगत के जाल को तृण के समान देखता हुआ रहता है। ऐसा ही कहा है—कि वाचना, पूछना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश और आम्नाय ये सर्व स्तुति मंगल सहित किये जाने से पांच प्रकार के स्वाध्याय होते हैं।

अत्र शुद्धनिश्चयधर्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणादिकमेव कर्तव्य-मित्युक्तम्—

जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयम् ।
सत्तिविहीणो जो जइ सद्दहणं चेव कायव्वम् ॥१५४॥

यदि शक्यते कर्तुम् अहो प्रतिक्रमणादिकं करोषि ध्यानमयम् ।
शक्तिविहीनो यावद्यदि श्रद्धानं चैव कर्तव्यम् ॥१५४॥

मुक्तिसुंदरीप्रथमदर्शनप्राभृतात्मकनिश्चयप्रतिक्रमणप्रायश्चित्तप्रत्याख्यानप्रमुखशुद्धनिश्चयक्रियाश्चैव कर्तव्याः। संहननशक्ति-प्रादुर्भावे संति हंहो मुनिशार्दूल परमागममकरंदनिष्यन्दिमुख-पद्मप्रभसहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः परद्रव्य-पराङ्मुख-

स्वद्रव्यनिष्णातबुद्धेः पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश-क्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्व-श्रद्धानमेव कर्तव्यमिति ।

> असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले
> न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति ।
> अतोऽध्यात्म ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियाम्
> निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम् ।।

इह हि साक्षादन्तर्मुखस्य परमजिनयोगिनः शिक्षणमिद-मुक्तम्—

> जिनकथितपरमसूत्रे प्रतिक्रमणादिकं परीक्षयित्वा ।
> स्फुटमौनव्रतेन योगी निजकार्यं साधयेन्नित्यम् ।।

श्रीमदर्हन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तपदार्थगर्भीकृतचतुरसन्दर्भे द्रव्यश्रुते शुद्धनिश्चयनयात्मकपरमात्मध्यानात्मकप्रतिक्रमणप्रभृ-तिसत्क्रियां बुद्ध्वा केवलं स्वकार्यपरः परमजिनयोगीश्वरः प्रश-स्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य निखिलसंगव्यासंगं मुक्त्वा चैकाकीयभूय मौनव्रतेन सार्द्धं समस्तपशुजनैः निंद्यमानोऽप्यभिन्नः सन् निजकार्यं निर्वाणवामलोचनासंभोगसौख्यमूलमनवरतं साध-येदिति ।

> हित्वा भीतिं पशुजनकृतां लौकिकीमात्मवेदी
> शस्ताशस्तां वचनरचनां घोरसंसारकर्त्रीं ।
> मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं चात्मनात्मा
> स्वात्मन्येव स्थितिमविचलां याति मुक्त्यै मुमुक्षुः ।।

> भीतिं विहाय पशुभिर्मनुजैः कृतां तं
> मुक्त्वा मुनिः सकललौकिकजल्पजालम् ।

आत्मप्रवादकुशलः परमात्मवेदी
प्राप्नोति नित्यसुखदं निजतत्त्वमेकम् ॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध निश्चय धर्म्मध्यान स्वरूप ही प्रतिक्रमण आदि करने योग्य हैं:—

सामान्यार्थ—हे भाई ! यदि तू करने की शक्ति रखता है तो ध्यानमई प्रतिक्रमणादिकों को कर और जो तेरी शक्ति न हो तो तबतक ऐसा श्रद्धान तो करना ही चाहिये।

विशेषार्थः—मुक्तिरूपी सुन्दरी के प्रथम दर्शन स्वरूप ऐसी जो निश्चय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त प्रत्याख्यान आदि शुद्ध निश्चय क्रिया उनही को यदि हे मुनिशार्दूल अर्थात् मुनिसिंह तेरे में संहनन की शक्ति प्रकाशमान है अर्थात् यदि तू उत्तम संहनन धारी है तो तुझे करना योग्य है। कैसा है मुनिसिंह, परमागम की सुगध में लीन है मुख जिसका तथा कमल के समान प्रभावान है। पद्मप्रभ है नाम जिसका तथा जो स्वाभाविक वैराग्य के महल के शिखर का शिखामणि है। और जो परद्रव्यों से उदास हो अपने आत्मद्रव्य में बुद्धि को धरने वाला है तथा पंचेन्द्रियों के फैलाव से रहित शरीरमात्र परिग्रह का धारी है और यदि तू शक्ति करके हीन है तो इस दग्धकाल अकाल पचमकाल में तुझे इस केवल उस स्वरूप का श्रद्धान ही करना योग्य है। टीकाकार कहते हैं—इस असार ससार में पापों से भरे हुए इस क्षेत्र में कलिकाल पचमकाल में इस अघ रहित तीर्थंकर जिनेन्द्र के धर्म्म के अनुसार मुक्ति नहीं हो सकती है इसलिये किस प्रकार से उस आध्यात्मीक ध्यान का होना सभव है ? निर्मल बुद्धिमानों के लिये इस कारण भवभय को हरनेवाला अपने आत्मा का श्रद्धान ही करना स्वीकार योग्य है।

वाग्विषयव्यापारनिवृत्तिहेतूपन्यासोऽयम्:—

णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥१५५॥

नानजीवा नानाकर्म्म नानाविद्या भवेल्लब्धि: ।
तस्माद्वचनविवाद: स्वपरसमयैर्वर्जनीय: ॥१५५॥

जीवा हि नानाविधा: मुक्ता अमुक्ता: भव्या अभव्याश्च, संसारिण: त्रसा: स्थावरा द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञि-भेदात् पंच त्रसा:, पृथ्व्यप्तेजोवायुवनस्पतय: स्थावरा: भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहजज्ञानादिगुणै: भवनयोग्या भव्या: एतेषां विपरीता ह्यभव्या:, कर्म नानाविधम् द्रव्यभावनोकर्म-भेदात्, अथवा मूलोत्तरप्रकृतिभेदाच्च, अथ तीव्रतरतीव्रमदमद-तरोदयभेदाद्वा, जीवानां सुखादिप्राप्तेर्लब्धि: कालकरणोपदेशो-पशमप्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा । तत: परमार्थवेदिभि: स्वपरस-मयेषु वादो न कर्तव्य इति ।

विकल्पो जीवानां भवति बहुधा संसृतिकर:
तथा कर्मानेकविधमपि सदा जन्मजनकम् ।
असौ लब्धिर्नाना विमलजिनमार्गे हि विदिता
तत: कर्तव्यं नो स्वपरसमयैर्वादवचनम् ॥

आगे साक्षात् अंतरंगमुखी जो परमवीतरागी योगी है उसको शिक्षा कहते हैं—

सामान्यार्थ—जिनेन्द्र कथित परमसूत्रों से प्रतिक्रमण आदि का स्वरूप भले प्रकार परीक्षा करके जो योगी प्रगटपने मौन व्रत के साथ धारण करता है वही साधु नित्य अपने कार्य्य को साधता है ।

विशेषार्थ—श्रीमत् अर्हत के मुखकमल से प्रगट सर्व पदार्थों को अपने गर्भ में रखने को चतुर ऐसे द्रव्यश्रुत से शुद्धनिश्चय स्वरूप परमात्मध्यानमई प्रतिक्रमण आदि सतक्रियाओं को समझकर केवल अपने आत्मीक कार्य्य में तत्पर ऐसा परम जिन वीतरागी योगीश्वर शुभ तथा समस्त परिग्रह और अन्य के संग को छोड करके अकेला रह मौन व्रत के साथ तिष्ठ सर्व अज्ञानी जनों से निंदता जाता हुआ भी अक्षोभित रह मुक्तिस्त्री के संभोग के सुख के मूल अपने आत्मीक कार्य्य को निरन्तर साधता है। टीकाकार कहते है -अज्ञानी मनुष्यों से करी हुई लौकिक निन्दा के भय को छोड़कर जो कोई आत्मज्ञानी मोक्ष का इच्छुक आत्मा है सो भयानक ससार को करने वाली शुभ तथा अशुभ समस्त वचन की रचना को हटाकर तथा सुवर्ण और स्त्री के मोह को दूरकर अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा में केवल मुक्ति के लिये निश्चल स्थिति करता है। अज्ञानी मनुष्यों से करी हुई निन्दा के भय को त्यागकर तथा सम्पूर्ण लौकीक वचन के जालों को दूरकर आत्मप्रवाद आगम में चतुर ऐसा परमात्मवेदी मुनि नित्त्य सुख को देने वाले अपने एक आत्मीक तत्त्व को ही प्राप्त होता है।

अत्र दृष्टान्तमुखेन सहजतत्त्वाराधनाविधिरुक्तः।

लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तें।
तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परत्तत्तिम् ॥१५६॥

लब्ध्वा तु निधिमेकस्तस्य फलमनुभवति सुजनत्वेन।
तथा ज्ञानी ज्ञाननिधिं भुंक्ते त्यक्त्वा परततिम् ॥१५६॥

कश्चिदेको दरिद्रः क्वचित् कदाचित् सुकृतोदयेन निधिं लब्ध्वा तस्य निधेः फल हि सौजन्यम् जन्मभूमिरिति रहस्ये

स्थाने स्थित्वा अतिगूढ़वृत्त्यानुभवति इति दृष्टान्तपक्षः, दार्ष्टान्तपक्षेऽपि सहजपरमतत्त्वज्ञानी जीवः क्वचिदासन्नभव्योदयस्य गुणोदये सति सहजवैराग्यसम्पत्तौ सत्याम् परमगुरुचलननलिनयुगलनिरतिशयभक्त्या मुक्तिसुन्दरीमुखम५.रन्दायमानं सहजज्ञाननिधिं परिप्राप्य परेषां जनानां स्वरूपविकलानां तंति समूह ध्यानप्रत्यूहकारणमिति त्यजति ।

अस्मि.न् लाके लौकिकः कश्चिदेकः
लब्ध्वा पुण्यात् कचनानां समूह्ं ।
गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसगो
ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति ।।
त्यक्तवा सगं जननमरणातंकहेतुं समस्तं
कृत्वा बुद्धया हृदयकमले पूर्णवैराग्यभावम् ।
स्थित्वा शक्त्या सहजपरमानंदनिर्व्यग्ररूपे
क्षीणे मोहे तृणमिवं सदा लोकमालोकयामः ।।

आगे वचन सम्बन्धी सर्व व्यापारों से निवृत्ति होने के कारण का संक्षेप कथन करते है—

सामान्यार्थ—नाना प्रकार के जीव हैं नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की जावा के लब्धियाँ होती हैं इसलिये अपने और परके समयों अर्थात् धर्म्मों से वचनों का विवाद मिटाना योग्य है ।

विशेषार्थ—जीव अनेक प्रकार के हैं जैसे मुक्त और संसारी भव्य और अभव्य । तथा ससारी के दो भेद हैं—त्रस और स्थावर । द्वीन्द्रिय, तेन्द्री, चौंद्री, पंचेंद्री असैनी और सैनी ऐसे पांच प्रकार त्रस हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं । आगामी काल में स्वभाव से अनंत चतुष्टयमई स्वाभाविक ज्ञान आदि गुणों करके होने योग्य अर्थात् जिनके ये गुण आगामी

प्रकट हो सकें सो भव्य हैं। इनसे विपरीत जो हैं अर्थात् जिनके अनंत ज्ञान आदि प्रकट न हो सकें वे अभव्य हैं। कर्म्म नाना प्रकार के हैं—द्रव्यकर्म भावकर्म्म और नोकर्म भेद से तीन प्रकार के कर्म्म हैं, अथवा मूल प्रकृति के भेद से द्रव्यकर्म ८ प्रकार हैं तथा उत्तर प्रकृति १४८ हैं। तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर कर्मों के उदय से जीवों के सुख आदि की प्राप्ति सो लब्धि है। तथा काल, उपशम, उपदेश, प्रायोग्य और करण लब्धि के भेद से पाँच प्रकार लब्धि है। इसलिये जो परमार्थ निश्चय के ज्ञाता हैं उनको अपने तथा परके मतों से वाद विवाद नहीं करना योग्य है। भावार्थ यह है कि—जबतक जीवों के शुभ कर्म्म के उदय से काल आदि लब्धि की प्राप्ति नहीं होती तबतक सत्य मार्ग का श्रद्धान नहीं होता। ऐसा मन में निश्चय कर परके समझाने के लिये अत्यन्त आकुलता नहीं करनी। यदि अपने को शुद्ध निश्चय स्वरूप का श्रद्धान हो जाय तो अपने हित में प्रमाद नहीं करना। अपना कार्य्य तो करना ही। क्योंकि सर्व जीव हमारे विचार के हो जाँय सो कठिन है। टीकाकार कहते हैं कि जीवों के जो नाना प्रकार के विकल्प होते हैं वे सर्व ससार के कारण हैं तथा अनेक प्रकार के कर्म भी सदा जीवों को जन्म जन्म में भ्रमण कराने वाले हैं। योग्य अवसर की तथा अन्य लब्धियों की प्राप्ति होना सो सर्व निर्मल जिनेन्द्र के मार्ग में विदित है अर्थात् सर्व के नहीं होती, इसलिये स्वसमयरूप अपना आगम तथा पर समय रूप पर का आगम इनमें वाद विवाद नहीं करना योग्य है। भावार्थ—यह अध्यात्मीक शास्त्र है इसमें मुख्यता से यही उपदेश है कि निज आत्मीक अनुभव करना योग्य है, वाद विवाद में पड़ने से कार्य्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

परमावश्यकाधिकारोपसंहारोपन्यासोयम्—

सव्वे पुराणपुरिसा एवं आवासयं य काऊण ।
अपमत्तपहुदिठाणं पडिवज्ज य केवली जादा ॥१५७॥

सर्वे पुराणपुरुषा एवमावश्यकं च कृत्वा ।
अप्रमत्तप्रभृतिस्थानं प्रतिपद्य च केवलिनो जाताः ॥१५७॥

स्वात्माश्रयनिश्चयधर्मशुक्लध्यानस्वरूपम् बाह्यावश्यकादिक्रियाप्रतिपक्षकादिशुद्धनिश्चयपरमावश्यकम् साक्षादपुनर्भववारांगनाङ्गसुखकारणं कृत्वा सर्वे पुराणपुरुषास्तीर्थकरपरमदेवादयः स्वयं बुद्धाः केचिद् बोधितबुद्धाश्चाप्रमत्तादिसयोगिभट्टारकगुणस्थानपंक्तिमध्यारूढाः सन्तः केवलिनः सकलप्रत्यक्षज्ञानधराः परामावश्यकात्माराधनाप्रसादात् जाताश्चेति ।

स्वात्माराधनया पुराणपुरुषाः सर्वे पुरा योगिनः
प्रध्वस्ताखिलकर्मराक्षसगणा ये विष्णवो जिष्णवः ।
तान्नित्यं प्रणमन्त्यनन्यमनसा मुक्तिस्पृहो निस्पृहाः
स स्यात् सर्वजनार्चितांध्रिकमलः पापाटवीपावकः ॥

मुक्त्वा मोहं कनकरमणीगोचरं हेयरूपम्
नित्यानन्दं निरुपमगुणालंकृतं दिव्यमोहम् ।
चेतः शीघ्रं प्रविश परमात्मानमव्यग्ररूपं
लब्ध्वा धर्मं परमगुरुतः शर्म्मणे निर्मलाय ॥

इतिसुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहश्री पद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ निश्चयपरमावश्यकाधिकार एकादशमः श्रुतस्कन्धः ॥११॥

आगे दृष्टान्त दे करके स्वाभाविक तत्व की आराधना की विधि कहते हैं—

सामान्यार्थ—जैसे कोई दलिद्री धन को पाकर उसका फल अपनी जन्म भूमि में अत्यन्त गुप्तपने से भोगता है; ऐसे ही ज्ञानी ज्ञान निधि को पाकर परद्रव्यों के समूहों को त्यागकर उसी का भोग करता है ।

विशेषार्थ—किसी दलिद्री को कभी किसी पुण्य के उदय से निधि अर्थात् धन प्राप्त हो जावे तो वह अपनी जन्म भूमि में जाकर अत्यन्त गूढताई के साथ उस धन का फल भोगता है, इसी तरह स्वाभाविक परमतत्त्व का ज्ञाता जीव जब कभी निकट भव्यता के गुणों के उदय होते हुये स्वाभाविक वैराग्य की सम्पत्ति को प्राप्त करता है तब परमगुरु के चरण कमलों की उत्कृष्ट भक्ति के द्वारा मुक्ति रूपी सुन्दरी के मुख की सुगंध से सुगंधित ऐसी सहज ज्ञान निधि का लाभ करता है तथा उस समय आत्म स्वरूप से रहित अन्य मनुष्यों के समूह को ध्यान में विघ्न का कारण जान त्यागता है और स्वाभाविक आत्म-ज्ञान निधि के भोगों को भोगता है। टीकाकार कहते हैं कि इस लोक में कोई लौकिक जन पुण्य के निमित्त से कंचन के ढेर को प्राप्त कर गूढ़ रह उसको वर्तता है उसी तरह ज्ञानी जीव सर्व संग को तजकर अपने आत्म ज्ञान की रक्षा करता है। जन्म मरण और रोगादि उपाधि के कारण सर्व परिग्रह को अपनी बुद्धि से त्याग करके तथा हृदय कमल में पूर्ण वैराग्य के भाव को धारण करके तथा अपनी शक्ति अनुसार स्वाभाविक परमानंद से भरपूर क्षीण मोह की अवस्था में ठहर करके हम सदा ही इस लोक को तृण के समान देखते हैं। भावार्थ—लोक की परवाह न करके निज स्वरूप ही का ध्यान करते हैं।

अथ सकलकर्मप्रलयहेतुभूतशुद्धोपयोगाधिकार उच्यते ।

अत्र ज्ञानिनः स्वपरस्वरूपप्रकाशकत्वं कथंचिदुक्तं :—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥१५८॥

जानाति पश्यति सर्वं व्यवहारनयेन केवली भगवान् ।
केवलज्ञानी जानाति पश्यति नियमेन आत्मानम् ॥१५८॥

आत्मगुणघातिकर्मप्रध्वंसनेनासादितसकलविमलकेवलज्ञान - केवलदर्शनाभ्याम् व्यवहारनयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसचराचर-द्रव्यगुणपर्य्यायान् एकस्मिन् समये जानाति पश्यति च, स भगवान् परमेश्वरः परमभट्टारकः, पराश्रितो व्यवहारः, इति वचनात्. शुद्धनिश्चयतः परमेश्वरस्य महादेवाधिदेवस्य सर्वज्ञ-वीतरागस्य परमद्रव्यग्राहकत्वदर्शकत्वज्ञापकत्वादिविविधविकल्प-वाहिनीसमुद्भूतमूलध्यानाभावादः, स भगवान् त्रिकालनिरुपाध-निरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमा-त्मानं स्वयं कार्यपरमात्मापि जानाति पश्यति च। किं कृत्वा। ज्ञानधर्मोय तावत् स्वपरप्रकाशकत्वं प्रदीपवत्। घटादिप्रमितेः प्रकाशो दीपस्तावद्भिन्नोपि स्वयं प्रकाशस्वरूपत्वात् स्व परं च प्रकाशयति। आत्मापि व्यवहारेण जगत्त्रयं कालत्रय च परं-ज्योतिःस्वरूपत्वात् स्वयप्रकाशात्मकमात्मानं च प्रकाशयति। उक्तं च षण्णवतिपाषंडिविजयोपार्ज्जितविशालकीर्तिभिर्महासेन-पण्डितदेवैः— 'यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्। तत्स्वार्थव्यवसायात्मा कथचित् प्रमितेः पृथक् ॥" अथ निश्चय-पक्षेऽपि स्वपरप्रकाशकत्वमस्त्येवेति सततनिरुपरागनिरंजनस्व-भावनिरतत्वात् स्वाश्रितो निश्चयवचनात्। सहजज्ञानं तावत् आत्मनः सकाशात् सञ्ज्ञालक्षणप्रयोजनेन भिन्नाभिधानाम लक्षण-

लक्षितमपि भिन्नं भवति न वस्तुवृत्त्या चेति अतःकारणात् एतदात्मगतदर्शनसुखचारित्रादिकं जानाति स्वात्मानं कारण-परमात्मस्वरूपमपि जानातीति । तथाचोक्तम् श्रीमदमृतचन्द्र-सूरिभिः—

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतत्
नित्योद्योतं स्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धं ।
एकाकार स्वरसभरतोऽत्यन्तगभीरधीरं
पूर्णज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥

तथाहि—

आत्मा जानाति विश्वं ह्यनवरतमयं केवलज्ञानमूर्तिः
मुक्तिश्रीकामिनीको लमुखकमले कामपीडां तनोति ।
शोभां सौभाग्यचिन्हां व्यवहरणनयाद्देवदेवो जिनस्ते
तेनोच्चैर्निश्चयेन प्रहृतमलकलिः स्वस्वरूपं स वेत्ति ॥

आगे परमावश्यक अधिकार को सकोच करे हैं:—

सामान्यार्थ—सर्व ही प्राचीन महात्माओं ने इसी ही रीति से आवश्यक कर्म को करके अप्रमत्त से ले क्षीणमोह गुण स्थानों मे प्राप्त होकर केवलीपद को प्राप्त किया है ।

विशेषार्थ—अपने ही आत्मा का आश्रय है जिनको ऐसे निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं ये ही शुद्ध निश्चय परमावश्यक कर्म हैं । जो बाह्य सामायिक आदि छः आवश्यक क्रियाओं से प्रतिपक्षी है तथा साक्षात् मोक्षरूपी सुन्दर स्त्री के सगम से उत्पन्न सुख का कारण है ऐसे परमावश्क कर्म को करके सर्व प्राचीन पुरुष तीर्थङ्कर परमदेव आदिक महान् पुरुष कोई स्वयंबुद्ध कोई दूसरों के द्वारा उपदेश लाभ कर अप्रमत्त से ले

सयोगि ट्टारक गुणस्थान तक पंक्ति रूप आरूढ़ होते हुए सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान के धारी केवली हो गए। यह सर्व महिमा परम आवश्यक कर्म की सेवा से प्राप्त होती है। टीकाकार कहते हैं कि प्राचीन काल में सर्व महान पुरुषों ने अपने आत्मा की आराधना ही करके योगी होकर समस्त कर्म्मरूपी राक्षसों के समूहों को नष्ट कर दिया है—ऐसे जो ज्ञानापेक्षा व्यापक और जिष्णु अर्थात् जय प्राप्त उनको जो कोई संसार का वैरागी मोक्ष का इच्छुक एकाग्र मन होकर नित्य प्रणाम करता है वह जीव पाप रूपी बनी के दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है तथा उनके चरणकमलों को सर्व मनुष्य पूजन करते हैं। सुवर्ण और स्त्री के गोचर सर्व मोह को जो त्यागने योग्य है उसको छोड़कर हे मन! तू परम गुरु के प्रसाद से धर्म का लाभ कर तथा निर्मल आनन्द के लिए परमात्मा में प्रवेश कर। कैसा है परमात्मा, जो नित्य आनन्दरूप है, अनुपम गुणों से शोभायमान है, अलौकिक मोह वाला अर्थात् मुक्ति स्नेही है। तथा जो निराकुल रूप है।

इस प्रकार सुकविरूपा कमलो के लिए सूर्य्य के समान, पचेन्द्रियों के विस्तार से रहित, शरीर मात्र परिग्रह के धारी श्रीपद्मप्रभमलधारी देव विरचित श्री नियमसार प्राकृत ग्रथ की तात्पर्य्य वृत्ति नाम सस्कृत टीका में निश्चय परमावश्यक नाम का ग्यारहवा श्रुतस्कध पूर्ण हुआ।

इह हि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगवद्वर्तनं दृष्टान्तमुखेनोक्तः:—

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वम्॥१५६॥

युगपद् वर्तते ज्ञानं केवलज्ञानिनो दर्शनं च तथा।
दिनकरप्रकाशतापौ यथा वर्तेते तथा ज्ञातव्यम् ॥१५६॥

अत्र दृष्टान्तपक्षे क्वचित्काले बलाहकप्रक्षाभावे विद्यमाने नभस्स्थलस्य मध्यगतस्य सहस्रकिरणस्य प्रकाशतापौ यथा युगपद् वर्तेते तथैव च भगवतः परमेश्वरस्य तीर्थनाथस्य जगत्त्रयवर्तिषु स्थावरजंगमद्रव्यगुणपर्यात्मिकेषु ज्ञेयेषु सकलविमलकेवलज्ञान-केवलदर्शने च युगपद् वर्तेते। किं च संसारिणां दर्शनपूर्वमेव ज्ञानं भवति इति। तथाचोक्तं प्रवचनसारे—

"णाणं अत्थंतगयं लोयालोयेसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं॥"

अन्यच्च

"दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं पि दोण्णि उवओगा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवी"

तथाहि

वर्तेते ज्ञानदृष्टी भगवति सततं धर्मतीर्थाधिनाथे
सर्वज्ञेऽस्मिन् समंतात् युगपदसदृशे विश्वलोकैकनाथे।
एतावुष्णप्रकाशौ पुनरपि जगतां लोचनं जायतेऽस्मिन्
तेजोराशौ दिनेशे हतनिखिलतमस्स्तोमके ते तथैवम्॥

सद्बोधपोतमधिरुह्य भवाम्बुराशि—
मुल्लघ्य शाश्वतपुरी सहसा त्वयाप्ता।
तामेव तेन जिननाथपथाधुनाहं
याम्यन्यदस्ति शरणं किमिहोत्तमानां॥
एको देवः स जयति जिनः केवलज्ञानभानुः
कामं कान्ति वदन कमले संतनोत्येव कांचित्।

मुक्ते स्तस्याः समरसमयानंगसौख्यप्रदायाः
कोनालं संदिशतुमनिश प्रेमभूमेः प्रियायाः ॥

जिनेन्द्रो मुक्तिकामिन्याः मुखपद्मो जगाम सः
अललीलां पुनः काममनङ्गसुखमद्वयम् ।

शुद्धोपयोगाधिकार ।

आगे सर्व कर्मों को नष्ट करने वाले शुद्धोपयोग नाम के अधिकार को कहते हैं ।

प्रथम कहते हैं कि ज्ञानो जीव के ही किसी अपेक्षा से स्वपर स्वरूप का प्रकाशकपना है:—

सामान्यार्थ—केवली भगवान् सर्व पदार्थों को जानते देखने हैं यह व्यवहार नय करके है परन्तु नियम करके अर्थात् निश्चय करके केवल ज्ञानी अपने आत्मस्वरूप को ही जानते और देखते हैं ।

विशेषार्थ—आत्मा के गुणों को घात करने वाले कर्मों को नाश कर देने से सर्व प्रकार से निर्मल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं । इनके द्वारा व्यवहार नय से श्री अरहंत भगवान परमेश्वर परमभट्टारक तीन काल सम्बन्धी और तीन जगत के सर्व चर और अचर अर्थात् त्रस और स्थावर जीव तथा पुग्दलादि द्रव्यों के गुण और पर्यायों को एक ही समय में जानते हैं । व्यवहार नय पराश्रित है ऐसा सिद्धान्त का वचन है, अर्थात् अपने से अन्य जो पदार्थ उनके आश्रय से जो कथन

अपने में किया जाय सो व्यवहार नय है। परन्तु शुद्ध निश्चय से परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञ वीतराग देवके परद्रव्यों काग्रहण करनेवाला ऐसाजो दर्शकपना तथा ज्ञायकपना आदि नानाप्रकार के विकल्प उनको नदी से उत्पन्न जो अवस्था सो मूलध्यान से अन्य कथन है अर्थात् अपवाद है। भावार्थ—यह उपचार नय से कथन है कि पर के ज्ञाता द्रष्टा हैं। निश्चय अपेक्षा यह एक अपवाद है। वे भगवान् कार्य्य परमात्मा होने पर भी तीनों कालों में उपाधिरहित तथा मर्यादा रहित नित्य शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान स्वभाविक दर्शन से अपने कारण परमात्मा को स्वयं जानते और देखते हैं, कैसे जानते देखते हैं कि यह ज्ञान का धर्म है यह मेरा धर्म, प्रदीप के समान स्वपरप्रकाशक है। जैसे घटपट आदि पदार्थों का प्रकाश करने वाला दीपक है सो प्रकाश होने योग्य पदार्थों से भिन्न होने पर भी अपने स्वाभाविक स्वपर प्रकाशपने के स्वभाव से प्रकाशता है तथा दूसरों को भी प्रकाशित करता यह आत्मा ही व्यवहार नय से तीन जगत और तीनों कालों को प्रकाशता है, वैसे ही यह आत्मा परम ज्योतिस्वरूप होने के कारण अपने आत्मा को भी प्रकाश करता है। ऐसा ही ९६ प्रकार के पाखडों को विजय करने से महान कीर्त्ति को प्राप्त करने वाले श्री महासेन पडित देव ने कहा है कि यथार्थ वस्तु का निर्णय सो ही सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान प्रदीप के समान आप और परपदार्थ को निश्चय करने स्वरूप है तथा प्रमिति जो प्रमाण का फल उससे किसी अपेक्षा से पृथक् पृथक् है। अब कहते हैं कि यह ज्ञान निश्चय-नय करके भी स्वपर प्रकाशक है। अर्थात् यह ज्ञान निरन्तर राग रहित अपने निरंजन स्वभाव में लीन रहता है अपने स्वरूप के ही आश्रित है, ऐसे निश्चयनय का वचन है। आत्मा का जो सहज ज्ञान है सो अपने आत्मा से संज्ञा संख्या लक्षण

प्रयोजन की अपेक्षा भिन्न होने पर भी वस्तु वृत्ति अर्थात् आत्म यदार्थ में ही तिष्ठने की अपेक्षा भिन्न नहीं है। इस कारण से यह ज्ञान आत्मा में प्राप्त दर्शन सुख तथा चारित्र आदि गुणों को जानता है, वैसे ही अपने कारण परमात्मा के स्वरूप को भी जानता है। ऐसा ही श्री अमृतचंद्रसूरी ने कहा है कि अपने आत्मा की अचल महिमा में लीन होता हुआ यह पूर्ण ज्ञान प्रकाश मान हो रहा है। कैसा है पूर्णज्ञान जो कर्मबंध के नाश में अविनाशी अनुपम मोक्ष का अनुभव कर रहा है, नित्य उद्योतरूप है, अपनी स्वाभाविक अवस्था को स्पष्ट करने वाला है, अत्यन्त शुद्ध है, एक निज आकार रूप है, अपने रस से भर-पूर है, अत्यन्त गंभीर है तथा धीर है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—यह केवलज्ञान मूर्ति का धारी आत्मा इस सम्पूर्ण जगत को निरन्तर देखता है तथा मोक्ष रूपी सुन्दर स्त्री के कोमल मुख रूपी कमल में अपनी किसी अपूर्व तृष्णा को तथा सौभाग्यमई शाभा को विस्तारता है। वह कथन व्यवहार नय से है। परन्तु निश्चय नय से वह देवों का देव जिनेन्द्र, मल समूह से हटा हुआ अपने ही शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर्ता है।

आत्मनः स्वपरप्रकाशकत्वविरोधोपन्यासोयम—

णाणं परप्पयासं दिट्ठि अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो होदित्ति हि मण्णसे जदिहि ॥१६०॥

ज्ञानं परप्रकाशं दृष्टिरात्मप्रकाशिका चैव।
आत्मा स्वपरप्रकाशो भवतीति हि मन्यसे यदि खलु ॥१६०॥

इह हि तावदात्मनः स्वपरप्रकाशकत्वं कथमिति चेत्। ज्ञानदर्शनादिविशेषगुणसमृद्धो ह्यात्मा, तस्य ज्ञानं शुद्धात्मप्रका-शसमर्थत्वात् परप्रकाशमेव, यद्येवं दृष्टिर्निरंकुशा केवलमभ्यन्तरे

ह्यात्मानं प्रकाशयति चेत् अनेन विधिना स्वपरप्रकाशको ह्यात्मेति हंहो जडमते प्राथमिकशिष्य, दर्शनशुद्धेरभावात् एवं मन्यसे, न खलु जडस्तवत्तस्सकाशादपर: कश्चिच्चन । अथ ह्यविरुद्धा स्याद्वादविद्यादेवता समभ्यर्चनीया सद्भिरनवरतं तत्रैकान्ततो ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं न समस्ति, न केवलं, स्यान्मतं दर्शनमपि शुद्धात्मानं पश्यति दर्शनज्ञानप्रभृत्यनेकधर्माणामाधारो ह्यात्मा व्यवहारपक्षेपि केवलं परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य न जात्यसंबन्ध: (?) सदा बहिरवस्थितत्वात् आत्मप्रतिपत्तेरभावात् स सर्वगतत्वं (?) अत:कारणदिद ज्ञानं भवति मृगतृष्णाजलवत्, प्रतिभासमात्रमेव दर्शनपक्षेपि तथा न केवलमभ्यन्तरप्रतिपत्तिकारण दर्शनं भवति । सदैव सर्वं पश्यति हि चक्षु: स्वस्याभ्यन्तरस्थिता कनीनिकां न पश्यत्येव अत: स्वपरप्रकाशकत्व ज्ञानदर्शनयोरविरुद्धमेव, तत: स्वपरप्रकाश को ह्यात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण इति ।

तथाचोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभि:—

जानन्नप्येष विश्व युगपदपि भवद्भाविभूत समस्तं
मोहाभावाद्यदात्मा परणमति पर नैव निर्लूनकर्म्मा ।।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारनीतां
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथग्पृथगितिद्योतयन् ज्ञानमूर्ति: ।।

तथाहि—

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्गतं ज्ञेयजालम् ।
दृष्टि: साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देव: स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम् ।।

आगे कहते हैं कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन एक साथ ही आत्मा में वर्तते हैं इसी बात को दृष्टान्त द्वारा प्रकट करते हैं—

सामान्यार्थ—जैसे सूर्य्य का प्रकाश और आताप एक ही साथ वर्तन करता है वैसे ही केवली भगवान के एक साथ ही केवल ज्ञान और केवल दर्शन होते हैं, ऐसा जानना योग्य है।

विशेषार्थ—जैसे किसी समय मेघों के आडंबर के दूर होते ही आकाश के मध्य मे विराजित सूर्य्य का आताप और प्रकाश एक साथ ही होता है वैसे ही तीर्थंकर परमेश्वर भगवान के तीन लोक सम्बन्धी समस्त स्थावर और त्रस जीवों के तथा अन्य द्रव्यों के गुण और पर्यायों के जानने में अर्थात ज्ञेय पदार्थों में एक साथ ही सम्पूर्ण प्रकार से निमल केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्रगट होते हैं। परन्तु संसारी जीवों के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है अर्थात प्रथम पदार्थ का निराकार अवलोकन होता है पश्चात उसका ज्ञान होता है। ऐसा ही श्री प्रवचनसार में कहा है। भावार्थ—छद्मस्थों के दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है दोनों उपयोग साथ नहीं होते हैं जब कि केवली भगवान के दोनो उपयोग एक साथ होते हैं। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—जैसे समस्त अन्धकार के समूह को दूर करने वाले तेज की राशि रूप सूर्य के उदय होते आताप और प्रकाश दोनों प्रकट होते हैं तथा जगत के जीवों के नेत्र खुलते हैं अर्थात जगत विनादीपकादि के सर्व कार्य्यों को देखता है और करता है, तैसे ही श्री भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकर देव के सदा ही ज्ञान और दर्शन एक साथ ही होते हैं। कैसे है प्रभु, जो असदृश हैं अर्थात जिनके समान तीनों लोकों में और कोई कपिलादि देव नहीं है तथा जो सर्व लोक के एक अपूर्व ईश्वर हैं। हे जिननाथ! आप सम्यग्ज्ञानरूपी जहाज पर

चढ़कर शीघ्र ही संसार समुद्र को उल्लंघकर मोक्ष की अविनाशी नगरी में पधारते भए। उसी ही मार्ग करके मैं भी उसी मोक्ष पुरी में जाऊंगा। क्योंकि उत्तम पुरुषों को इस मार्ग के सिवाय अन्य कोई शरण अर्थात् रक्षक नहीं है। एकमात्र श्री जिनेन्द्र केवलज्ञान सूर्य्य ही जयवन्त होहु। कैसे हैं ज्ञान सूर्य्य प्रभु, जो भव्यजीवों के मुख कमल में किसी अपूर्व चमक को विस्तारते हैं। जो मुक्तिरूपी स्त्री समरसमई अतीन्द्रिय सुख को देनेवाली है तथा प्रेम की भूमि और परमप्रिय है उसके सुख को रात्रिदिन देने के लिये कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं है। एक श्री जिनेन्द्र ही समर्थ हैं। श्री जिनेन्द्र भगवान ही स्त्री के मुख कमल में भ्रमर के समान क्रीडा करते हुए रमते भए और फिर अद्वितीय किसी अतीन्द्रिय सुख का लाभ करते भए।

पूर्वसूत्रोपात्तपूर्वपक्षस्य सिद्धान्तोक्तिरियं:—

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णम् ।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६१॥

ज्ञानं परप्रकाशं तदा ज्ञानेन दर्शनं भिन्नम् ।
न च भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६१॥

केवलं परप्रकाशकं यदि चेत् ज्ञानं तदा परप्रकाशकप्रधानेनानेन ज्ञानेन दर्शनं भिन्नमेव। परप्रकाशकस्य ज्ञानस्य दर्शनस्य च कथं सम्बन्ध इति चेत् सह्यविन्ध्ययोरिव अथवा भागीरथीश्रीपर्वतवत्, आत्मनिष्ठं यत् तद् दर्शनमस्त्येव निराधारत्वात् तस्य ज्ञानस्य शून्यतापत्तिरेव, अथवा यत्र तत्र गतं ज्ञानं तत्तद्द्रव्यं सर्वं चेतनत्वमापद्यते अतस्त्रिभुवने न कश्चिदचेतनः पदार्थः इति महतो दूषणस्यावतारः। तदेव ज्ञानं केवलं न परप्रकाशकम्,

इत्युच्च से हे शिष्य तर्हि दर्शनमपि न केवलमात्मगतमित्यभिहितम्, ततः खल्विनमेव समाधानम् सिद्धान्तहृदयं ज्ञानदर्शनयोः कथंचित् स्वपरप्रकाशत्वमस्त्येवेति ।

तथाचोक्तम् श्रीमहासेनपंडितदेवैः—

ज्ञानाद्भिन्नो न नाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन ।
ज्ञातं पूर्वापरीभूत सोऽयमात्मेति कीर्तितः ।

तथाहि—

आत्मा ज्ञानं भवति न हि वा दर्शनं चैव तद्वत्
ताभ्या युक्तः स्वपरविषयं वेत्ति पश्यत्यवश्यम् ।
संज्ञाभेदादघकुलहरे चात्मनि ज्ञानदृष्टयोः
भेदो जातो न खलु परमार्थेन वह्न्युष्णवत्सः ।।

आगे आत्मा स्वपरप्रकाशक है इसके विरोधका निराकरण करते है :—

सामान्यार्थ—यदि कोई आत्मा को निश्चय से स्वपरप्रकाशी है । ऐसा मानता है, तथा कहता है कि ज्ञान परप्रकाश ही है, तथा दर्शन आत्म प्रकाशक ही है ।।

विशेषार्थ—अब यहां कहते हैं कि आत्मा स्वपरप्रकाशक किस प्रकार है—ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणों करके सहित ही आत्मा है । यदि आत्मा का ज्ञान शुद्धात्मा को प्रकाश करने में असमर्थ होने परको ही प्रकाश करने वाला है तथा इसी प्रकारसे आत्मा का दर्शन अंकुश रहित केवल अभ्यंतर में ही आत्मा को प्रकाश करता है इस प्रकार से स्वपरप्रकाशक आत्मा है । आचार्य कहते हैं हे जड़मती यदि तू ऐसा मानता है तो तू मिथ्यादृष्टी है । प्राथमिक शिष्य अर्थात् प्रथम अवस्था में होने वाला जो

सम्यग्दृष्टि उसको जो सम्यग्दर्शनकी शुद्धता होती है सो भी तुझको प्राप्त नहीं है। तेरे समान अन्य कोई जड़मति नहीं है तथा बिरोध रहित स्याद्वाद विद्यारूपी देबी के पूजने वाले सज्जन सम्यग्दृष्टि निरन्तर ऐसा ही मानते हैं कि न तो ज्ञान एकान्त करके परप्रकाशक ही है, और न केवल एकान्त से दर्शन शुद्धात्माही को देखता है। यह आत्मा निश्चय करके दर्शन ज्ञान आदि अनेक धर्मों का आधार है। तथापि व्यवहार नय करके भी केवल मात्र यह ज्ञान परप्रकाशक ही है ऐसा नहीं है। यदि ऐसा माना जायगा तो आत्मा से सम्बन्ध न रहेगा, क्योंकि वह ज्ञान सदा ही आत्मा से बाहर रहेगा। उस ज्ञान को आत्मा को प्रतीति नहो रहेगी। वह ज्ञान सवगत हो जायेगा। इसलिए वह वास्तव में ज्ञान ही न रहेगा किन्तु मृगतृष्णा के जल के समान ज्ञान का प्रतिभास मात्र हो होगा। जैसे बालू रेत में सूर्य की चमक से जल समझ मृग आकुलित होता है ऐसे ही बाहर पदार्थों में ज्ञान कल्पकर ज्ञान नहीं मिलता किन्तु ज्ञान सा दीखता है। इसी तरह दर्शन भी केवल अभ्यन्तर आत्मा के ही प्रतीति का कारण नहीं है, किन्तु सदा ही सर्व को देखता है॥ जैसे चक्षु अपने अभ्यन्तर में बैठी हुई कनीनिका अर्थात् पुतली उसको तो नही देखती है बाहर सर्व को देखती है। इससे दर्शन परप्रकाशक भी हुआ। इस कारण यह ज्ञान दर्शन दोनों ही स्व और परको प्रकाश करने वाले हैं इनमें कोई भी बिरोध नहीं है। इस कारण यह आत्मा भी स्व पर प्रकाशक ही है, क्योंकि कि ज्ञान दर्शन लक्षण का धरने वाला है। लक्षण से लक्ष्य प्रदेशअपेक्षा भिन्न नहीं है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरी ने कहा है कि यह आत्मा एक ही समय में समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान जगत को जानता हुआ भी मोह के अभाव से परस्वरूप कभी नहीं परिणमन करता है।

परन्तु वह आत्मा सर्व कर्मों को नाश करके मुक्त में प्रतिभा समान होता है। कैसा होता हुआ प्रतिभा समान होता है, तीन लोक सम्बन्धी सब ज्ञेय पदार्थों को प्रगटपने स्पष्ट-२ अलग-२ जानता हुआ अर्थात् ज्ञान की मूर्तिमई उदय रूप रहता है। टीकाकार कहते हैं—आत्मा का ज्ञान एक अपने स्वाभाविक परमात्मा स्वरूप को जानता हुआ भी लोक और अलोक दोनों को ज्ञेय के जाल के समान प्रकट करता है। इसी तरह दर्शन समस्त आवर्णों से रहित नित्य शुद्धता को रखता हुआ साक्षात् स्व और पर को देखने वाला है इन दोनों ज्ञान दर्शनों से सहित आत्मा अपने को तथा परको ऐसे समस्त ज्ञेय राशि को जानता है॥

एकान्तेनात्मनः परप्रकाशकत्वनिरासोयम् :—

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयो दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥१६२॥

आत्मा परप्रकाशस्तदात्मना दर्शनं भिन्नम् ।
न भवति परद्रव्यगतं दर्शनमिति वर्णितं तस्मात् ॥१६२॥

यथैकान्तेन ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वं पुरा निराकृतं, इदानी-मात्मा केवलं परप्रकाशश्चेत् तत्तदैव प्रत्यादिष्टं भावाभावादेत-योरेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वात्: पुरा किल ज्ञानस्य परप्रकाशकत्वे सति तद्दर्शनस्य भिन्नत्वं ज्ञातं। अत्रात्मना परप्रकाशत्वे सति तेनैव दर्शनं भिन्नमित्यवसेयम्। अपि चात्मनः परद्रव्यगत इति चेत् तद्दर्शनमप्यभिन्नमित्यवसेयम्। ततः खल्वात्मा स्वपर-प्रकाशक इति यावत्, यथाकथंचित्स्वपरप्रकाशकत्वं ज्ञानस्य साधितम्। अस्यापि तथा, धर्म्मधर्म्मिणोरेकस्वरूपत्वात् पाव-कोष्णवदिति।

आत्मा धर्मी भवति सुतरां ज्ञानदृग्धर्मयुक्तः
तस्मिन्नेव स्थितिमविचलां तां परिप्राप्य नित्यं ।
सम्यग्दृष्टिर्निखिलकरणग्राममनोहारभास्वन्
मुक्तिं याति स्फुटितसहजावस्थया संस्थितानां ।।

फिर भी पूर्वपक्षी को कहते हैं :—

सामान्यार्थ—जो ज्ञान दूसरे पदार्थों को ही प्रकाश करता है तब ज्ञान से दर्शन भिन्न हुआ। इस कारण यही वर्णन हुआ कि दर्शन परद्रव्य को देखने वाला नहीं है।

विशेषार्थ—यदि ज्ञान केवल पर को प्रकाश करने वाला है तब ऐसे पर प्रकाशक ज्ञान से दर्शन भिन्न ही ठहरा, क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक है और दर्शन आत्मप्रकाशक है। ऐसा मानने से ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न-२ हो जायेंगे। जैसे सह्याचल विन्ध्याचल भिन्न-२ है, अथवा गंगा जी और श्रीपर्वत भिन्न-२ हैं। इसी तरह ज्ञान और दर्शन भिन्न २ हैं, ऐसा हो जायेगा। यदि दर्शन ही आत्मा में रहने वाला माना जायेगा तो ज्ञान आधार रहित होने से शून्य हो जायगा अथवा यदि ज्ञान शून्य न होगा। तो जहां जहाँ ज्ञान जायगा वहां वहां की सर्व वस्तुयें चेतन रूप हो जायगी। तब तीन लोक में कोई भी अचेतन पदार्थ न रहेगा। यह बड़ा भारी दूषण आ जायेगा। क्योंकि ज्ञान जब सर्व पदार्थों में रहेगा। आत्मा में न रहेगा तब सर्व पदार्थ चेतन हो जायेंगे, अचेतन कोई न रहेगा। इसलिए हे शिष्य ! ऐसा मत कहो कि ज्ञान केवल परको ही प्रकाश करने वाला है, तथा दर्शन केवल आत्मा को ही जानता है। इसलिए निश्चय यही समाधान सिद्धान्त का है कि ज्ञान और दर्शन दोनों ही कथंचित् स्वपर प्रकाशक ही हैं। ऐसा नहीं कि ज्ञान केवल परप्रकाशक है और दर्शन स्व-प्रकाशक है। ऐसा ही श्री महासेन पण्डित देव ने कहा है—कि

ज्ञान आत्मा से न तो सर्वथा भिन्न है, न अभिन्न है किन्तु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है। पूर्व और आगामी सर्व पदार्थों को जानने वाला जो ज्ञान है सो ही आत्मा हैं ऐसा कहा गया है॥ टीकाकार कहते हैं कि न तो आत्मा ज्ञान ही है न दर्शन ही है परन्तु ज्ञान और दर्शन सहित आत्मा है। इन दोनों करके सहित आत्मा आप और पर दोनो को अवश्य ही जानता है। संज्ञा सख्या लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन से तथा आत्मा से कथांचित् भेद हैं परन्तु निश्चय नयसे पाप समूह को नाश करने वाला आत्मा में ज्ञान दर्शन में कोई भेद नहीं है, जैसा अग्नि और उसकी उष्णता में भेद नही हैं।

व्यवहारनयस्य सफलत्वप्रद्योतनकथनम्—

णाणं परप्पयासं ववहारणयेण दंसणं तम्हा ।
अप्पा परप्पयासो ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥१६३॥

ज्ञानं परप्रकाशं व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ।
आत्मा परप्रकाशो व्यवहारनयेन दर्शनं तस्मात् ॥१६३॥

इह सकलकर्मक्षयप्रादुर्भावासादितसकलविमलकेवलज्ञानस्य पुद्गलादिमूर्तामूर्तचेतनाचेतनपरद्रव्यगुणपर्य्यायप्रकरप्रकाशकत्व कथमिति चेत् "पराश्रितत्वे व्यवहार:" इति वचनात् व्यवहारनयबलेनेति। ततो दर्शनमपि तादृशमेव। त्रैलोक्यप्रक्षोभहेतुभूततीर्थकरपरमदेवस्य शतमखशतप्रत्यक्षवंदनायोग्यस्य कार्य्यपरमात्मनश्च तद्वदेव प्ररप्रकाशकत्वं। तेन व्यवहारनयबलेन च तस्य खलु भगवत: केवलदर्शनमपि तादृशमेवेति।

तथाचोक्तं श्रुतजन्धौ—

"जयति विजयदोषोऽमर्त्यमर्त्येन्द्रमौलि—

प्रविलसदुरुमालाभ्यर्चितांघ्रिर्जिनेन्द्रः ।
त्रिजगदजगती यस्येदृशौ व्यश्नुवाते
सममिव विषयेष्वन्योन्यवृत्तिं निषेद्धुम् ॥"

तथाहि—

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजोऽयमात्मा
प्रकटतरसुदृष्टिः सर्वलोकप्रदर्शी ।
विदितसकलमूर्तामूर्ततत्त्वार्थसार्थः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

आगे एकांत नय से आत्मा पर प्रकाशक नहीं है ऐसा कहते हैं—

सामान्यार्थ—यदि आत्मा केवल पर को ही प्रकाश करने वाला है तो आत्मा से स्वप्रकाशक दर्शन भिन्न ही रहेगा। कारण कि दर्शन पर द्रव्यगत नहीं है ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—जैसे एकान्त से ज्ञान का पर प्रकाशकपना पहले निषेध्या है तैसे ही यहाँ आत्मा के केवल पर प्रकाशकपने होने का निराकरण करते हैं। क्योंकि अपने स्वभाव के अभाव से स्वभाव और स्वभाववान वस्तु का एक अस्तित्त्व न रहेगा। आत्मा स्वपर प्रकाशक है। पहले कह चुके हैं कि जो ज्ञान को पर प्रकाशक माना जायगा तो दर्शन से उसकी भिन्नता हो जायगी। अब जो आत्मा को भी पर प्रकाशक मानोगे तो आत्मा की भी दर्शन से भिन्नता हो जायगी। क्योंकि ज्ञान पर प्रकाशक है इसी कारण दर्शन से भिन्न हुआ है, यह बात प्रतिपादन की जा चुकी है। इसलिये आत्मा भी दर्शन से जुदा हुआ और जो कहोगे कि आत्मा पर द्रव्यों को जानता है परन्तु दर्शन गुण से भिन्न नहीं है तो फिर यही सिद्ध हो जायगा कि आत्मा

स्वपर का प्रकाश करने वाला है। जैसे पहले किसी अपेक्षा से ज्ञान में स्वपर प्रकाशकपना सिद्ध कर चुके हैं तैसे ही आत्मा में भी स्वपर प्रकाशकपना निश्चय करना चाहिये क्योंकि धर्म और धर्मी एक स्वरूपमई होते हैं। जैसे अग्नि और उष्णता का एक स्वरूप है अर्थात् प्रदेश भेद नहीं है। टीकाकार कहते हैं कि आत्मा तो धर्मी है और ज्ञान दर्शन उसके धर्म अर्थात् स्वभाव हैं। सम्यग्दृष्टी जीव इस आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करके उस आत्मा में ही निश्चलपने अपनी स्थिति करता है तथा नित्य अभ्यास के बल से उसका लाभ कर संपूर्ण इन्द्रियों के ग्रामरूपी हिम अर्थात् पाला उसके ढेर से बाहर निकले हुये सूर्य के समान प्रकाश करता हुआ मुक्ति को प्राप्त करता है। कैसी है मुक्ति, जहाँ स्पष्ट अपनी स्वाभाविक अवस्था से प्रकाशमान श्री सिद्ध भगवान विराजमान हो रहे हैं।

निश्चयस्वरूपाख्यानमेतत्—

णाणं अप्पपयासं णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥१६४॥

ज्ञानमात्मप्रकाशं निश्चयनयेन दर्शन तस्मात्।
आत्मा आत्मप्रकाशो निश्चयनयेन दर्शन तस्मात् ॥१६४॥

निश्चयनयेन स्वप्रकाशकत्वलक्षणं शुद्धज्ञानमिदमभिहितं तथा सकलाचरणप्रमुक्तशुद्धदशनमपि स्वप्रकाशकपरमेव। आत्मा हि विमुक्तसकलेन्द्रियव्यापारत्वात् स्वप्रकाशकत्वलक्षणलक्षित इति यावत्। दर्शनमपि विमुक्तबहिर्विषयत्वात् स्वप्रकाशकत्व-प्रधानमेवाइत्थं स्वरूपप्रत्यक्षलक्षणलक्षिताक्षुण्णसहजज्ञानशुद्धद-र्शनमयत्वात् निश्चयेन जगत्त्रयकालत्रयवर्तिस्थावरजंगमात्मक-समस्तद्रव्यगुणपर्य्यायविषयेषु आकाराप्रकाशकादिविकल्पविदूर-

स्सन् स्वस्वरूपे संज्ञालक्षणं प्रकाश्य प्रकाशते, या निरवशेषेणान्तर्मुखत्वादनवरतम् अखंडाद्वैतचिच्चमत्कारमूर्तिरात्मा तिष्ठतीति।

आत्मा ज्ञानं भवति नियतं स्वप्रकाशात्मकं या
दृष्टि: साक्षात् प्रहतबहिरालंबना सापि चैष: ।।
एकाकारस्वरसविसरापूर्णपुण्य: पुराण:
स्वस्मिन्नित्यं नियतवसतिर्निर्विकल्पे महिम्नि ।।

आगे व्यवहार नय की सफलता को दिखलाते हैं—

सामान्यार्थ—व्यवहार नय से ज्ञान पर को प्रकाशने वाला है इसलिये दर्शन भी पर प्रकाशक है तथा व्यवहार नय से जैसे आत्मा पर प्रकाशक है तैसे दर्शन भी पर प्रकाशक है।

विशेषार्थ—सर्व ज्ञानावरणी कर्म के क्षय हो जाने से प्रगट हुआ जो बिलकुल निर्मल केवल ज्ञान सो किस प्रकार से तथा किस अपेक्षा से पुद्गल आदि मूर्तीक तथा धर्मादि अमूर्तीक तथा अन्य चेतन अचेतन परद्रव्य तथा उनके गुण और पर्यायों के समूह को प्रकाश करने में समर्थ हो सकता है? इसका समाधान यह है कि व्यवहार नय करके प्रकाशता है क्योंकि पर के आश्रित भावपने ही में व्यवहार का प्रयोजन है। जैसा कहा है 'पराश्रितो व्यवहार:" इसलिये इसी प्रकार दर्शन गुण भी पर का प्रकाशक है। तथा तीन लोक का आनन्द के कारण सौ इन्द्रों से प्रत्यक्ष वन्दना योग्य श्रीतीर्थंकर परम देव कार्य परमात्मा के भी इसी ही प्रकार पर पदार्थों का प्रकाशकपना सिद्ध होता है जैसे ज्ञान के सिद्ध होता है। सो व्यवहार नय के बल करके जानना। तैसे ही उस केवली भगवान के केवल दर्शन को भी पर प्रकाशक समझना। ऐसा ही श्रुतबंध में कहा है कि सर्व

दोषों को विजय करने वाले श्री जिनेन्द्र भगवान जयवन्त होहु। कैसे हैं प्रभु, जिनके चरणारविंद को मनुष्य और मनुष्यों के इन्द्र चक्रवर्ती अपने मुकुटों से शोभायमान तथा हृदय में पड़ी हुई मालाओं करके सहित पूजन करते हैं तथा जिनको तीन लोक और अलोक इस प्रकार एक ही समय में प्रतिभास हो रहा है कि विपरीत पदार्थों में एक दूसरे के रहने का अभाव है, अर्थात् छः द्रव्यों को पृथक् २ देखने वाले हैं। टीकाकार कहते हैं—जब यह आत्मा केवल ज्ञान का पुंज होता है और अत्यन्त प्रगट रूप केवल दर्शन का धनी होता है तब व्यवहार नय करके सर्व लोक को देखने वाला ऐसा हो जाता है कि एक ही काल सर्व मूर्तीक और अमूर्तीक पदार्थ अपने यथार्थ स्वरूप को लिये उसमें प्रगट होते हैं। तब ही यह आत्मा परम मोक्ष रूपी जो स्त्री उसके रूप का मोहने वाला होता है।

शुद्धनिश्चयनयविवक्षया परदर्शनत्वनिरासोऽयम्:—

अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६५॥

आत्मस्वरूपं पश्यति लोकालोकौ न केवली भगवान्।
यदि कापि भणत्वेव तस्य च किं दूषण भवति ॥१६५॥

व्यवहारेण पुद्गलादित्रिकालविषयद्रव्यगुणपर्य्यायैकसमयपरस्थितिसमर्थनसकलविमलकेवलावबोधमयत्वादिविविधमहिमाधारोऽपि स भगवान् केवलदर्शनतृतीयलोचनोऽपि परमनिरपेक्षतया निःशेषतोऽन्तर्मुखत्वात् केवलस्वरूपप्रत्यक्षमात्रव्यापारनिरतनिरंजननिजसहजदर्शनेन सच्चिदानंदमयमात्मानं निश्चयतः पश्यतीति शुद्धनिश्चयनयविवक्षया यः कोपि शुद्धान्तस्तत्त्ववेदी परमजिनयोगीश्वरो वक्ति तस्य च न खलु दूषणं भवतीति।

पश्यत्यात्मा सहजपरमात्मानमेकं विशुद्धं
स्वान्तःशुद्ध्यावसथमहिमाधारमत्यन्तधीरं ।
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया सर्वदान्तर्निमग्नं
तस्मिन्नैव प्रकृतिमहति व्यावहारप्रपंचः ।।

आगे निश्चयनय से स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—निश्चयनय से ज्ञान आत्मा का प्रकाशक है। इसलिये दर्शन भी आत्मप्रकाशक है। निश्चय से आत्मा अपने आत्मा का प्रकाशकर्ता है इसलिये दर्शन भी आत्मा का प्रकाश करने वाला है।

विशेषार्थ—निश्चयनय से स्व अर्थात् आपको प्रकाश करना है लक्षण जिसका ऐसा ज्ञान को कहा गया है, तैसे ही सर्व दर्शनावरणी से रहित होकर शुद्ध दर्शन भी आत्मस्वरूप का ही दिखलाने वाला है। तथा सर्व इन्द्रियों के व्यापारों से रहित होने के कारण निश्चय से आत्मा अपने आप को प्रकाश करने वाले लक्षण से लक्षित होता है। तथा दर्शन भी बाह्य पदार्थों से रहित होकर अपने आपको ही प्रकाश करता है, यह निश्चय-नय की प्रधानता है। इस प्रकार अपने स्वाभाविक ज्ञान तथा शुद्ध दर्शन से परिपूर्ण रहता है निश्चयनय से यह आत्मा प्रकाश्य और प्रकाशक इत्यादि विकल्पों से दूर है। अर्थात् मैं प्रकाशक हूं और तीन जगत तीन काल के स्थावर और जंगम-रूप सर्व द्रव्य तथा उनके गुण और पर्य्याय प्रकाश्य हैं, ऐसा विकल्प नहीं करता है। तथा यह आत्मा अपने आत्मस्वरूप ही में अपने आत्मा के ही लक्षणरूप प्रकाश्य को प्रकाशता है। सम्पूर्णपने अंतरंग लीन होकर निरन्तर खंडरहित तथा द्वैतता-रहित चैतन्य के चमत्कार की मूर्ति के समान यह आत्मा

निश्चय से विराजता है। टीकाकार कहते हैं—निश्चय से आत्मा ही अपने आत्मस्वरूप को प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप है तथा बाह्य अलंबन से रहित साक्षात् जो दर्शन उसरूप ही आत्मा है। अपने एक आकार को लिये हुए अपने आत्मीक रस से पूर्ण पवित्र समीचीन ऐसा जो आत्मा सो अपनी विकल्प-रहित महिमा में नित्य वास करता है।

केवलबोधस्वरूपाख्यानमेतत्:—

मुत्तममुत्तं दव्वं चेयणमियरं सगं च सव्वं च।
पच्छंतस्स दु णाणं पच्चक्खमणिंदियं होइ ॥१६६॥

मूर्तममूर्तं द्रव्यं चेतनमितरत् स्वकं च सर्वं च।
पश्यतस्तु ज्ञानं प्रत्यक्षमतीन्द्रियं भवति ॥१६६॥

षण्णां द्रव्याणा मध्ये मूर्तत्वं पुग्दलस्य, पंचानाम् अमूर्तत्वम् चेतनत्वं जीवस्यैव पंचानामचेतनत्वम्, मूर्तामूर्तचेतनास्वद्रव्या-दिकमशेषम् त्रिकाल विषयम् अनवरतम् पश्यतो भगवतः श्री मदर्हत्परमेश्वरस्य क्रमकरणव्यवधानापोढं चातीन्द्रियं च सकल-विमलकेवल ज्ञानं सकलप्रत्यक्षं भवतीति।

तथा चोक्तं प्रवचनसारे—

"जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अइंदियं च पच्छण्णम्।
सयलं सगं च इदर ' णाण हवइ पचक्खम्"

तथाहि—

सम्यग्वर्ती त्रिभुवनगुरुः शाश्वतानन्तधामा
लोकालोकौ स्वपरमखिलं चेतनाचेतनं च।
तार्तीय यन्नयनमपरं केवलज्ञानसञ्ज्ञम्
तेनैवाय विदितमहिमा तीर्थनाथो जिनेन्द्रः।

आगे शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा पर का देखने वाला है इस बात का निराकरण करते हैं :—

सामान्यार्थ—केवली भगवान् आत्मस्वरूप को देखते हैं लोक और अलोक को नहीं देखते हैं, जो कोई इस प्रकार कहे उसको क्या दूषण दिया जा सकता है ?

विशेषार्थ—व्यवहारनय करके पुग्दल आदि द्रव्यों के तीन काल सम्बन्धी गुण पर्यायों का एक समय में जानने को समर्थ ऐसा जो सम्पूर्णपने निर्मल केवलज्ञान उसको आदि ले नाना प्रकार की महिमा का धारण करने वाला होनेपर भी वह भगवान केवल दर्शनरूप तीसरे नेत्र का धारने वाला है तथापि वह अत्यन्त निरपेक्ष होकर पूर्णपने अंतरग में लीन होता है तथा अपने केवल स्वरूप प्रत्यक्ष मात्र व्यापार में लवलीन निरंजन ऐसे अपने आत्मस्वभाव को स्वाभाविक रीति से देखने के कारण वह प्रभु निश्चयनय से सच्चिदानंदमई आत्मा को ही देखता है। भावार्थ—व्यवहारनय से ऐसा कहने में आता है कि केवली भगवान लोकालोक को देखते हैं परन्तु निश्चय से वे अपने शुद्ध स्वरूप को ही देखते हैं। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जो कोई शुद्ध अंतरगतत्त्व के ज्ञाता परम जितेन्द्री योगीश्वर हैं वे ऐसा ही कहते हैं। उनका निश्चय से कोई दूषण नही होता है। टीकाकार कहते है कि—यह आत्मा अपने अतरंग की शुद्धि करके एक विशुद्ध स्वाभाविक परमात्मा को देखता है। कैसा है परमात्मा, जो अपूर्व महिमा को धारने वाला है तथा अत्यन्त धीर है तथा अतिशय निश्चलरूप रहकर अपने आत्मा में सदा निमग्न है। तथा उसी परमात्मा के स्वभाव में यह जगत का बड़ा प्रपच प्रगट है अर्थात् वह लोकालोक को देखता है यह कहना सर्व व्यवहार का कथन है।

भावार्थ—यही है कि शुद्ध निश्चयनय करके यह आत्मा अपने आपको ही देखता है परको नही । परको देखता है ऐसा कहना सो व्यवहार नयका विषय है ।

अत्र केवलदृष्टेरभावात् सकलज्ञत्वं न समस्तीत्युक्तम्:—

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तम् ।
जो ण य पेच्छइ सम्मं परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥१६७॥

पूर्वोक्तसकलद्रव्य नानागुणपर्य्यायेण सयुक्तम् ।
यो न च पश्यति सम्यक् परोक्षदृष्टिर्भवेत्तस्य ॥१६७॥

पूर्वसूत्रोपात्तमूर्तादिद्रव्य समस्तगुणपर्य्यायात्मकं, मूर्तस्य मूर्तगुणाः अचेतनस्याचेतनगुणाः अमूर्तस्यामूर्तगुणाः चेतनस्य चेतनगुणाः षड्ढानिवृद्धिरूपाः सूक्ष्माः, परमागमप्रामाण्यादभ्युपगम्याः अर्थपर्य्यायाः षण्णां द्रव्याणां साधारणाः नरनारकादिव्यजनपर्याया जीवाना पंचससारप्रपंचाना, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादिस्कन्धपर्य्यायाश्च, चतुर्णा धर्मादीनां शुद्धपर्य्यायाश्चेति, एभिः सयुक्त तद्द्रव्यजाल यः खलु न पश्यति तस्य संसारिणामिव परोक्षदृष्टिरिति ।

यो नैव पश्यति जगत्त्रयमेकदैव,
कालत्रय च तरसा सकलज्ञमानी ।
प्रत्यक्षदृष्टिरतुला न हि तस्य नित्यं,
सर्वज्ञता कथमिहास्य जडात्मनः स्यात् ॥

आगे केवल ज्ञान का स्वरूप कहते हैं :—

सामान्यार्थ—जो ज्ञान मूर्तीक अमूर्तीक द्रव्य ऐसे चेतन तथा अचेतन पदार्थों को तथा अपने को और सर्व्व को देखता है वही ज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रिय रहित होता है ।

विशेषार्थ—छः द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है तथा अन्य पांच द्रव्य अमूर्तीक हैं। जीव चेतन ही है पाच द्रव्य सब अचेतन हैं। इस प्रकार मूर्त अमूर्त चेतन अचेतन सब अपने को और पर द्रव्यो को तीन काल सम्बन्धी सर्व का एक ही समय में निरन्तर देखने वाले श्री अरहत भगवान परमेश्वर के ही केवल ज्ञान होता है। कैसा है केवल ज्ञान जो क्रमपूर्वक ज्ञान से रहित है, अतीन्द्रिय है, तथा सर्व प्रकार से निर्मल और प्रत्यक्ष है। श्री प्रवचन सार में ऐसा ही कहा है। उसका अभिप्राय ऊपर आय गया। टीकाकार कहते हैं–वे तीर्थकर श्री जिनेन्द्र भगवान अपने स्वरूप में भले प्रकार बतन कर रहे हैं। कैसे हैं प्रभु, जो तीन लोक के गुरु हैं, शाश्वत और अनंत ज्योति के धारी हैं तथा अपने ज्ञानरूपी तृतीयनेत्रकरि जिनकी महिमा प्रगट है। कैसा है केवल ज्ञान जो लोक और अलोक को तथा आप और पर समस्त चेतन अचेतन द्रव्यो को देखने वाला है।

व्यवहारनयप्रादुर्भावकथनमिदम्:—

लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥१६८॥

लोकालोकौ जानात्यात्मानं नैव केवली भगवान्।
यदि कोऽपि भणति एवं तस्य च किल दूषणं भवति ॥१६८॥

सकलविमलकेवलज्ञानत्रितयलोचनो भगवान् अपुनर्भव-कमनीयकामिनीजीवितेशः षड्द्रव्यसंकीर्णलोकत्रयं शुद्धाकाश-मात्रालोकं च जानाति, "पराश्रितो व्यवहार" इतिमानात् व्यवहारेण व्यवहारप्रधानत्वात् निरुपरागशुद्धात्मस्वरूपं नैव जानाति यदि व्यवहारनयविवक्षया कोपि जिननाथतत्त्वविचार-

लब्धः (दक्षः) कदाचिदेव वक्ति चेत् तस्य खलु न दूषणमिति ।
तथाचोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः—

"स्थितिजननविरोधलक्षण, चरमचर च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जनसकलज्ञलाछन, वचनमिद वदतावरस्य ते ।।"

तथाहि—

जानातिलोकमखिलं खलु ताथनाथः
स्वात्मानमेकमनघ निजसौख्यनिष्ठम् ।
नो वेत्ति सोयमिति त व्यवहारमार्गात्
वक्तीति कोपि मुनिपो न च तस्य दोषः ।।

आगे कहते है कि केवल दर्शन के अभाव से केवली के सर्वज्ञपना नहीं हो सकता :—

सामान्यार्थ—पूर्व में कहे गए सम्पूर्ण द्रव्यों को नाना गुण और पर्यायों करके सहित जो कोई भले प्रकार नही देखता है उसके परोक्ष दृष्टि होती है।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्र में कहे हुए जो मूर्तादि द्रव्य तथा उनके गुण और पर्य्याय हैं उनमें मूर्तीक द्रव्य के मूर्तीक गुण हैं, अचेतन पदार्थ के अचेतन गुण हैं, अमूर्तीक के अमूर्तीक गुण हैं तथा चेतन के चेतन मई हैं। पर्याय दो प्रकार की है एक अर्थ पर्याय दूसरी व्यजन पर्याय। षट्गुणी वृद्धि हानिरूप अत्यन्त सूक्ष्म परमागम के द्वारा जानने योग्य जो द्रव्यों के गुण में स्वाभाविक परिणमन सो अर्थ पर्याय है। यह अर्थ पर्याय सर्व छः द्रव्यों में साधारण है। पांच प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव रूप संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों के नर नारक देव पशु वदन के भेद रूप जो पर्याय सो जीव की व्यजन पर्याय हैं। पुद्गल की अति

स्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म आदि छः प्रकार व्यंजन पर्याय हैं। धर्म अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों की शुद्ध स्वभाव मई पर्याय ही होती हैं क्योंकि इनमें विकार भाव नहीं होते। इत्यादिक गुण पर्यायों करके सहित सर्व द्रव्यों के समूह को जो कोई एक काल में नही देख सकता है उस ससारो जीव के परोक्ष दर्शन है प्रत्यक्ष दर्शन नही है। जब प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है तब सर्वज्ञपना कैसे सभव है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—जो कोई सकल को जानने वाला ज्ञानी जीव होकर शीघ्र ही एक ही काल में सर्व तीन लोक और तीन काल की वस्तुओं को नही देख सकता है उसके उपमारहित ऐसी प्रत्यक्ष दृष्टि अर्थात् केवल दर्शन कैसे हो सकता है? और जब केवल दर्शन नही है तब उस जड़ बुद्धी आत्मा के नित्य सर्वज्ञपना कैसे हो सकता है। अर्थात् नही हो सकता।

अत्र ज्ञानस्वरूपो जीव इति वितर्केणोक्तः।

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं णवि जाणदि अप्पादो होदि विदिरित्तम्॥१६६॥

ज्ञानं जीवस्वरूपं तस्माज्जानात्यात्मक आत्मा।
आत्मानं नापि जानात्यात्मनो भवति व्यतिरिक्तम्॥१६६॥

इह हि ज्ञानं तावज्जीवस्वरूपं भवति ततो हेतोरखंडाद्वैत-स्वभावनिरतं निरतिशयभावनासनाथम् मुक्तिसुन्दरानाथम् बहिर्व्यावृतकौतूहलम् निजपरमात्मानं जानाति कश्चिदात्मा भव्यजीव इति अयं खलु स्वभाववादः अस्य विपरीतो वितर्कः स खलु विभाववादः प्राथमिकशिष्याभिप्रायः। कथमिति चेत्। पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा स्वरूपावस्थितः

संतिष्ठति यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोयमात्मात्मनि तिष्ठति। हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदयमात्मा किमचेतनः, किंबहुना तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहित परशुवत्। इदं हि नार्थक्रियाकारि अतएव कार्यकारि अतएव आत्मनः सकाशात् व्यतिरिक्तं भवति तन्न खलु सम्मतं स्वभाववादिनामिति। तथाचोक्तं श्रीगुणभद्रस्वामिभिः।

"ज्ञानं तावद्भवति सुतरां शुद्धजीवस्वरूपं
स्वात्मात्मानं नियतमधुना तेन जानाति चैकम्।
तच्च ज्ञानं स्फुटितसहजावस्थयात्मानमारात्
नो जानाति स्फुटमविचलाद्भिन्नमात्मस्वरूपात्।"

तथाचोक्तम्—

"णाणं अव्विदिरित्तं जीवादो तेण अप्पगं मुणइ।
जदि अप्पगं य जाणइ भिण्णं तं होदि जीवादो॥"

आगे व्यवहारनय को प्रगटपने कहते हैं:—

सामान्यार्थ—केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं परन्तु अपने को नहीं जानते हैं यदि कोई व्यवहार से ऐसा भी कहे तो भी उसको दोष नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ—सर्व प्रकार निर्मल जो केवल ज्ञान उस रूप तीसरे नेत्र को धारने वाले तथा मोक्ष रूपी मनोज्ञ स्त्री के जीवन के स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान छः द्रव्यों से भरे हुए लोकाकाश को तथा शुद्ध आकाश है जहाँ ऐसे अलोकाकाश को इस प्रकार सर्व लोक और अलोक को जानते हैं तथा पराश्रित जो व्यवहार उस व्यवहार की प्रधानता से रागादि रहित शुद्धात्म-स्वरूप को नहीं जानते हैं। इस प्रकार भी कदाचित कोई जिनेन्द्र के तत्त्व विचार को जानने वाला मुनि व्यवहार

नय की अपेक्षा से कहे तो उस मुनि को भी दोष नहीं हो सकता है। भावार्थ—यह व्यवहारनय दूसरे के निमित्त व सहारे से माने हुए स्वरूप को कहने वाली है—लोकालोक सर्व हो शुद्धात्मस्वरूप से भिन्न हैं। उनका ज्ञाता कहना सो व्यवहार नय का विषय है। तथा यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को जानता है यह विषय निश्चय नय का है क्योंकि निश्चय नय स्वाश्रित है। श्री समन्तभद्राचार्य्य स्वामो ने कहा है। यह चर और अचर जगत प्रत्येक क्षण में उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है - यह लक्षण सर्वज्ञ द्वारा सिद्ध है, हे व्याख्यान करने वालों में श्रेष्ठ तुम्हारा ऐसा ही वचन है। टोकाकार कहते हैं—तीर्थनाथ श्री जिनेन्द्र इस सर्व लोक को जानते है तथा एक कर्म रहित अपने हो सुख में लीन ऐसे अपने आत्मा को नहीं जानते है ऐसा भी यदि कोई मुनि व्यवहार मार्ग को अपेक्षा से कहता है तो भी उस मुनि को दोष नही है।

गुणगुणिनो: भेदाभावस्वरूपाख्यानमेतत्:—

अप्पाणं विणु णाणं णाणं विणु अप्पगो ण सन्देहो।
तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसणं होदि ॥१७०॥

आत्मानं विद्धि ज्ञानं ज्ञानं विद्धयात्मा को न संदेहः।
तस्मात्स्वपरप्रकाशं ज्ञानं तथा दर्शनं भवति ॥१७०॥

सकलपरद्रव्यपराङ्मुखमात्मानं स्वस्वरूपपरिच्छित्तिसमर्थ-सहजज्ञानस्वरूपमिति हे शिष्य त्वं विद्धि जानीहि तथा विज्ञान-मात्मेति जानीहि तत्त्वं स्वपरप्रकाशज्ञानदर्शनद्वितयमित्यत्र संदेहो नास्ति।

आत्मानं ज्ञानदृग्रूपं विद्धि हि ज्ञानमात्मकं।
स्वं परं चेति यत्तत्त्वमात्मा द्योतयति स्फुटम् ॥

अब वितर्क करके कहते हैं कि यह जीव ज्ञानस्वरूप है : -

सामान्यार्थ—ज्ञान जीव का स्वरूप है इसलिये आत्मा निश्चय से अपने आत्म स्वरूप को जानता है यदि ज्ञान अपने आत्मा को नहीं जानता है तो ज्ञान आत्मा से अलग हो जायगा।

विशेषार्थ—ज्ञान जीव का स्वरूप ही है। इसलिये ऐसे ज्ञान का धारी कोई भव्य आत्मा खंडरहित, द्वैतरहित, अपने स्वभाव मे लीन अत्यन्त अतिशय भाव का स्वामी मुक्ति रूपी स्त्री का नाथ, तथा बाह्य चेष्टा से रहित ऐसे परमात्मा को जानता है। यह निश्चय से स्वभाव का कथन है। जो वितर्क है सो इससे विपरीत है। वही वितर्क विभाव का कथन करने वाला है। यह विभाववाद प्राथमिक शिष्य का अभिप्राय है। सो अभिप्राय किस प्रकार से है सो कहते हैं—आत्मा पूर्व में कहे हुए अपने आत्मस्वरूप को नहीं जानता है, केवल यह आत्मा अपने स्वरूप में लीन हुआ रहता है। जैसे उष्ण स्वरूप अग्नि सो अपने उष्ण स्वरूप को क्या जानती है अर्थात् नहीं जानती है, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेय के विकल्पों से रहित हो वह आत्मा अपने आत्मस्वरूप मे ही तिष्ठता है अपने ज्ञान स्वरूप को जानता नहीं है। ऐसा अभिप्राय प्राथमिक शिष्य का है उसको श्री गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! क्या यह आत्मा अग्नि के समान अचेतन है? जिस कारण से यह आत्मा अपने ही ज्ञानस्वरूप को नहीं जानता है। यदि ऐसा मानोगे तो यह आत्मा ज्ञान बिना फरसी रहित देवदत्त के समान हो जायगा। जैसे फरसी बिना देवदत्त फरसी द्वारा होने वाली क्रिया को न करेगा क्योंकि वह फरसी देवदत्त के स्वरूप से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा भी ज्ञान बिना जानने की क्रिया को न करेगा।

इस कारण आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं है। आत्मा और ज्ञान का स्वभाव सबध है, सयोग सम्बन्ध नहीं है। स्वभाव के कथन करने वालों को यह बात नहीं मान्य है कि यह आत्मा ज्ञान से अलग है। ऐसा ही श्री गुणभद्र स्वामी ने कहा है—ज्ञानस्वभाव: स्यादात्मा स्वभावाऽवाप्तिरच्युति: । तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेत् ज्ञानभावना । अर्थ—यह आत्मा ज्ञानस्वभाव है। आत्मा अपने स्वभाव से कभी गिरता नहीं है । इसलिये इस आत्मा को स्वभाव से अपतित इच्छा करता हुआ ही जो प्राणी है उसे इस आत्मा की ज्ञान भावना का भावना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि यह ज्ञान शुद्ध जीव का स्वरूप है। इसी ही ज्ञान से यह आत्मा अपने एक आत्मा को जानता है। वह ज्ञान प्रगटपने अपनी स्वाभाविक अवस्था के अपने ही निकट अविचल आत्म स्वरूप से अपने आत्मा को भिन्न नहीं जानता है।

जैसे कहा है कि, ज्ञान जीव से पृथक् नहीं है। ज्ञान ही करके आत्मा जानने में आता है। यदि ज्ञान आत्मा को भिन्न जानता है तो यह ज्ञान जीव से भिन्न हो जायगा।

सर्वज्ञवीतरागस्य वांछाभावत्वमत्रोक्तम्—

जाणंतो पस्संतो ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
केवलिणाणी तम्हा तेण दु सोऽबंधगो भणिदो ॥१७१॥

जानन् पश्यन्नीहापूर्व्वं न भवति केवलिन: ।
केवलज्ञानी तस्मात् तेन तु सोऽबन्धको भणित: ॥१७१॥

भगवानर्हत्-परमेष्ठी साद्यनिधनामूर्त्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् विश्व-

मश्रान्तं जानन्नपि पश्यन्नपि वा मनःप्रवृत्तेरभावादीहापूर्वकं वर्तनं न भवति तस्य केवलिनः परमभट्टारकस्य, तस्मात् स भगवान् केवलज्ञानीति प्रसिद्धः, पुनस्तेन कारणेन स भगवान् अबन्धक इति ।

तथा चोक्तम् श्रीप्रवचनसारे –

"णवि परिणमइ ण गिण्हइ उप्पज्जइ णेव तेसु अत्थेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबधगो तेण पच्छतो ।।"

तथाहि—

जानन् सर्वं भुवनभवनाभ्यन्तरस्थं पदार्थं
पश्यन् तद्वत् सहजमहिमा देवदेवो जिनेशः ।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति नित्यं
ज्ञानज्योतिर्हतमलकलिः सर्वलोकैकसाक्षी ।।

आगे कहते हैं कि गुण और गुणी के भेद का अभाव है—

सामान्यार्थ—आत्मा को ज्ञान जानो। ज्ञान को आत्मा मानो। इसमें कोई संदेह की बात नही है इसलिये ज्ञान स्व और पर को प्रकाशने वाला है तैसे ही दर्शन भी है ।

विशेषार्थ—हे शिष्य ! सम्पूर्ण पर द्रव्यों से विमुख ऐसे आत्मा को अपने ही स्वरूप के जानने में शक्तिमान ऐसे सहज ज्ञान स्वरूप तुम जानो। इसलिये जो विज्ञान है सो ही आत्मा है ऐसा अनुभव करो। आत्मीक तत्त्व स्व पर प्रकाशक है वैसे ही उसके गुण ज्ञान और दर्शन दानों स्व पर प्रकाशक हैं। इसमें कोई शंका का स्थान नही है। टीकाकार कहते हैं कि आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है। सहज ज्ञान स्वरूप आत्मा ही का अनुभव

करो। आत्मा अपने और दूसरे समस्त तत्त्वों को प्रगटपने उद्योत करने वाला है।

इह हि ज्ञानिनो बंधाभावस्वरूपमुक्तम्—

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७२॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहारहियं वयणं तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥१७३॥

जुम्मं

परिणामपूर्ववचन जीवस्य च बधकारण भवति।
परिणामरहितवचनं तस्माज् ज्ञानिनो न हि बंधः ॥१७२॥
ईहापूर्व्वं वचनं जीवस्य च बंधकारणं भवति।
ईहारहित वचनं तस्माज्ज्ञानिनो न हि बधः ॥१७३॥युग्म

सम्यक्ज्ञानी जीवः क्वचित् कदाचिदपि स्वबुद्धिपूर्व्वकं वचनं न वक्ति स्वमनःपरिणामपूर्वकमितियावत्। कुतः—"अमनस्का केवलिनः" इतिवचनात्। अतः कारणाज्जीवस्य मनःपरणतिपूर्वक वचनं बधकारण मित्यर्थः. मनःपरिणामपूर्वक वचनं केवलिनो न भवति, ईहापूर्व वचनमेव साभिलाषात्मकं जीवस्य बंधकारणं केवलिमुखारविन्दविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मकः समस्तजनहृदयाह्लादकारणं, ततःसम्यग्ज्ञानिनो बधाभाव इति।

ईहापूर्वं वचनरचनारूपमत्रास्ति नैव
तस्मादेषः प्रकटमहिमा विश्वलोकैकभर्ता।
अस्मिन् बंधः कथमिव भवेद्द्रव्यभावात्मकोऽयं
मोहाभावान्न खलु निखिलं रागद्वेषादिजालं ॥

एको देवस्त्रिभुवनगुरुर्नष्टकर्माष्टकार्द्धः
सद्बोधस्थ भुवनमखिल तद्गत वस्तुजालम् ।
आरातीये भगवति जिने नैव बंधो न मोक्षः
तस्मिन् काचिन्न भवति पुनर्मूर्च्छना चेतना च ।।

न ह्येतस्मिन् भगवति जिने कर्म कर्मप्रपचो
रागाभावादतुलमहिमा राजते वीतरागः ।
एषः श्रीमान् स्वमुखनिरतः सिद्धिसीमन्तिनीशो
ज्ञानज्योतिश्छुरितभुवनाभोगभागः समन्तात् ।।

आगे सर्वज्ञ वीतराग भगवान के वांछा का अभाव है ऐसा दिखावें हैं—

सामान्यार्थ—केवली भगवान के जानना देखना इच्छापूर्वक नही होता है। इसी कारण से केवल ज्ञानी है और इसी से उनको बन्धरहित कहा गया है।

विशेषार्थ—भगवान अर्हन परमेष्ठी आदि सहित और अन्त-रहित अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववान है। शुद्ध सद्भूत व्यवहार-नय करके केवल ज्ञान आदि अपने शुद्ध गुणो के आधार रूप है, इस हेतु से बिना परिश्रम के सर्व जगत को जानते देखते है तौ भी मन की प्रवृत्ति के बिना ईहापूवक ज्ञान का वर्तन उन केवली परम भट्टारक के नही होता है। इसी कारण वे भगवान केवल ज्ञानी इस नाम से प्रसिद्ध है तथा इसीलिये वे भगवान कर्म के बध से रहित हैं। भावार्थ—इच्छा होने ही से राग सिद्ध होना है और राग ही बध का कारण है। प्रभु के राग न होने से बध नही होता. केवध ईर्या पथ आस्रव योग—परिस्पन्द से होता है परन्तु कषाय बिना ठहरता नहीं है। श्रीप्रवचनसार में ऐसा ही कहा है—उन पदार्थो के स्वरूप आप न तो परिणमन करता है न

उन्हें ग्रहण करता है न उन—रूप आप उत्पन्न होता है केवल मात्र जानता है, इसी से ही आत्मा अबंधक है । टीकाकार कहते हैं कि श्री जिनेन्द्रदेव सर्व देवों में श्रेष्ठ देव हैं । यह उनके स्वभाव की महिमा है जिससे वे तीन लोक रूपी भवन के भीतर के सर्व पदार्थों को जानते और देखते हैं । मोहका प्रभू के सर्वथा अभाव है इसलिये अपने आत्मा सिवाय अन्य किसी भी पर पदार्थ को ग्रहण नहीं करते है । वे भगवान नित्य अपनी ज्ञान ज्योति से कर्म रूपी मल के समूह को नष्ट करने वाले हैं तथा सर्व तीन लोक के एक साक्षीभूत हैं अर्थात् मात्र दर्शक हैं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

केवलिभट्टारकस्यामनस्कत्वप्रद्यातनमेतत्—

ठाणणिसेज्जविहारा ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो ।
तह्मा ण होइ बंधो साकट्ठं मोहणीयस्स ।।१७४।।

स्थाननिषण्णविहारा ईहापूर्व्वं न भवन्ति केवलिनः ।
तस्मान्न भवति बंधः साक्षार्थं मोहनीयस्य ।।१७४।।

भगवतः परमार्हन्त्यलक्ष्मीविराजमानस्य केवलिनः परमवीतरागसर्वज्ञस्य ईहापूर्वक न किमपि वत्तन अतः स भगवान न चेहते मनःप्रवृत्तेरभावात् अमनस्का केवलिनः इति वचनाद्वा न तिष्ठति नोपविशति न चेहापूर्वं श्रीविहारादिक करोति । ततस्तस्य तीर्थकरपरमदेवस्य द्रव्यभावात्मकचतुर्विधबंधो न भवति । स च बंध. पुनः किमर्थं जातः कस्य संबंधश्च मोहनीयकर्म्मविलासविजृंभितः अक्षार्थमिन्द्रियार्थं तेन सह यः वर्त्तत इति साक्षार्थं मोहनीयस्य वशगतानां साक्षार्थप्रयोजनानां ससारिणामेव बंध इति ।

तथाचोक्तं श्री प्रवचनसारे—

"ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसं च णियदम्रो त्तेसि ।
अरहन्त णं काले मायाचारव्व इत्थोणं" ॥

देवेन्द्रासनकपकारणमहत्कैवल्यबोधोदये
मुक्तिश्रोललनामुखाम्बुजरवे: सद्धर्मरक्षामणे: ।
सर्वं वर्तनमस्ति चेन्न च मन: सर्व पुराणस्य तत
सोऽयं नन्वपरिप्रमेयमहिमा पापाटवीपावक: ॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानी के बध का अभाव है—

सामान्यार्थ—मन के परिणमन पूवक जो वचन जीव के निकलते हैं वे बध के कारण होते हैं परन्तु जो वचन मन की परिणति के बिना निकलते हैं वे बंध के कारण नहीं हैं । इसी से सम्यग्ज्ञानी के बध नहीं होता । जो वचन इच्छापूर्वक जीव के होवेंगे वे वचन बध के कारण होवेंगे परन्तु जो वांछारहित वचन हैं सो बध के कारण नही हैं । इसोलिये सम्यग्ज्ञानी केवल ज्ञानी के बध नही होगा ।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञानी केवल ज्ञानी जीव कही कभी भी अपनी बुद्धिपूर्वक वचन नहीं कहता है अर्थात् उसके मन के परिणाम नही चलते क्योंकि सिद्धान्त का वचन है कि 'अमनस्का: केवलिन:' अर्थात् केवली भगवान मन रहित हैं । भावार्थ केवली के सकल्प विकल्पमई मन का अभाव है । इस कारण से जीव के वे ही वचन बध के कारण हैं जो मन की परिणति पूर्वक कहे गए हैं । केवली भगवान के मनपरिणति पूर्वक वचनों का प्रगटपना नहीं होता । इच्छापूर्वक वचन ही जीव को बंध के कारण होते हैं । केवली महाराज के मुख कमल से प्रगट जो दिव्य ध्वनि सो भगवान की इच्छा बिना

ही प्रगट होती है। भावार्थ—उसकी प्रगटता में भव्य जीवों के पुण्य का उदय ही कारण है। वह वाणी समस्त सभा में विराजित मनुष्यों के हृदय कमलों को आनन्द देने वाली है। इसलिये जो सम्यग्ज्ञानी केवल ज्ञानी हैं उनके बंध का अभाव है। टीकाकार कहते हैं—श्री केवली भगवान के इच्छा पूर्वक वचनों की रचना नहीं होती है यह इनकी साक्षात् महिमा प्रगट है। प्रभू समस्त जगत के एक मात्र रक्षक हैं। जब वांछा का कारण मोह प्रभु के नहीं है तब किस प्रकार से भगवान के द्रव्य और भाव बंध होवेंगे क्योंकि रागद्वेषादि का जाल मोह के बिना निश्चय से होता ही नहीं है। चार घातिया कर्मों के नाश से केवली भगवान तीन लोक के गुरु महादेव हैं अपने सम्यग्ज्ञान में विराजमान हैं। सम्पूर्ण लाक सम्बन्धी वस्तुओं के [समूहों के ज्ञाता हैं ऐसे श्री केवली भगवान जिनेन्द्र में न तो कोई बंध है और न कोई मोक्ष है और न वहाँ मूर्छा है न कर्म और कर्मफलमई चेतना है। इन केवली जिनेन्द्र में धर्म और कर्म का प्रपंच जाल नही है। राग के अभाव से अपनी अतुल महिमा को लिये हुये वीतराग स्वरूप हैं तथा अपने आत्मीक सुख में लीन हैं सिद्ध रूपी स्त्री के स्वामी है तथा अपनी ज्ञान ज्योति से समस्त भुवन के पदार्थों को चारों ओर से प्रगट करने वाले हैं।

आगे केवली भट्टारक अमनस्क हैं इस बात को प्रकाश करते हैं –

सामान्यार्थ—तिष्ठना, बैठना तथा विहार केवली भगवान के इच्छा पूर्वक नहीं होते हैं इसलिये उनके बंध नहीं होता है। मोहनीय कर्म्म सहित जीव के इन्द्रियों के प्रयोजन सहित होने ही से बंध होता है।

विशेषार्थ—परम अरहंतपने की लक्ष्मी से शोभायमान परम

वीतराग सर्वज्ञ केवली भगवान के कोई भी वर्तन इच्छापूर्वक नहीं होता है। इसीलिये वे भगवान मन की प्रवृत्ति के अभाव होने पर 'अमनस्का: केवलिन:' इस सिद्धान्त के अनुसार न तो वाछापूर्वक तिष्ठते हैं, न बैठते हैं और न विहार आदिक करते हैं। इस कारण से उस तीर्थंकर परम देव के द्रव्य और भावमई कोई बंध नही होता है अर्थात् चारों बध नही होते हैं। आगम में जो योग की प्रवृत्ति के निमित्त से प्रकृति और प्रदेशबंध कहा है सो उपचार मात्र है। जो मोहनीय कर्म के विलास में लवलीन हैं उन्हीं के यह बंध होता है। किसलिये होता है, उसका कारण यही है कि उनके इन्द्रियों के विषयों का प्रयोजन है। अर्थात् मोहनीय कर्म के वश में पड़े हुये इन्द्रियों के विषयों के अभिप्राय को धारने वाले संसारी जीवों के ही यह बंध होता है। ऐसा ही प्रवचनसार में कहा है–खड़ा होना, बैठना, विहार करना व धर्मोपदेश होना यह अरहंत अवस्था के काल में नियम से ही होता है, जैसे स्त्रियों के मायाचार नियम से होता है। टीकाकार कहते हैं–जिसके प्रगट होते ही इन्द्रों के आसन कंपायमान होते हैं ऐसे केवल ज्ञान के उदय होने पर केवली भगवान का सर्व वर्तन मन की प्रवृति से रहित होता है। कैसे हैं प्रभू, मुक्ति रूपी सुन्दर ललना के मुख कमल के प्रफुल्लित करने को सूर्य के समान हैं तथा सत्त्य धर्म को रक्षा के लिये मणि समान हैं। पुराण पुरुष के मन का अभाव है। यह सर्व भगवान के उत्कृष्ट अगम्य केवल ज्ञान की महिमा है। कैसे हैं भगवान, जो पाप रूपी बनी के भस्म करने के लिये अग्नि के समान हैं।

शुद्धजीवस्य स्वभावगतिप्राप्त्युपायोपन्यासोऽयं—

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण ॥१७५॥

आयुषः क्षयेण पुनः निर्णासो भवति शेषप्रकृतीनां ।
पश्चात्प्राप्नोति शीघ्रं लोकाग्रं समयमात्रेण ।।१७५।।

स्वभावगतिक्रियापरिणतस्य षट्कापक्रमविहीनस्य भगवतः सिद्धक्षेत्राभिमुखस्य ध्यानध्येयध्यातृतत्फलप्राप्तिप्रयोजनविकल्पशून्येन स्वस्वरूपाविचलस्थितिरूपेण परमशुक्लध्यानेन आयुःकर्मक्षये जाते वेदनीयनामगोत्राभिधानशेषप्रकृतीनां निर्नाशो भवति। शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्वरूपे सहजमहिम्नि लीनोऽपि व्यवहारेण स भगवान् क्षणार्धेन लोकाग्रं प्राप्नोतीति षट्कापक्रमयुक्तानां भविनां लक्षणात् पृथक् सिद्धानां लक्षणं यस्मादूर्द्धवगास्ते सदा शिवाः ।

बन्धच्छेदादतुलमहिमा देवविद्याधराणां
प्रत्यक्षोऽद्य स्तवनविषयो नैव सिद्धः प्रसिद्धः ।
लोकस्याग्रे व्यवहरणतः संस्थितो देवदेवः
स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ।
पचसंसारनिमुर्क्तान् पंचससारमुक्तये ।
पंचसिद्धानहं वंदे पचमोक्षफलप्रदान् ।।

आगे शुद्ध जीव को अपनी स्वभावमई गति को प्राप्त करने के उपाय का सक्षेप कथन करते है—

सामान्यार्थ—आयु कर्म के नाश होते ही शेष कर्मों को सर्व प्रकृतियों का नाश हो जाता है फिर यह जीव शीघ्र ही एक समय मात्र में जाकर लोक के अग्रभाग में विराजता है ।

विशेषार्थ—जब केवली भगवान अपने स्वभाव के भीतर जो क्रिया उसमें परिणमनरूप होते हैं तब उनके परम शुक्ल ध्यान अर्थात् चौथे शुक्ल ध्यान से आयु कर्म के क्षय होते २ ही वेदनीय, नाम और गोत्र ऐसे तीन कर्मों की शेष प्रकृतियों का नाश हो

जाता है। कसे हैं केवली भगवान, जो उस समय पृथ्वी आदि छः काय के जीवों के क्रम से अलग हो जाते हैं तथा सिद्ध क्षेत्र के सन्मुख होते हैं। तथा कैसा है वह शुक्ल ध्यान, जो ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान का फल इत्यादि प्रयोजनों के विकल्पा से शून्य है तथा अपने आत्मीक स्वरूप में निश्चल स्थिति रूप है सर्व कर्मों के नाश होने पर केवल ज्ञानी भगवान शुद्ध निश्चय नय करके अपने निज स्वरूप की स्वाभाविक महिमा में लीन हैं तौ भी व्यवहार नय करके वे भगवान अर्ध क्षण में अर्थात् एक समय में लोक के अग्रभाग तनुवात वलय में जा विराजते हैं। यह गति स्वभाव से ही होती है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहाँ तक गमन होता है। टीकाकार कहते है–षट् कायके क्रम में फसे हुये प्राणियों के लक्षण से सिद्धों का लक्षण अलग है, इसलिये वे सिद्ध परमेष्ठी ऊर्ध्व गमन करते हैं और सदाशिव (कल्याण) रूप मोक्ष स्वरूप में निश्चल तिष्ठते हैं। बंध के छेद हो जाने से श्री सिद्ध भगवान अपनी अतुल महिमा में विराजमान रहते हैं उस समय देव और विद्याधर प्रत्यक्ष रूप से उनकी स्तुति नहीं कर सकते। वे देवों के देव प्रसिद्ध सिद्ध भगवान व्यवहार नय से लोक के अग्रभाग में विराजते है परन्तु निश्चय नय से अपने आत्म स्वरूप में ही अविचल रूप से तिष्ठते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव रूप पांच प्रकार ससार से मुक्त पचमगति धारी तथा पाँच प्रकार संसार से छुड़ाने के कारण ऐसे सिद्धों को मैं पांच प्रकार ससार से मुक्ति पाने के लिये वंदना करता हूं।

कारणतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्—

जाइजरमरणरहियं परमं कम्मठ्ठवज्जियं सुद्धं।
णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं ॥१७६॥

जातिजरामरणरहितं परमं कर्माष्टवर्जितं शुद्धं ।
ज्ञानादिचतुःस्वभावं अक्षयमविनाशमच्छेद्यं: ॥१७६॥

निसर्गतः संसृतेरभावाज्जातिजरामरणरहितं परमं पारिणामिकभावेन परमस्वभावत्वात् परमं त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपत्वात् कर्म्माष्टकवर्जितं द्रव्यभावकर्मरहितत्वाच्छुद्धं सहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजचिच्छक्तिमयत्वात् ज्ञानादिचतुःस्वभावं सादिसनिधममूर्तेन्द्रियात्मकविजातीयविभावव्यजनपर्य्यायवीत - त्वादक्षयं प्रशस्ताप्रशस्तगतिहेतुभूतपुण्यपापकर्मद्वन्द्वाभावादविनाशं वधवंधच्छेदयोग्यमूर्तिमुक्तत्वादच्छेद्यमिति ।

अविचलितमखंडज्ञानमद्वन्द्वमिष्टं
निखिलदुरितदुर्गव्रातदावाग्निरूपं ।
भज भजसि जिनोत्थ दिव्यशर्मामृत त्वं
सकलविमलबोधस्ते भवत्येव तस्मात् ॥

आगे कारणतत्त्व का स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जन्म, जरा, मरण से रहित, उत्कृष्ट, अष्ट कर्मों से दूरवर्ती, शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य्य चार स्वभावधारी, क्षयरहित, विनाशविना तथा छेदरहित, जो तत्त्व है वही कारण परमात्मा है ।

विशेषार्थ—स्वभाव से ही जिसके संसार में भ्रमण का अभाव है इसलिये वह तत्त्व जन्म जरा मरण से रहित है । अपने उत्कृष्ट पारिणामिक भाव को रखने के कारण परम स्वभावमई होने से परम (महान) है, तीनों कालों में उपाधि रहित है स्वभाव जिसका ऐसा होने से आठों कर्मों से रहित है तथा द्रव्य कर्म और भाव कर्मों से रहित है इस कारण शुद्ध है । स्वाभाविक

ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक चैतन्य शक्ति को धारण करने के कारण वह तत्त्व ज्ञानादि चार स्वभावरूप है। आदि सहित और अन्त सहित मूर्तीक इन्द्रियमई विजातीय विभाव व्यंजन पर्य्याय अर्थात नर नारकादि पर्यायों के अभाव से वह तत्त्व क्षय रहित है, शुभ अशुभ गतियों में प्राप्त होने के लिये कारणभूत जो पुण्य और पाप कर्म्म इन दोनों के अभाव से वह तत्त्व विनाश रहित है, तथा बध, बध और छेदने योग्य मूर्ति के अभाव से वह तत्त्व अच्छेद्य है। ऐसा वह कारण तत्त्व अर्थात परमात्मा है। टीकाकार कहते हैं—हे भव्य जीव ! तू जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रगट जो दिव्य सुख रूपी अमृत उसको ही वारबार भज। भावार्थ—परम तत्त्व का मनन कर। कैसा है यह अमृतमई तत्त्व जो अचल है, अखड ज्ञानमई है, द्वैतता से रहित है, प्रिय है, तथा समस्त पाप रूपी कलों के समूहों को जलाने के लिये अग्नि के समान है। इसी से तुझे परम निर्मल केवल ज्ञान का लाभ होवेगा।

अत्रापि निरुपाधिस्वरूपलक्षणपरमात्मतत्त्वमुक्तं —

अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंवं ॥१७७॥

अव्याबाधमतीन्द्रियमनुपमं पुण्यपापनिर्म्मुक्तम्।
पुनरागमनविरहितं नित्यमविचलमनालंबम् ॥१७७॥

अखिलदुरघवीरवैरिवरूथिनीसम्भ्रमागोचरसहजज्ञानस्वर्गनि-लयत्वादव्याबाधं सर्वात्मप्रदेशभरितचिदानन्दमयत्वादतीन्द्रियं त्रिषु तत्त्वेषु विशिष्टत्वादनौपम्यं संसृतिपुरन्ध्रिकासंभोगसंभवसु-खदुःखाभावात् पुण्यपापनिर्मुक्तं पुनरागमनहेतुभूतप्रशस्ताप्रशस्त मोहरागद्वेषाभावात्पुनरागमनविरहितं नित्यमरणतद्भवमरण-

कारणकलेवरसंबन्धाभावान्नित्यं निजगुणपर्यायप्रच्यवनाभावाद-
चलं परद्रव्यावलम्बनाभावादनालम्बमिति ।

तथा चोक्तम् श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः—

आ संसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः ।
सुप्ता यस्मिन्नयपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ॥
एते संतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः ।
शुद्धः शुद्ध. स्वरसभरितः स्थायिभावत्वमेति ॥

तथाहि—

भावाः पंच भवन्ति येषु सततं भावः परः पचमः ।
स्थायी संसृतिनाशकारणमयं सम्यग्दृशां गोचरः ॥
तं मुक्त्वाखिलरागरोषनिकरं बुध्वा पुनर्बुद्धिमान ।
एको भाति कलौ युगे मुनिपतिः पापाटवीपावकः ।

फिर भी निरुपाधि अर्थात् उपाधिरहित है स्वरूप जिसका ऐसे लक्षण के धारी परमात्म तत्त्व का स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—वह परमात्म तत्त्व अव्याबाध अर्थात् बाधा रहित है, अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियों की जहाँ गम्य नही है, अनुपम अर्थात् उपमा रहित है, पुण्य और पाप से दूर है। पुनः संसार में आगमन से रहित है, नित्य है अविचल है तथा आलम्बरहित है।

विशेषार्थ—सम्पूर्ण पाप रूपी वीर वैरियों की जो सेना उनके भ्रमण से अगोचर ऐसे स्वाभाविक ज्ञान रूपी किले में विराजमान होने के कारण वह शुद्ध आत्मीक तत्त्व अव्याबाध है उसे कोई बाधा नही दे सकता। सर्व आत्मा के प्रदेशो में जिसके चिद् और आनन्द भरा हुआ है इस कारण अतीन्द्रिय है। तीनों

तत्त्वों में अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनों में वह श्रेष्ठ है इससे अनुपम है। संसार रूपी स्त्री के संभोग में उत्पन्न जो सुख और दुःख उनके अभाव से जो पुण्य और पाप से रहित है। संसार में बार बार जन्म लेने के कारण जो शुभ अशुभ मोह राग द्वेष आदि भाव हैं उनके अभाव से जो पुनरागमन से रहित है। नित्य मरण अर्थात श्वासाच्छास द्वारा मरण अथवा आयु कर्म के निषेको का निजरा रूप मरण तथा तद्भव मरण अर्थात उस भव को छोड़ कर अन्य भव में जाना इन दोनों प्रकार के मरणों का कारण जो कलेवर अर्थात शरीर उसके सम्बन्ध के अभाव से जो नित्य है। अपने आत्मीक गुणों से न छूटने के कारण अचल है। तथा परद्रव्यों के आलम्बन के न होने से जो निरालम्ब है। ऐसा ही श्री अमृत चन्द्र सूरी ने कहा है—अनादि काल से इस संसार में यह रागी अध जीव प्रत्येक अवस्था में नित्य उन्मत्त होकर जिस पद में सो रहे हैं अर्थात अपने स्वरूप से गाफिल हैं वह अपद है। पद नहीं है, ऐसा जानना चाहिये। जो सत पुरुष हैं वे उसी पद को ग्रहण करते हैं जहाँ चैतन्य धातु अत्यन्त शुद्ध अपने आत्मीक रस से भरी हुई निश्चलपने को प्राप्त हो रही है। टीकाकार कहते हैं—जिस संसार में सदा ही औदयिक आदि पाँच प्रकार भाव हुआ करते हैं ऐसे सर्वथा राग और द्वेष के समूह रूप संसार को त्याग करके अर्थात ससार से वैराग्य भाव धार करके जो कोई बुद्धिमान मुनि है वह उस उत्कृष्ट पचम पारिणामिक भाव को समझता है जो भाव सदा रहने वाला, ससार के नाश का कारण तथा सम्यग्दृष्टियो के अनुभव गोचर है तथा वही एक मुनिपति इस पंचम काल म पापबना को दग्ध करने के लिये अग्नि समान आचरण करता हुआ शोभा को पाता है।

इह हि सांसारिकविकारनिकायाभावान्निर्वाणं भवतीत्युक्तं-

णवि दुःक्खं णवि सुक्खं णवि पीडा णेवाविज्जदे वाहा ।
णवि मरणं णवि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥१७८॥

न च दुःखं न च सौख्य न च पीड़ा नैव विद्यते बाधा ।
न च मरणं न च जननं तत्रैव च भवति निर्वाणं ॥१७८॥

निरुपरागरत्नत्रयात्मकपरमात्मनः सनतान्तर्मुखाकारपरमाध्यात्मस्वरूपनिरतस्य तस्य वाशुभपरिणतेरभावान्न चाशुभंकर्म अशुभकर्माभावान्न दुःखं शुभपरिणतेरभावान्न शुभकर्म शुभकर्माभावान्न खलु संसारसुख पीड़ायोग्ययातनाशरीराभावान्न पीड़ा असातावेदनीयकर्माभावान्नैव विद्यते बाधा पंचविधनोकर्माभावान्न मरणं पंचविधनोकर्महेतुभूतकर्मपुद्गलस्वीकाराभावान्न जननं एवं लक्षणलक्षिताक्षूणविक्षेपणविनिर्मुक्तपरमतत्त्वस्य सदा निर्वाणं भवतीति। भवभवसुखदुःखं विद्यते नैव बाधा जननमरणपीड़ा नास्ति यस्येह नित्यम्। तमहमभिनमामि स्तौमि सभावयामिस्मरसुखविमुखस्सन् भक्तिसौख्याय नित्य ।

आत्माराधनया हीनः सापराध इति स्मृतः ।
अहमात्मानमानन्दमदिर नौमि नित्यशः ॥

आगे कहते हैं कि संसार सम्बन्धी सब विकारो के समूहों को दूर करने ही से निर्वाण प्राप्त होता है—

सामान्यार्थ—जहाँ न तो कोई दुःख है न सुख है न पीड़ा है और न कोई बाधाये हैं न जहाँ मरण है न जन्म है वहीं निर्वाण होता है ।

विशेषार्थ—राग द्वेष रहित रत्नत्रय स्वरूप परमात्मा नित्य अंतरंग सन्मुख रहकर परम अध्यात्म स्वरूप में तन्मय रहता है

ऐसे परमात्मा के अशुभ परिणति नही है। इस कारण अशुभ कर्म्म का बंध नहीं है। अशुभ कर्म्म बध के अभाव से उसके उस कर्म्म का फल स्वरूप कोई दुःख नही है। तथा शुभ परिणामों के अभाव से उसके शुभ कर्म्म का बध नहीं है। शुभ कर्म्म बंध के न रहते हुये उसका फलस्वरूप संसारीक सुख नहीं है। पीड़ा उठने योग्य वेदना स्वरूप पुद्गलमई शरीर के अभाव से उसे कोई पीड़ा नही है। असाता वेदनी कम के नाश होने के कारण उसे कोई बाधा (आपत्ति) नही है। आहारक, वेक्रियक, औदारिक, भाषा और मन वर्गणा ऐसे पांच प्रकार कर्मों के अभाव से जिसके मरण नही है। तथा इस पाच प्रकार कर्म्म का कारणभूत द्रव्य कर्म्म रूपी पुद्गलों के ग्रहण के अभाव होने से उसके जन्म नही है। ऐसे लक्षणा से लक्षित अखड विक्षेप रहित परम तत्त्व स्वरूप को ही सदा निर्वाण है। टोकाकार कहते हैं—जिसके सदा ही ससारीक सुख दुःख नही है, न जिसके काई बाधा है, न जन्म है, न मरण है, न पीड़ा है उसी ही आत्म तत्त्व का मैं यहाँ नित्य कामदेव के सुख से विमुख होकर मुक्ति के सुख के लिये नमस्कार करता हू, उसी की स्तुति करता हूं तथा उसी को भावना भाता हूं। जो जीव आत्मा की आराधना से रहित है, वह अपराधी है, ऐसा आगम में कथित है। मै नित्य ही आनन्द के मन्दिर आत्मा को नमस्कार करता हूं।

परमनिर्वाणयोग्यपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत—

णवि इंदिय उवसग्गा णिव मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होई णिव्वाणं ॥१७९॥

नापि इन्द्रियाः उपसर्गाः नापि मोहो विस्मयो न निद्रा च।
न च तृष्णा नेव क्षुधा तत्रैव भवति निर्वाण ॥१७९॥

अखंडैकप्रदेशज्ञानस्वरूपत्वात स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राभिधानपंचेन्द्रियव्यापाराः । देवमानवतिर्यगचेतनोपसर्गाश्च न भवन्ति क्षायिकज्ञानयथाख्यातचारित्रमयत्वान्न दर्शनचारित्रभेदविभिन्नमोहनीयद्वितयमपि बाह्यप्रपंचविमुखत्वान्न विस्मयः नित्योन्मीलितशुद्धज्ञानस्वरूपत्वान्न निद्रा असातावेदनीयकर्मनिर्मूलनान्न क्षुधा तृषा च तत्र परमब्रह्मणि नित्य ब्रह्म भवतीति ।

तथा चोक्तममृतशीतौ—

ज्वरजननजराणां वेदना यत्र नास्ति
परिभवति न मृत्युर्नागतिर्नो गतिर्वा ।
तदतिविशदचित्ते लभ्यते नोऽपि तत्त्वं
गुणगुरुगुरुपादाम्भोजसेवाप्रसादात् ।।

तथाहि—

यस्मिन् ब्रह्मण्यनुपमगुणालंकृते निर्विकल्पेऽ
क्षानामुच्चैर्विविधविषम वतन चैव किंचित् ।
नैवान्यैर्वा भविगुणगुणाः संसृतेर्मूलभूता—
स्तस्मिन्नित्यं निजसुखमय भाति निर्वाणमेक ।।

फिर भी परम निर्वाण के योग्य जो परम तत्त्व उसी का स्वरूप कहते हैं—

सामान्यार्थ—जहाँ न तो इन्द्रियां हैं, न उपसग हैं, न कुछ मोह है, न आश्चर्य है, न निद्रा है, न तृष्णा है और न क्षुधा है वहीं निर्वाण है ।

विशेषार्थ—वह तत्त्व अखंड एक अपने प्रदेशों में ज्ञान स्वरूप है, इस कारण उसके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ऐसे पाच इन्द्रियों का व्यापार नही है । देव, मनुष्य, तिर्यंच,

चेतन अचेतन कृत उपसर्ग जिसको नहीं है। क्षायिक ज्ञान तथा यथाख्यात चारित्रमई होने से उसके न तो दर्शन मोहनी है, न चारित्र मोहनी है दोनों प्रकार का मोह नही है। बाह्य प्रपंच जाल से जो रहित है इस कारण उसके कोई विस्मय अर्थात् आश्चर्य्य नही है। नित्य प्रकाशमान है शुद्ध ज्ञान स्वरूप जिसका ऐसा होने से उसके कोई निद्रा नही है, तथा असाता वेदनी कर्म को जड़ मूल से नाश करने के कारण उसके न तो क्षुधा है, न तृषा है तिस ही परमब्रह्म स्वरूप में नित्य ब्रह्म रहता है। ऐसा ही अमृतशीति में कहा है, कि जहां ज्वर जन्म तथा जरा की वेदना नही होती न जहां मरण है, न वहां से आना है, न कही जाना है, ऐसा तत्त्व सो गुणों में श्रेष्ठ ऐसे श्री गुरु के चरण कमलों की सेवा के प्रसाद से हम लोगों को भी अपने अत्यन्त निर्मल चित्त के भीतर प्राप्त होता है। टीकाकार कहते हैं— जिस विकल्परहित, तथा अनुपम गुणों से अलंकृत ब्रह्म स्वरूप में इन्द्रियों का नाना प्रकार का भयानक रूप से वर्तना कुछ भी नही है, न जहां संसार के मूल कारण ऐसे अन्य सांसारिक गुणों के समूह हैं ऐसे ही परमात्म स्वरूप में आत्मीक सुख स्वरूप अविनाशी एक रूप ऐसा जो निर्वाण सो प्रकाश मान होता है।

सकलकर्मविनिर्मुक्तशुभाशुभशुद्धध्यानध्येयविकल्पविनिर्मुक्त-परमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्—

णवि कम्मं णोकम्मं णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
णवि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१८०॥

नापि कर्म्म नोकर्म्म नापि चिन्ता नैवार्तरौद्रे।
नापि धर्म्मशुक्लध्याने तत्रैव च भवति निर्वाणं ॥१८०॥

सदा निरंजनत्वान्न द्रव्यकर्माष्टक त्रिकालनिरुपाधिस्वरूप-त्वान्न नोकर्मपंचक च अमनस्कत्वान्न चिंता औदयिकादिविभाव-

भावानामभावादार्तरौद्रध्याने न स्तः धर्मशुक्लध्यानयोग्यचरम-शरोराभावात्तद्वितयमपि न भवति तत्रैव च महानद इति ।

निर्वाणस्थे प्रहतदुरितध्वान्तसंघे विशुद्धे
कर्म्माशेषं न च न च पुनर्ध्यानिक तच्चतुष्क ।
तस्मिन्सिद्धे भवति हि परं ब्रह्मणि ज्ञानपुंजे
काचिन्मुक्तिर्भवति वचसां मानसानां च दूरम् ।

आगे सर्व कर्मों से रहित, शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ध्यान और ध्येय इत्यादि विकल्पों से मुक्त जो परम तत्त्व उसके स्वरूप को कहते हैं—

सामान्यार्थ—न तो जहाँ द्रव्य कर्म्म हैं, न जहाँ नो कर्म्म हैं, न चिंता है, न आर्त्त और रौद्रध्यान हैं तथा वहां धर्म्म और शुक्ल ध्यान भी नहीं है। ऐसी अवस्था में ही निर्वाण होता है।

विशेषार्थ - वह परम तत्त्व सदा निरजन अर्थात् कर्म रूपी अजन से रहित है इस कारण उसके आठों ही जाति के द्रव्य कर्म्म नहीं हैं, तीनों कालों में उपाधि रहित स्वरूप का धारी है इससे उसके पांचों नो कर्म्म नहीं हैं, मन रहित है इस कारण उसके कोई चिता नही है, औदयिक आदि विभाव भावो का जहाँ अभाव है इससे वहा आर्त्त और रौद्र ध्यान नही है। धर्म और शुक्ल ध्यान करने के योग्य अन्तिम औदारिक शरीर के न रहने से उसके न धर्म्म ध्यान है, न शुक्ल ध्यान है। ऐसे ही परम तत्त्व में निर्वाण का महा आनन्द वास करता है। टीका-कार कहते हैं—सर्व कर्म्मों के अन्धकार के समूह का जहां नाश हो गया है ऐसे निर्वाण के स्वरूप में कोई भी कर्म्म नहीं है, न वहां चारों ध्यानों में से कोई ध्यान है। जब परब्रह्म स्वरूप ज्ञान का पुंज सिद्ध रूप हो जाता है तब कोई ऐसी मुक्ति की

अवस्था हो जाती है जो वचन और मन से दूर है अर्थात न तो जिसे कह सकते और न मन से विचार सकते हैं।

भगवतः सिद्धस्य स्वभावगुणस्वरूपाख्यानमेतत्—

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥१८१॥

विद्यते केवलज्ञानं केवलसौख्यं च केवलं वीर्यं।
केवलदृष्टिरमूर्तत्वमस्तित्वं सप्रदेशत्वं ॥१८१॥

निरवशेषेणान्तर्मुखाकारस्वात्माश्रयनिश्चयपरमशुक्लध्यान-बलेन ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्म्मविलये जाते ततो भगवतः सिद्ध-परमेष्ठिनः केवलज्ञानकेवलदर्शनकेवलवीर्यकेवलसौख्यामूर्तत्वा-स्तित्वसप्रदेशत्वादिस्वभावगुणा भवंति इति।

बन्धच्छेदाद्भगवति पुनर्नित्यशुद्धे प्रसिद्धे
तस्मिन्सिद्धे भवति नितरां केवलज्ञानमेतत्।
दृष्टिः साक्षादखिलविषया सौख्यमात्यंतिकं च
शक्त्याद्यन्यद्गुणमणिगणं शुद्धशुद्धश्च नित्य॥

आगे कहते है कि श्री सिद्ध भगवान के स्वभाव गुण होते हैं:—

सामान्यार्थ—उस सिद्ध भगवान के केवल ज्ञान केवल सुख, केवल वीर्य्य, केवल दर्शन, अमूर्तीकपना, अस्तित्वभाव तथा सप्रदेशीपना अर्थात् असख्यात प्रदेशीपना है।

विशेषार्थ—सम्पूर्णपने अंतरंग के सन्मुख होकर अपने ही आत्मा का है आश्रय जिसमें ऐसे निश्चय परम शुक्लध्यान के बल से जिसके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नाश हो जाते हैं उस भगवान सिद्ध परमेष्ठो के केवल ज्ञान केवल दर्शन केवल वीर्य्य केवल सुख अमूर्तत्त्व अस्तित्त्व और सप्रदेशत्त्व आदि सर्व स्वा-

भाविक गुण होते हैं। टीकाकार कहते हैं—कर्मबंध के छेद होने से श्री भगवान अरहंत परम शुद्ध होकर प्रसिद्ध सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे सिद्ध भगवान में निरन्तर ये केवल ज्ञान केवल दर्शन होते हैं जो साक्षात् सर्व पदार्थों को जानने देखने वाले हैं तथा उसी सिद्ध परमेष्ठो को अत्यन्त तथा अन्तरहित सुख होता है तथा अनंत वीर्य्य आदि अनेक गुणरूपी मणियों के समूह परम शुद्ध अवस्था में नित्य होते हैं।

सिद्धासिद्धयोरेकत्वप्रतिपादनपरायणमेतत्—

णिव्वाणमेव सिद्धा सिद्धा णिव्वाणमिदि समुदिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥१८२॥

निर्व्वाणमेव सिद्धा सिद्धा निर्वाणमिति समुद्दिष्टाः।
कर्मविमुक्त आत्मा गच्छति लोकाग्रपर्य्यन्तम् ॥१८२॥

निर्वाणशब्दोऽत्र द्विष्ठो भवति। कथमिति चेत्। निर्वाणमेव सिद्धा इति वचनात् सिद्धा सिद्धक्षेत्रे तिष्ठतीति व्यवहारः। निश्चयतो भगवतः स्वस्वरूपे तिष्ठति ततो हेतोर्निर्वाणमेव सिद्धाः सिद्धा निर्वाणम् इत्यनेन क्रमेण निर्वाणशब्दसिद्धशब्दयोरेकत्व सफल जात। अपि च यः कश्चिदासन्नभव्यजीवः परमगुरुप्रसादासादितपरमभावभावनया सकलकर्मकलकपकविमुक्तः सन् परमात्मा भूत्वा लोकाग्रर्य्यतं गच्छतीति।

अथ जिनमतमुक्ते मुक्तजीवस्य भेद
क्कचिदपि न च विघ्नो युक्तितश्चागमाच्च।
यदि पुनरिह भव्यः कर्म्मनिर्मूल्य सव
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ॥

आगे सिद्ध प्रसिद्ध जीव में एकता दिखाते हैं :—

सामान्यार्थ—निर्वाण ही सिद्ध हैं तथा सिद्ध जीव ही निर्वाण

है ऐसा कहा गया है । जो आत्मा कर्म्मों से रहित होता है वह लोक के अग्रभाग तक जाता है ।

विशेषार्थ—निर्वाण शब्द के यहां दो अर्थ हैं । सिद्ध भगवान व्यवहारनय से सिद्ध क्षेत्र में तिष्ठते हैं परन्तु निश्चय से भगवान अपने स्वरूप में ही ठहरते हैं । इस कारण जो निर्वाणरूप है वही सिद्ध है और जो सिद्ध है वह निर्वाण रूप है । इस क्रम से निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्द की एकता सार्थक हुई । तथा जो कोई अत्यन्त निकट भव्य जीव है सा परम गुरु को कृपा से प्राप्त जो परमभाव उसको बार-बार भावना करने से सर्व कर्म्म कलक की कोचड़ मे मुक्त होकर परमात्मा होता हुआ लोक के अग्रपर्यंता चला जाता है । और इस प्रकार निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध हो जाता हे टोकाकार कहते हैं कि जिनमत में मुक्ति जीव में कोई भी भेद नहीं प्रगट है, न कोई भेद युक्ति से मालूम होता है और न आगम से । तथा यही संसारी भव्य जोव जब सर्व कर्मो का नाश कर देगा तब परम मुक्तिरूपी सुन्दर कामनी का मोहने वाला हो जावेगा ।

अत्र सिद्धक्षेत्रादुपरि जीवपुद्गलाना गमन निषिद्धं:—

जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी ।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छंति ॥१८३॥

जीवानां पुद्गलाना गमन जानीहि यावद्धर्मास्तिक: ।
धर्म्मास्तिकायाभावे तस्मात्परतो न गच्छंति ॥१८३॥

जीवानां स्वभावक्रियासिद्धिगमन विभावक्रियाषट्कापक्रम-युक्तत्वं पुद्गलानां स्वभावक्रियापरमाणुगति: विभावक्रियाद्व्याणु-कादिस्कन्धगति: अतोऽमीषां त्रिलोकशिखरादुपरिगतिक्रिया नास्ति परतो गतिहेतोर्धर्म्मास्तिकायाभावात् । यथा जलाभावे

मत्स्यानां गतिक्रिया नास्ति अत एव यावद्धर्मास्तिकायस्तिष्ठति तत्क्षेत्रपर्यन्तं स्वभावविभावगतिक्रियापरिणतानां जीवपुद्गलानां गतिरिति ।

त्रिलोकशिखिरादूर्ध्वं जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
नैवास्ति गमन नित्यं गतिहेतोरभावतः ॥

आगे कहते हैं कि सिद्ध क्षेत्र के ऊपर जीव और पुद्गलों का गमन नहीं होता :—

सामान्यार्थ —जहाँ तक धर्मास्तिकाय द्रव्य है वहाँ तक जीव और पुद्गलों का गमन होता है ऐसा मैं जानता हूं। धर्मास्तिकाय के अभाव से उसके ऊपर कोई नही जा सकता है।

विशेषार्थ — जीवों की स्वाभाविक क्रिया सिद्ध लोक में गमन है तथा विभाव क्रिया छः काय के प्राणियों के क्रम करके सहित है अर्थात् छः कायों में भ्रमण करना है। पुद्गलों में स्वभाव से गति करने वाला एक परमाणु होता है तथा दो परमाणुओं के स्कध इनको आदि ले जो पुद्गल के स्कध है वे विभाव क्रियावान हैं, इस कारण इन सर्व की गमन क्रिया त्रिलोक शिखर के ऊपर नही है। क्योंकि आगे गमन का कारण जो धर्मास्तिकाय सो नही है, जैसे जल के अभाव में मछली की चलन रूप क्रिया नही हो सकती। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है उसी क्षेत्र तक ही चेतन व अचेतन जड़ पुद्गल गमन करेंगे इसके आगे नहीं। टीकाकार कहते हैं कि जीव और पुद्गल दोनों की गतिक्रिया तीन लोक के ऊपर नही हो सकती है क्योंकि आगे गमन में सहायक जो धर्मद्रव्य उसका अभाव हो गया है।

शास्त्रादौ गृहीतस्य नियमशब्दस्य तत्फलस्य चोपसंहारोयं:—

णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावरविरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥१८४॥

नियमो नियमस्य फलं निर्दिष्टं प्रवचनस्य भक्त्या ।
पूर्वापरविरोधो यद्यपनीय पूरयंतु समयज्ञाः ॥१८४॥

नियमस्तावच्छुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादितः । तत्फल परमनिर्वाणमिति प्रतिपादित न कवित्वदर्पात् प्रवचन-भक्त्या प्रतिपादितमेतत् सर्वमिति यावत् । यद्यपि पूर्वापरदोषो विद्यते चेत्तद्दोषात्मकं लुप्त्वा परमकवीश्वरास्समयविदश्चोत्तम पद कुर्वान्त्विति ।

जयति नियमसारस्तत्फलं चोत्तमानां
हृदयसरसि जाते निर्वृतेः कारणत्वात् ।
प्रवचनकृतभक्त्या सूत्रकृद्भिः कृतो यः
स खलु निखिलभव्यश्रेणिनिर्वाणमार्गः ॥

आगे इस शास्त्र की आदि में जो नियम शब्द कहा गया है उसके फल को संक्षेप में कहते हैं—

सामान्यार्थ—नियम और नियम का फल प्रवचन की भक्ति करके कहे गये हैं । यदि कही पूर्वा पर विरोध भासे तो आगम के ज्ञाता उसका दूर कर उसकी पूर्ति करें ।

विशेषार्थ—शुद्ध रत्न त्रय का व्याख्यान जो किया गया उसके द्वारा नियम शब्द को समझाया है । तथा इस नियम का फल परम निर्वाण है सो भी कहा गया । यह सर्व कथन कवि-पने के अभिमान से नहीं किया गया है किन्तु मात्र जिन वाणी की भक्ति करके ही किया गया है । यदि कोई इस नियमसार में पूर्वापर विरोधी दोष हो तो दोष को हटाकर आगम के ज्ञाता परम कवीश्वर उसको उत्तम पद रूप करें । टीकाकार कहते है कि यह नियमसार और उसका फल ये दोनों जयवन्त होहु । उत्तम सम्यग्दृष्टी पुरुषों के हृदय रूपी सरोवर में जब नियमसार का जन्म होता है तब यह शुद्ध रत्नत्रय रूप नियमसार जब जीव

को निर्वृत्ति देने के लिये कारण होता है। यह नियमसार ग्रंथ सूत्रकार श्री कुंदकुंदाचार्य्य स्वामी के द्वारा मात्र प्रवचन भक्ति के ही विचार से गूंथा गया है। यह ग्रंथ सम्पूर्ण भव्य जीवों के लिये निर्वाण प्राप्त करने का एक निश्चय मार्ग है।

इह हि भव्यस्य शिष्यणमुक्तं—

ईसाभावेण पुणो केई णिदंति सुंदरं मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चा अभत्ति मा कुणह जिणमग्गे ॥१८५॥

ईर्षाभावेन पुनः केचिन् निन्दन्ति सुन्दरं मार्ग्गं।
तेषां वचनं श्रुत्वा अभक्ति मा कुरुध्व जिनमार्ग्गे ॥१८५॥

केचन मदबुद्धयः त्रिकालनिरावरणनित्यानंदैकलक्षणनिर्विकल्पकनिजकारणपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानरूप-शुद्धरत्नत्रयप्रतिपक्षमिथ्यात्वकर्मोदयसामर्थ्येन मिथ्यादर्शनज्ञान-चारित्रपरायणः ईर्ष्याभावेन समत्सरपरिणामेन सुन्दरं मार्गं सर्वज्ञवीतरागस्य मार्ग्गं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं भेदोपचाररत्न-त्रयात्मकमभेदोपचाररत्नत्रयात्मकं केचिन्निन्दन्ति तेषां स्वरूप-विकलानां कुहेतुदृष्टान्तसमन्वित कुतर्कवचन श्रुत्वा ह्यभक्ति जिनेश्वरप्रणीतशुद्धरत्नत्रयमार्ग्गे हे भव्य मा कुरुष्व पुनर्भक्तिः कर्तव्येति।

देहव्यूहमहीजराजिभयदे दुःखावलीश्वापदे
विश्वासंति करालकालदहने शुष्यन्महीपावने।
नानादुर्णयमार्ग्गदुर्ग्गमतमे दृङ्मोहिनां देहिनां
जैन दर्शनमेकमेव शरणं जन्माटवीसंकटे ॥

तथाहि—

लोकालोकनिकेतनं वपुरदो ज्ञानं च यस्य प्रभो-
. स्तं शङ्खध्वनिक पिताखिलभुव श्रीनेमितीर्थेश्वर।

स्तोतुं के भुवनत्रयेऽपि मनुजाः शक्ताः सुरा वा पुनः
जैने तत्स्तवनैककारणमहं भक्तिर्जगेत्युत्सुका ॥

आगे भव्य जीव को शिक्षा करते हैं—

सामान्यार्थ—तथा कोई जीव सुन्दर मार्ग को भी ईर्ष्या भाव से निन्दते हैं उनके वचनों को सुनकर हे शिष्य तू जिन मार्ग में अभक्ति न कर ।

विशेषार्थ—जो कोई मंद बुद्धी हैं तथा जो तीनों कालों में आवरण रहित नित्य एक आनन्दमई लक्षणधारो विकल्परहित निज कारण परमात्मा के सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और चारित्र रूप जो शुद्ध रत्नत्रय उसका विरोधी जो मिथ्यात्व कर्म्म उसके उदय के सामर्थ्य करके मिथ्या दर्शन ज्ञान चारित्र में लीन हैं ऐसे मूर्ख जीव ईर्षा भाव करके सर्वज्ञ वीतराग के पाप क्रियाओं से रहित सुन्दर मार्ग की भी निन्दा करते हैं । कैसा है सुन्दर मार्ग, जो भेदोपचार अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप तथा अभेदोपचार अर्थात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है । अपने स्वरूप से रहित उन मिथ्यादृष्टी जीवों के खोटे हेतु और खोटे दृष्टान्तों से युक्त कुतर्क के वचनों को सुनकर जिनेश्वर भगवान कथित शुद्ध रत्नत्रय के मार्ग में हे भव्य ! अपनी अरुचि मतकर, किन्तु अपनी भक्ति ही करनी योग्य है । टीकाकार कहते हैं—जहाँ देह रूपी युद्ध स्थल जरा रूपी युद्ध से अति भयानक हैं, दुःखो के समूह रूपी हिसक पशु जहां विचर रहे हैं, समस्त जगत को नाश करने वाली भयानक काल रूपी अग्नि जहां जल रही है, बुद्धि रूपी जल जहा सूख गया है, नाना प्रकार की खोटी नय तिन करके भयानक अन्धकार जहाँ फैल रहा है, ऐसे संसार रूप सकटमई जगल में मिथ्यादृष्टी जीवों के लिये एक जैन दर्शन ही शरण रूप है अर्थात् रक्षा करने वाला है । जिस प्रभु का ज्ञान

रूपी शरीर लोक अलोक को अपने में रखने वाला है, व जिसने गृहस्थावस्था में नाक से संख बजाकर समस्त भुवन को कम्पायमान किया है अथवा दिव्यध्वनि से तीनों लोक को क्षोभित किया है ऐसे श्री नेमिनाथ तीर्थकर की स्तुति करने के लिये तीन भुवन में ऐसे कौन देव या मनुष्य हैं जो समर्थ हो सकते हैं अर्थात कोई नहीं हैं, तौ भी इस जगत में उनकी स्तुति किये जाने का कारण मात्र एक उनके विषे परम उत्साह रूपमई भक्ति ही है। मैं ऐसा मानता हूं।

शास्त्रनामधेयकथनद्वारेण शास्त्रोपसंहारोपन्यासोयं—

णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
बुद्धा जिणोवदेसं पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥१८६॥

निजभावनानिमित्त मया कृत नियमसारनामश्रुत।
बुद्धा जिनोपदेश पूर्वापरदोषनिर्मुक्तम् ॥१८६॥

अत्राचार्याः प्रारब्धस्यान्तगमत्वात् नितरा कृतार्थता परिप्राप्य निजभावनानिमित्तमशुभवचनार्थ नियमसाराभिधानं श्रुतं परमाध्यात्मशास्त्रशतकुशलेन मया कृत। कि कृत्वा पूर्व। ज्ञात्वा अवचकपरमगुरुप्रसादेन बुद्धेर्वाति। क। जिनोपदेश वीतरागसर्वज्ञमुखारविन्दविनिर्गतपरमोपदेश त पुनः कि विशिष्टं। पूर्वापरदोषनिर्मुक्तं पूर्वापरदोषहेतुभूतसकलमोहराग द्वेषभावादाप्तमुखविनिर्गत्वान्निर्दोषमिति।

किञ्च अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियमशब्दससूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अचितपञ्चास्तिकायपरिसनाथस्य सचितपचाचारप्रपञ्चस्य षट्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भीकृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानप्रायश्चित्तपरमालोचना — नियमव्युत्सर्ग-

प्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकांडाडंबरसमृद्धस्य उपयोगत्रयविशाल-स्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य द्विविधं किल तात्पर्य्यं सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्य्यं चेति । सूत्र तात्पर्य्यं पद्योपन्यासेन प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितं शास्त्रतात्पर्य्यं त्विदमुपदर्शनेन भागवत शास्त्रमिदं निर्वाणसुन्दरीसमुद्भवपरमवीतरागात्मकनिर्व्याबाधनिरन्तरान - ङ्गपरमानन्दप्रदं निरतिशयनित्यशुद्धनिरंजननिजकारणपरमात्म-भावनाकारण समस्तनयनिचयाचितं पंचमगतिहेतुभूत पंचेन्द्रिय-प्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिद ये खलु निश्चयव्यव-हारनययोरविरोधेन जानन्ति ते खलु महान समस्ताध्यात्मशा-स्त्रहृदयवेदिन: परमानदवीतरागसुखाभिलाषिण:परित्यक्तबाह्या-भ्यन्तरश्चतुर्विशतिविग्रहप्रपचा: त्रिकालनिरुपाधिस्वरूपनिरंजननि-जकारणपरमात्मस्वरूपश्रद्धानपरिज्ञानाचरणात्मकभेदोपचारक - ल्पनानिरपेक्षस्वस्थरत्नत्रयपरायणा: सन्त: शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्तीति ।

सुकविजनपयोजानन्दिमित्रेण शस्त
ललितपदनिकायैर्निर्म्मित शास्त्रमेतत् ।
निजमनसि विधत्ते यो विशुद्धात्मकाक्षी
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूप: ।।१।।

पद्मप्रभाभिधाध्वनीसिन्धुनाथसमुद्भवा ।
उपन्यासोर्म्मिमालेय स्थेयाच्चेतसि सा सतां ।।२।।

अस्मिन् लक्षणशास्त्रस्य विरुद्ध पदमस्ति चेत् ।
लुप्त्वा तत्कवयो भद्रा: कुर्वन्तु पदमुत्तम ।।३।।

यावत्सदागतिपथे रुचिरे विरेजे
तारागणै: परिवृत सकलेन्दुबिबं ।
तात्पर्यवृत्तिरपह स्ततहेयवृत्ति:
स्थेयात्सता विपुलचेतसि तावदेव ।।४।।

इतिमुकविजनपयोजमित्र-पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्ति शुद्धोपयोगाधिकारो द्वादशः श्रुतस्कन्धः ॥१२॥

समाप्ता चेय तात्पर्यवृत्तिः

आगे शास्त्र का नाम कहते हैं, शास्त्र के कथन को संकोचते हैं :—

सामान्यार्थ—मैंने यह नियमसार ग्रन्थ अपने आत्मभावना के निमित्त ही श्री जिनेन्द्र के पूर्वापर दोष रहित उपदेश को समझ करके किया है।

विशेषार्थ—यहाँ पर आचार्य्य श्री कुंदकुंदाचार्य्य अपने आरंभ किये हुए ग्रंथ को पूर्ण करके अत्यन्त कृतार्थ अपने को मानते हुए कहते हैं कि मैंने इस शास्त्र को जिसका नाम नियमसार है केवल आत्मभावना के लिये तथा अशुभ भावों को हटाने के लिये रचा है। कैसे हैं आचार्य्य, जो सैकड़ों परम उत्कृष्ट अध्यात्मशास्त्रों के ज्ञान में कुशल है। सो यह ग्रंथ जो मैंने (कुंदकुदाचार्य ने) रचा है सो कैसे रचा है, पूर्व ही वंचकता अर्थात् माया शल्यरहित परम गुरु के प्रसाद से भले प्रकार इस जिनोपदेश को जान करके रचा है। जो सर्वज्ञ वीतराग के मुख कमल से प्रगट हुआ परम कल्याणकारी परमोपदेश

है । तथा पूर्वापर दोष से रहित है तथा पूर्वापर दोष के कारण समस्त मोह राग द्वेष भावों से रहित जो आप्त अरहंत देव उनके मुख कमल से प्रगट होने के कारण निर्दोष है। इस नियमसार ग्रंथ का तात्पर्य्य दो प्रकार है । कैसा है यह नियमसार ग्रथ जो सर्व आगम के सार्थक अर्थ को कहने में समर्थ है, नियम शब्द से विशुद्ध मोक्षमार्ग का दिखलाने वाला है, जिसमें पचास्तिकाय का स्वरूप कहा है, दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीर्य्य ऐसे पांच आचार का प्रपच इसमें संचय किया है, जीव पुग्दलादि छः द्रव्यों के स्वरूप के कथन से विचित्रित है, सात तत्त्व नौ पदार्थों का स्वरूप जिसमें वर्णन किया गया है, जो औदयिक आदि पाचो भावो के प्रपच को प्रतिपादन करने वाला है, निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, परम आलोचना, नियम व्युत्सर्ग आदि सकल क्रियाकांड के आडम्बर के वर्णन से समृद्ध है । शुभाशुभ शुद्ध ऐसे तीन महान उपयोग को वरणन करने में परमेश्वर है । ऐसे इस नियमसार ग्रथ का अभिप्राय दो भेदरूप है—एक सूत्रतात्पर्य्य दूसरा शास्त्र तात्पर्य । सूत्र का तात्पर्य्य तो पद्य की रचना के साथ साथ प्रत्येक सूत्र में कहा गया है । शास्त्र का तात्पर्य्य यह है कि यह शास्त्र भोगने योग्य है—अनुभव करने योग्य है । निर्वाणरूपी सुन्दरी अर्थात् स्त्री उससे उत्पन्न जो परम वीतरागमई अव्याबाध निरतर अतीन्द्रिय परम आनन्द उसको देने वाला है । तथा यह शास्त्र श्रेष्ठ, अतिशय रूप नित्य शुद्ध, तथा निरजन निज कारण परमात्मा उसकी भावना करने का कारण है, समस्त नयों के समूहो मे शोभित है, पंचमगति जो मोक्ष उसका कारणरूप है । तथा पचेंद्रिय के फैलाव से रहित शरीर मात्र परिग्रह के धारी आचार्य द्वारा रचा गया है । जो कोई भव्यजीव निश्चय और

व्यवहार नयों को विरोध रहित जानते हैं वे महान पुरुष समस्त अध्यात्म शास्त्र को हृदय से जानने वाले परमानद वीतराग सुख के अभिलाषो होते हैं तथा वे बाह्य और अभ्यंतर चौबीस प्रकार के परिग्रह के प्रपंच का त्याग देते हैं और तीनों कालों में उपाधि रहित स्वरूप में लीन ऐसा जो निज कारण परमात्मस्वरूप उसके श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप भेदोपचार कल्पना को अपेक्षारहित अपने आत्मा में लीन ऐसा जो अभेद रत्नत्रय उसमें लीन होते हैं। वे ही शब्दब्रह्म का फलरूप जो अविनाशी सुख उसके भोगने वाले हो जाते हैं। टीकाकार कहते हैं—इस शास्त्र की वृत्ति सुकविजनरूपी कमल उनके प्रफुल्लित करने को सूर्य्य ऐसे पद्मप्रभु द्वारा सुन्दर पद के समूहों स रची गई है। जो कोई विशुद्ध आत्मा का इच्छुक इस तात्पर्य्य वृत्ति को अपने मन में धारन करता है वह मोक्षरूपी सुन्दर स्त्री का वर होता है। पद्मप्रभ नामधारी चंद्रमा से प्रगट किरणों की माला के समान जो यह शास्त्र की रचना सो सदा ही चित्त में स्थिर रहे। इस वृत्ति में जो कोई पद लक्षणशास्त्र से विरुद्ध हो तो उसको लोप करके भद्र कविजन उत्तमपद स्थापित करें। टीकाकार का जो अंतिम श्लोक है उसका भावार्थ—ऐसा है कि जबतक यह चद्रमा अपने तारागणों के साथ सदा अपने सुन्दर गमन के मार्ग में शोभे तबतक यह तात्पर्य्य वृत्तिनाम टीका सज्जन पुरुषों के निर्मल चित्त में सदा अपना निवास स्थित रक्खै। कैसो है वृत्ति, जिसने त्यागने योग्य समस्त संसारीक वृत्तियों को उपहास की है।

इस प्रकार सुकविजन कमलों के लिये सूर्य्य के समान पचेन्द्रिय के प्रसार से रहित शरीरमात्र परिग्रह के धारी श्री पद्मप्रभमलधारि देव द्वारा रचित श्री नियमसार प्राकृतग्रंथ की

तात्पर्य्यवृत्ति नाम को व्याख्या में शुद्धोपयोग नाम का बारहवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ।

दोहा—श्री जिन वीर सु मोक्ष तिथि, प्रातः रवि दिनमान ।
चौविस से अड़तिस शुरू, भाषा पूरण ज्ञान ।।

नव लक्ष्मी प्रेस, दरीबा कलां, दिल्ली-६